BAPS (N) 101

राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

(Theory of Political Science)

राजनीति विज्ञान विभाग
समाज विज्ञान विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

Hello Haldwani

हैलो हल्द्वानी

91.2 FM

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

तीनपानी बाईपास मार्ग

ट्रांसपोर्ट नगर के पीछे, हल्द्वानी 263139

नैनीताल, उत्तराखण्ड

Email: info@uou.ac.in; Website: http://uou.ac.in

पाठयक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे **निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	**प्रो0 एम0एम0 सेमवाल** राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय,गढवाल
प्रो0 दुर्गाकान्त चौधरी राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय, ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश	**प्रो0 सतीश कुमार** राजनीति विज्ञान विभाग इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
डॉ0 सूर्य भान सिंह **(विशेष आमंत्रित सदस्य)** एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान इलाहबाद विश्वविद्यालय	**डॉ घनश्याम जोशी** असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**आरूशी** असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं सम्पादन

डॉ0 सूर्य भान सिंह एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान इलाहबाद विश्वविद्यालय	**डॉ. लता जोशी** असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**	**इकाई लेखक**	**इकाई संख्या**

डॉ. पुष्पेश पण्डे ,असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान ,राजकीय महाविद्यालय रानीखेत **डॉ.मनीष मिश्रा,** एसोसिएट प्रोफेसर ,राजनीति विज्ञान ,राजकीय महाविद्यालय गोपेश्वर	**1-3**
डॉ. जया पांडेय, एसोसिएट प्रोफेसर ,राजनीति विज्ञान ,राजकीय महाविद्यालय रानीखेत ,अल्मोड़ा	**4-5**
अनुराग रत्न, एसोसिएट प्रोफेसर , राजनीति विज्ञान विभाग, जी. पी. जी. कॉलेज, सुल्तानपुर	**6-8**
डॉ. संतोष कुमार सिंह, राजनीति विज्ञान, चोरी बेलहा महाविद्यालय, तरवा आजमगढ़	**9-10**
आरूशी, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल.	**2,11,13**
डॉ. लता जोशी, असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल.	**11-12,13,14**
डॉ0 सूर्य भान सिंह एवं डॉ. लता जोशी, एसोसिएट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान, इलाहबाद विश्वविद्यालय	**14**

आई.एस.बी.एन. ---------- ISBN :978-93-84433-79-6

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष -2012

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी, नैनीताल 263139

Printed at :----------

संस्करण :2020, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए विना मिमियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित प्रतियां

अनुक्रम

राजनीति विज्ञान के सिद्धांत **बी.ए.पी.एस. (एन) 101**

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठसंख्या
इकाई 1	राजनीति विज्ञान का परिचय	1-37
इकाई 2	राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धांत , राजनीतिक दर्शन	38-52
इकाई 3	राजनीति विज्ञान के अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध – दर्शनशास्त्र ,समाजशास्त्र, इतिहास , मनोविज्ञान	53-71
इकाई 4	राजनीति विज्ञान के अध्ययन के उपागम – दार्शनिक, ऐतिहासिक, क़ानूनी, संस्थात्मक, प्रयोगात्मक, पर्वेक्षात्मक, तुलनात्मक	72-83
इकाई 5	प्रमुख आधुनिक उपागम मार्क्सवादी उपागम, समाजशास्त्रीय उपागम, व्यवहारवादी उपागम, उत्तरव्यव्हारवादी उपागम	84-95
इकाई 6	राज्य का अर्थ प्रकृति एवं तत्व	96-107
इकाई 7	राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत – दैवीय, सामाजिक समझौता, विकासवादी एवं मार्क्सवादी सिद्धांत	108-130
इकाई 8	राज्य के कार्य के सिद्धांत – उदारवादी, मार्क्सवादी , समाजवादी, गांधीवादी, फासीवादी	131-147
इकाई 9	संप्रभुता की संकल्पना	148-165
इकाई 10	की संप्रभुता, बहुलवादी सिध्दांत	166-193
इकाई 11	स्वतंत्रता, समानता, अधिकार	194-222
इकाई 12	शक्ति, सत्ता और वैधता	123-237
इकाई 13	कानून की अवधारणाएं, न्याय की संकल्पना	238-264
इकाई 14	लोकतंत्र की अवधारणा और अभिजन का सिद्धांत	265-285

इकाई 1- राजनीति का परिचय

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 राजनीति क्या है?
1.3 राजनीति विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृति
1.4 राजनीति विज्ञान की प्रकृति- विज्ञान अथवा कला
1.5 राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता
1.6 परम्परावादी राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ
1.7 आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ
1.8 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर
1.9 सारांश
1.10 शब्दावली
1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

इकसवी सदी, वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, तकनीकीकरण, संचार क्रान्ति जैसे तमगों से सुशोभित की जा रही है। राजनीति विज्ञान जो ईसा पूर्व चौथी सदी में पैदा हुआ निरन्तर गतिशील रहकर आज की इकसवीं शदी में भी बना है। इस लम्बे सफर में राजनीति विज्ञान का स्वरूप, अध्ययन क्षेत्र, अध्ययन के उपकरण, उपागम, सिद्धान्त समयानुसार अनुकूलन करते हुए परिवर्तित व परिवर्धित होते रहे, जो अनुकूलन नहीं कर पाये मृत हो गये। राजनीति विज्ञान चूँकि मानवीय-सामाजिक विज्ञान है, अतः गतिशीलता व परिवर्तन उसकी प्रकृति के अंग हैं।

इस पुस्तक की पहली इकाई में में हम राजनीती क्या है? राजनीति विज्ञान के उद्भव, अर्थ, प्रकृति और क्षेत्र का अध्ययन करेंगे .

1.1 उद्देश्यः

इस इकाई का उद्देश्य राजनीति क्या है? राजनीति विज्ञान की परम्परागत और आधुनिक परिदृश्य में व्याख्या करना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

1 राजनीति मूलतः क्या है ? समझ सकेंगे।

2 राजनीति विज्ञान की परम्परागत और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र को समझ सकेंगे।

3 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताओं का विवरण दे सकेंगे।

4 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान के खास पहलुओं को पहचार कर, दोनों के मध्य अन्तर कर सकेंगे और

5 राजनीति विज्ञान के महत्व का जायजा ले सकेंगे।

1.2 राजनीति: एक परिचय

राजनीति संघर्षों या विवादों का शांतिपूर्ण समाधान है। राजनीति हमेशा बहस, चर्चा-परिचर्चा, मतदान, सहमति-असहमति से संबद्ध रही है। राजनीति में स्पष्ट रूप से हिंसा का अभाव होता है। यदि हिंसा के साथ राजनीति हो रही हो तो उसे सभ्यतापूर्ण आचरण नहीं माना जाता। राजनीति ऐसे विषयों से निकट है जो विवादास्पद होते हैं या जिस पर व्यक्ति अथवा समूहों के विभिन्न मत या हित जुड़े होते हैं। इन हितों अथवा मतों का अन्तर विवाद को जन्म देता है। विवादों को शांतिपूर्ण एवं हिंसारहित तरीकों से सुलझाना राजनीति का मूलभूत लक्षण है। कुल मिलाकर, राजनीति दुष्ट 'मानवीय प्रवृत्तियों' पर रोक लगाने की एक सभ्य प्रक्रिया है जो अनिवार्य एवं वांछनीय है। राजनीति सार्वजनिक विषयों से संबंधित गतिविधि है। निजी मामलों को तभी राजनीतिक माना जाता है जब वे नियम या कानून के परिक्षेत्र में लाये जाएं। राजनीति सभी समाजों एवं सभी कालों में सम्पन्न होने वाली गतिविधि है। संभव है कि भिन्न-भिन्न समाजों एवं कालखण्डों में राजनीति के प्रति आम लोगों की रूचि में पर्याप्त अंतर हो सकता है तथापि कुछ मात्रा में यह सभी समाज एवं काल में सम्पन्न होती रहती है। इस प्रकार राजनीति एक अनिवार्य गतिविधि है जिसके बिना कोई समाज अस्तित्व में नहीं बना रह सकता। राजनीति किसी समाज द्वारा किए जाने वाले सामूहिक निर्णय की ओर भी संकेत करती है। कोई भी समाज हर समय कुछ विषयों पर निर्णय करने की प्रक्रिया से गुजर रहा होता है। राजनीति वृहद एवं व्यापक रूप में, सामूहिक कल्याण एवं प्रगति का सामूहिक प्रयास है। यद्यपि यह संभव है कि सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में कुछ व्यक्ति या व्यक्ति समूह पूरे समाज की ओर से सही निर्णय करने का दावा करें। वर्तमान में राजनीति को एक गतिविधि, कार्यकलाप अथवा प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा रहा है, जो राज्य, शासन, इसे चलाने वाले तथा राज्य, शासन के निर्णय निर्माण से प्रभावित होने वाली जनता से जुड़ी हुई है। राज्य एक मानवीय संस्था है, जो मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी जगत में नहीं पायी जाती। अतः राजनीति जो प्रायः राज्य की गतिविधियों से संबंधित है, एक शुद्ध रूप से मानवीय गतिविधि है।

राजनीति में हम ऐसी गतिविधियों, प्रक्रियाओं को सम्मिलित करते हैं जो निर्णय-निर्माण तथा नियम क्रियान्वयन से संबंधित है। हम कह सकते हैं कि हर मानवीय गतिविधि राजनीतिक नहीं होती। वह तभी राजनीति के परिक्षेत्र में आती है जब किसी विषय पर कानून बनाने तथा कानून लागू करने का प्रश्न उठ खड़ा हो। कानून निर्माण सार्वजनिक मानवीय गतिविधि है जो समाज के विभिन्न समूहों के

हितों में सामन्जस्य का प्रयास करती है। यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इस कारण राजनीति, समाज में विभिन्न समूहों के हितों में सामंजस्य की प्रक्रिया भी है। अमेरिकी सिद्धांत शास्त्री डेविड ईस्टन ने राजनीति को मूल्यों का अधिकारिक आवंटन कहा है। अर्थात् राजनीति समाज में यह तय करती है कि व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को उनका अधिकार कानूनी रूप में मिलना चाहिए। राजनीति गतिविधि के रूप में देखने पर यह राजनीतिक व्यक्तित्व की गतिविधि से भी संबद्ध हो जाती है। हमारे जनप्रतिनिधि नीति निर्माता जो कुछ करते हैं या कहते हैं, राजनीतिक माना जाता है। राजनीतिज्ञ का व्यवसाय राजनीति होता है जिस कारण राजनेताओं की अधिकांश गतिविधि राजनीति के क्षेत्र में आ जाती है।

राजनीति को सत्ता से जोड़ने की प्रवृत्ति प्रबल रही है। सत्ता शक्ति का वैध एवं सर्वस्वीकार्य रूप होती है। प्रायः शासन एवं सत्ता को पर्याय के रूप में प्रयोग कर लिया जाता है। मानव में शक्ति की लालसा सदैव बनी रहती है। ब्रिटिश राजनीति दार्शनिक थॉमस हॉब्स (1588-1279) ने शक्ति प्राप्ति को मानव स्वभाव का मुख्य गुण माना है। मानव शक्ति प्राप्त कर सुरक्षित रह सकता है और अपने सुख में वृद्धि करता है। हॉब्स के अनुसार मानव की शक्ति की लालसा का समापन उसके जीवन के साथ ही होता है। शक्ति को प्रायः कुछ विद्वानों ने राजनीति का केन्द्रीय तत्व माना है। केटलिन ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान कह कर संबोधित किया है। शक्ति राज्य की एक आधारभूत आवश्यकता है। राज्य अन्य समुदायों से इस बात पर भिन्नता रखता है कि उसके पास वैध दाण्डिक शक्ति है। यह शक्ति कानून के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक होती है। शक्ति के अभाव में कानून, नैतिक नियम या उपदेश मात्र बने रह सकते हैं। राज्य की दण्ड शक्ति अथवा सत्ता का प्रयोग सदैव जनता के हित में ही होता हो, यह आवश्यक नहीं। सत्ता संचालित करने वाले प्रायः इसे अपनी निजी आवश्यकताओं एवं हितों के लिए प्रयोग करने लगते हैं। इस प्रकार के शासनतंत्र को जनता क्रांति के माध्यम से उखाड़ फेंकती है। वर्तमान लोकतांत्रिक शासनों में सत्ता पर किसी व्यक्ति या समूह का पुश्तैनी अधिकार नहीं हो सकता है। सभी लोग सामूहिक रूप से सत्ता में भागीदारी करते हैं। इस प्रकार की भागीदारी मतदान के माध्यम से निश्चित समय के लिए जनप्रतिनिधि चुन कर होती है। इस प्रकार राजनीति, सत्ता या राज्य संचालन को प्राप्त करने की प्रक्रिया से भी जुड़ी हुई है। कुल मिलाकर, वर्तमान राजनीति 'सत्ता में भागीदारी' करने से संबंधित है।

राजनीति को प्रायः शासन की कला से संबंधित भी मान लिया जाता है। भारतीय विचारक कौटिल्य की पुस्तक 'अर्थशास्त्र' तथा इटली के निकोलो मैकियावेली (1469-1527) की पुस्तक 'द प्रिंस' का प्रतिपाद्य विषय शासक एवं शासन की कला है। शासन की आवश्यकता समाज में विभिन्न व्यक्ति एवं समूहों के हितों को शांतिपूर्ण ढंग से सुरक्षित रखने के लिए होती है। किन्तु समाज में कुछ लोगों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा एवं कुछ समूहों के प्रभुत्व के साथ शासन संचालन करना सरल कार्य नहीं होता। अतः शासन करना एक 'कला' बन जाता है और जो इस कला में पारंगत हो जाते हैं, श्रेष्ठ शासक कहलाते हैं। बुरे शासक षडयंत्रों अथवा क्रांति द्वारा हटा दिये जाते हैं। अच्छे शासन एवं शासकों की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि समाज में कानून एवं व्यवस्था के साथ सामूहिक कल्याण निश्चित हो सके। इस कारण शासक एवं शासन सार्वजनिक विकाय होने के कारण स्वतः राजनीति के केन्द्रीय बिन्दु हैं।

राजनीति एक मूल्यबद्ध धारणा है। राजनीति को हम चाहे सर्वोच्च कार्यकलाप माने जैसा कि प्राचीन एथेंसवासी मानते थे या हम जनसाधारण में प्रचलित इस मान्यता पर विश्वास करें कि राजनीति 'दुष्टों का अंतिम आश्रय स्थल' है। जिस प्रकार का विरोधाभास हमारे मन में पैदा होता है उसी प्रकार राजनीति को 'कैसा होना चाहिए' और 'यह कैसी है' को लेकर भी मतातंर पाये जाते हैं। राजनीति ऐसी सार्वजनिक कल्याण की चर्चा-परिचर्चा से भी संबद्ध है जो एक ऐसे समाज के निर्माण की कल्पना करती है जो शांतिपूर्ण हो और जनता हर प्रकार से सुखी हो, उनमें किसी प्रकार का विवाद ना हो। क्या ऐसा समाज बना पाना संभव है? ऐसा समाज कैसे प्राप्त किया जा सकेगा? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास भी राजनीति करती है। प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' ऐसे राजनीतिक समाज का कल्पना चित्र खींचती है जो स्वयं में एक सर्वगुणसम्पन्न समाज होगा। महात्मा गाँधी की कल्पना 'रामराज्य' की है जहां परस्पर विरोधी हितों में भी प्रेमपूर्ण सामंजस्य होगा। प्लेटो या गांधी द्वारा कल्पित समाज एक मूल्य है, जिसमें ऐसे समाज की इच्छा की जाती है जो वर्तमान में नहीं है। किन्तु यथार्थवादी मानते हैं कि ऐसा समाज एक कल्पना मात्र है क्योंकि मानवीय स्वभाव अस्थिर, स्वार्थी एवं दुष्टता से भरा है। अतः ऐसा मानने वाले विचारक एक मजबूत शासन एवं योग्य निरंकुश शासक की आवश्यकता पर बल देते हैं। हम अपने व्यवहारिक अनुभवों से पाते हैं कि इन दोनों नजरियों के बीच 'राजनीति क्या है' की बहस स्थित है। इतिहास और वर्तमान में इस प्रकार की छोटी-बड़ी चर्चाएं राजनीति का एक मुख्य भाग हैं। अतः राजनीति सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक तौर पर तब तक जारी रहेगी, जब तक एक सर्वगुण

सम्पन्न समाज की स्थापना नहीं हो जाती है। इस प्रकार राजनीति एक शाश्वत् गतिविधि है जिसका लक्ष्य निरंतर आगे की ओर बढ़ते हुए उच्चतर समाज की रचना करना है।

राजनीति एक विषय या अनुशासन के रूप में ज्ञान की एक शाखा है। राजनीति अध्ययन का एक विषय है जो राज्य, संविधान, शासन और सरकार से केन्द्रीय रूप से संबंधित है। राज्य की उतपत्ति, राज्य के कार्य तथा राज्य के व्यक्ति के साथ संबंध आदि विषय के रूप में राजनीति से प्राचीन समय से ही जुड़े हुए हैं। परम्परागत राजनीति अध्ययन की सीमाएं राज्य, संविधान, सरकार तक है। वर्तमान में यह राजनीतिक व्यक्तित्व की गतिविधि एवं कार्यकलाप के अध्ययन 'मतदान व्यवहार' तक विस्तृत हो चुकी है। राजनीति, विषय के रूप में व्यवहारिक राजनीति तथा सैद्धांतिक राजनीति का अध्ययन है। प्राचीन यूनानी राजनीति विज्ञानी अरस्तू ने अध्ययन के रूप में राजनीति को 'सर्वोच्च विज्ञान' कह कर संबोधित किया था। अरस्तू की रचना 'पॉलिटिक्स' तत्कालीन नगर राज्यों में सार्वजनिक मानवीय क्रियाकलापों का अध्ययन करती है।

राजनीति का एक पक्ष और भी है जिसे सबसे आसानी से समझा जा सकता है। राजनीति एक व्यवसाय भी है। वर्तमान समय में जिस प्रकार शिक्षक, अभियंता, डॉक्टर या वकील किसी पेशे की ओर संकेत करते हैं उसी तरह स्वयं को राजनीतिज्ञ, या जनप्रतिनिधि कहने वाले व्यक्ति पर्याप्त संख्या में मौजूद हैं। ये राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में भाग लेते हैं और राजनीतिक पद एवं सत्ता प्राप्त करते हैं। इसे प्राप्त करने के क्रम में राजनीतिक प्रतियोगी ऐसे वायदे करते हैं, जो कभी पूरे नहीं किए जा सकते और ऐसी तिकड़मबाजी करते हैं कि राजनीति वास्तव में 'दुष्टों का अंतिम आश्रय स्थल' प्रतीत होती है। सामान्य जनता, ईमानदार लोग इसी कारण 'राजनीति' शब्द को नकारात्मक अर्थों में प्रकट करते हैं और घोषणा करते हैं कि वे राजनीति से घृणा करते हैं। सामान्यतः अच्छे जिम्मेदार व्यक्तियों से आशा की जाती है कि वे स्वयं को राजनीति से ऊपर रखेंगे और राजनीति नहीं करेंगे। फिर भी, राजनीति के प्रति किसी भी प्रकार की नकारात्मक राय कुछ तथ्यों एवं व्यक्तियों के आधार पर बना लेना भयंकर भूल होगी। साथ ही, जो लोग घोषणा करते हैं कि वे राजनीति में रूचि नहीं लेते, उन्हें ध्यान में रखना होगा कि इसका अर्थ यह नहीं कि राजनीति भी ऐसे व्यक्तियों में रूचि नहीं लेगी।

राजनीति एक व्यवसाय के रूप में निश्चित ही जटिल एवं कठिन कार्य है। राजनीति सार्वजनिक गतिविधि होने के कारण राजनीतिक पदाधिकारियों पर जनता की पैनी नजर होती है। जनता इन पदाधिकारियों के प्रति आलोचनात्मक रूख रखती है और साथ में इनसे जनता के कल्याण की आशा भी रखती है।

ऐसी स्थिति में एक अच्छे डॉक्टर, वकील या शिक्षक की तरह अच्छा राजनीतिज्ञ होना आवश्यक हो जाता है। इसी कारण जर्मन नेता बिस्मार्क ने कहा- "राजनीति संभाव्य की कला (Art of Possibilities) है।" मैकियावेली ने अपने आदर्श राजनीतिज्ञ में विरोधी गुणों का समावेश माना है। अर्थात राजनीतिज्ञ में शेर और लोमड़ी के गुण होने चाहिए। उसे साधु सा दिखना चाहिए लेकिन होना चाहिए प्रथम श्रेणी का धूर्त। प्लेटो ने राजनीति को विशेषज्ञता का कार्य माना है जो हर किसी के वश की बात नहीं है। वह एक ऐसे दार्शनिक राजा की कल्पना करता है जो राजनीति का किसी कलाकार या विशेषज्ञ की तरह निपुणता से निवर्हन करे। अतः राजनीति एक व्यवसाय भी है जो वर्तमान में प्रतिनिधि शासन व्यवस्था के कारण आवश्यक एवं अनिवार्य है। सामान्य जनता अपने आर्थिक व अन्य कार्यकलापों में व्यस्तता तथा वर्तमान शासन की जटिलता के कारण सत्ता में सीधी भागीदारी न करते हुए अपने लिए जनप्रतिनिधियों का चुनाव करती है और यही प्रतिनिधि जनता की ओर से नीति निर्माण एवं नीति कार्यान्वयन में भाग लेते हैं। नीति निर्माण प्रक्रिया में भाग लेने वाले यही जनप्रतिनिधि राजनीति को एक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं।

राजनीति करने के समान ही राजनीति को 'पढ़ाना' भी एक व्यवसाय है जो शिक्षण गतिविधि के अंतर्गत आता है। राजनीति करने तथा राजनीति पढ़ाने में सहज अंतर किया जा सकता है। व्यवहारिक राजनीति करना एवं राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष को पढ़ाना दो भिन्न बाते हैं। राजनीतिज्ञ का लक्षित वर्ग वे मतदाता होते हैं जिनके मत से वह राजनीतिक पद प्राप्त कर सकता है जबकि 'राजनीति' के शिक्षक का उद्देश्य राजनीति के छात्रों को अधिकतम सम्भव सैद्धांतिक ज्ञान देना है।

1.3 राजनीति विज्ञान परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृतिः

राजनीति विज्ञान की प्राचीनता एक सर्वमान्य तथ्य है, जिसने प्राचीन काल में प्लेटो व अरस्तू से लेकर वर्तमान युग तक उल्लेखनीय प्रगति की है। यूनानियों को इसके जनक होने का श्रेय जाता है क्योंकि यूनानियों ने ही सबसे पहले राजनीतिक प्रश्नों को आलोचनात्मक और तर्क सम्मत चिन्तन की दृष्टि से देखा। शब्द राजनीति विज्ञान अंग्रेजी भाषा के शब्द Political Science का हिन्दी रूपान्तरण है, जिसकी उत्पति यूनानी भाषा के शब्द पोलिस से हुई है। यूनानी भाषा में पोलिस का अभिप्राय है नगर-राज्य । 500 ई0पू0 पहले यूनानी लोग इन्हीं छोटे-छोटे नगर राज्यों में ही रहते थे और इन नगर-राज्यों की स्थिति एवं राजनीतिक गतिविधियों से सम्बन्धित ज्ञान को 'राजनीति' (पोलिटिक्स) कहा जाता था। स्पष्ट है कि 'राजनीति' उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव संगठन। राजनीति ने सदा ही सामाजिक जीवन में निर्णायक भूमिका निभाई है। वर्तमान समय में यह भूमिका लगातार बढ़ती ही जा रही है। इस

प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन यूनानी चिंतन में व्यक्ति, राज्य (नगर-राज्य) और समाज एक दूसरे के पर्याय थे। राजनीति, समाज और व्यक्ति को निर्देशित करने वाले आदर्श थे- सदगुण, अच्छाई, भलाई और ज्ञान। यानि की राजनीति की यूनानी अवधारणा मुख्य रूप से नैतिक, दार्शनिक, आदर्शवादी, प्रत्ययवादी और आदर्शमूलक रही।

कालान्तर में राजनीति विज्ञान के जीवन काल में कुछ महत्वपूर्ण पड़ाव आये जहॉ पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जैसे यूनानी काल की समाप्ति के बाद रोमन काल, इन दो कालों के राजनीतिक चिन्तन में तात्विक अन्तर देखने को मिलते हैं। प्राचीन यूनानियों की दार्शनिक अवधारणा से अलग प्राचीन रोमवासियों ने राजनीति की न्यायवादी या कानूनी व्याख्या दी। उनके लिए राजनीति एक ऐसी गतिविधि थी, जिसका सम्बन्ध 'साम्राज्य' से था। ज्ञातव्य है कि रोमन काल में शनेः-शनेः नगर राज्य लुप्त होने लगे थे और उनके स्थान पर 'साम्राज्यों' की स्थापना प्रारम्भ हो रही थी, जिसका नियमन, कतिपय सामान्य और तय नियमों द्वारा होता था। रोम में राजनीतिक सिद्धान्त में बराबर यह प्रयास रहता था कि नागरिक कानून को प्राकृतिक कानून के आदर्श के पास लाया जाए। इस प्रकार पाश्चात्य जगत के राजनीतिक चिंतन/सिद्धान्तों में दार्शनिक और कानूनी दोनों ही प्रकार की अवधारणा के दर्शन होते हैं।

इसी प्रकार मध्य काल (500 ई0 से 1400 ई0 तक) का राजनीति विज्ञान अथवा राजनीति, धर्म के चारों ओर बुनी गई। फलतः राजनीति की मध्ययुगीन संकल्पना (अवधारणा) सामन्तवादी युग में मूलतः धर्मशास्त्रीय आदेशात्मक और संकीर्ण थी क्योंकि राजनीतिक सत्ता स्वतंत्र नहीं थी, वह चर्च के अधीन थी और चर्च सर्वोच्च धार्मिक संगठन था।

किन्तु पुनर्जागरण व धर्मसुधार आन्दोलनों से आधुनिक युग की शुरूआत ने राजनीति विज्ञान को एक नयी आबो-हवा दी। राजनीति में धर्म निरपेक्षता का वातावरण, मानव चिन्तन, लौकिक चिन्तन, वैज्ञानिक सोच, तार्किक चिन्तन का जन्म हुआ। औद्योगिक क्रान्ति ने राजनीतिक चिन्तन में नयी धाराएँ जोड़ दी- व्यक्तिवाद, उदारवाद; किन्तु मार्क्सवादी चिन्तन ने पूँजीवाद का विरोध किया, नया चिन्तन सामने आया- समाजवाद, साम्यवाद। मार्क्सवादी चिन्तन ने दुनियॉ दो धड़ों में बॉट दी। कई चिन्तकों को लगा कि राजनीति विज्ञान ने ऐसा चिन्तन, दर्शन व सिद्धान्त मार्क्सवाद के रूप में ढूँढ लिया है जो तत्कालीन समस्याओं का एकमात्र समाधान है। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, लगभग 1903 ई0 में शिकागों विश्वविद्यालय (अमेरिका) के युवा राजनीतिक अध्येताओं ने एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन शुरू कर दिया। प्लेटो से लेकर वर्तमान 19वीं शदी के आखिरी वर्षों तक के राजनीतिक चिन्तन को नकार दिया। घोषणा की कि अभी तक राजनीति विज्ञान में जितना अध्ययन हुआ, उन्होंने जो तकनीकें अपनायी; सब व्यर्थ और अनुपयोगी हैं। दरअसल ये समय समाज विज्ञानों के जीवन का वह दौर था, जहॉ सारे सामाजिक विषय 'विज्ञान बनने की दौड़' में शामिल थे। ऐसे में शिकागों के राजनीतिक अध्यताओं

को लगा कि उनका विषय भी 'विज्ञान' बनाया जाये। परिणाम स्वरूप राजनीति विज्ञान में व्यवहारिकतावादी आन्दोलन का प्रवेश हुआ। यही वह परिवर्तन सीमा है जिससे पूर्व का राजनीति विज्ञान 'परम्परागत राजनीति विज्ञान' और जिसके बाद का राजनीति विज्ञान आधुनिक राजनीति विज्ञान कहलाता है। उल्लेखनीय है लम्बे समय तक राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक दर्शन समानार्थों शब्दों के रूप में प्रयुक्त किये जाते रहे। यद्यपि बाद में कई विद्वानों ने इनमें भेदक रेखा खींचने का सार्थक प्रयास किया।

एक विषय बरबस ध्यान खींचता है कि आज जब दुनियॉ 'ग्लोबल विलेज' का रूप ले चुकी है, इंटरनेट जैसी संचार तकनीक फैल चुकी है, ऐसे में राजनीति विज्ञान और विशेष रूप से आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों की क्या प्रासंगिकता है?

'आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त' विषय के अन्तर्गत प्रायः उन सिद्धान्तों का समावेश किया जाता है जिनकी रचना सन् 1903 ई0 के बाद हुई है। यह अत्यन्त व्यापक क्षेत्र है जिसे निश्चित सीमाओं में बॉध पाना कठिन है। व्यवहारिकतावादी आन्दोलन से लेकर वर्तमान में नारीवादी आन्दोलन तक सभी इसकी सीमा में समाये हुए हैं। जहॉ तक विषय की प्रासंगिकता का प्रश्न है इसमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त पूर्णतया प्रासंगिक हैं। यद्यपि यह सत्य है कि समाज विज्ञान होने के नाते इन सिद्धान्तों में उतनी निश्चितता व स्पष्टता नहीं है जितनी प्राकृतिक विज्ञानों के विषय में होती है।

यद्यपि व्यवहारिकतावाद की अपनी कुछ कमियॉ रही हैं किन्तु इसने राजनीति विज्ञान को निश्चित रूप से एक नयी दृष्टि प्रदान की। अब राजनीति में अध्ययन इकाई मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार बनाया गया। वस्तुतः मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार को जाने बगैर राजनीति के सम्बन्ध में लिए गये निर्णय सदैव असफल होगें। अतः इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है व्यवहारिकतावादी सिद्धान्त न केवल आज प्रासंगिक है बल्कि सदैव प्रासंगिक रहेगा।

इसी प्रकार यदि डेविड ईस्टन के व्यवस्था सिद्धान्त को लें तो यह 1950 के दशक, जब इसे ईस्टन ने प्रतिपादित किया, से अधिक आज प्रासंगिक नजर आता है। मूल्यों का सम्पूर्ण समाज के लिए आधिकारिक आबंटन होना आवश्यक है चूँकि आज अधिकांश राज्य लोकतांत्रिक रास्ते पर चल रहे हैं। आज यदि मूल्यों का आबंटन सम्पूर्ण समाज के लिए न होकर किसी वर्ग विशेष के लिए होता है, तो वहीं पर दंगें, हड़ताल, तालाबंदी, जलूस आदि देखने को मिलते हैं। समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए ऐसे राजनीतिक सिद्धान्तों की नितान्त आवश्यकता नजर आती है।

संचार क्रान्ति ने आज दुनियॉ को वैश्विक गॉव में बदल दिया है। ऐसे में संचार की भूमिका राजनीति विज्ञान में और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को कब, क्या और कैसे निर्णय लेने हैं, इसका निर्धारण पूरी व्यवस्था से प्राप्त सूचनाओं के अनुरूप होता है। सूचना तंत्र व्यवस्था में प्राण तत्व रक्त की भॉति है। सही सूचना, सही समय पर सही निर्णय लेने में सहायक होती है। आज आतंकवाद के बढ़ते नेटवर्क को तोड़ने के लिए सरकार को उससे अधिक बेहतर सूचना तंत्र बनाना होगा। चाहे मुद्दा आफेन्सिव हो या डिफेन्सिव, दोनों मामलों में सूचना तंत्र की महत्वपूर्ण भूमिका है। कार्ल डायच ने संचार सिद्धान्त की रचना करके न केवल राजनीति विज्ञान को बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज को एक महत्वपूर्ण देन प्रदान की है।

राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक भर्ती, राजनीतिक सहभागिता आदि अनेक ऐसे आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त हैं, जिनकी वर्तमान समाज को पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। चुनावी मामला हो या विदेश नीति का मामला या कोई अन्य ये सिद्धान्त मार्ग दर्शक की भूमिका निभाते हैं। आधुनिकीकरण व विकास के मापदण्डों पर कोई देश कैसे पहुॅचता है, यह जानकारी हमें यही सिद्धान्त देते हैं।

विचारधारा, आज एक महत्वपूर्ण विषय है जो आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों में शामिल किया जाता है। यह एक ऐसा विषय है जो प्राचीन काल से आज तक हर समय प्रासंगिक बना रहा है। विचारधारा, मानवीय समाज को जोड़ने, एक आदर्श स्थिति तक पहुॅचने का मार्ग, मानव की पूर्णता की दृटि की और इशारा करती है। व्यवहारिक दृष्टि से अपने उद्देश्यों को छिपाने का यह एक लबादा है। विश्व के सभी देश किसी न किसी विचारधारा से प्रेरित व अनुप्राणित हैं। चाहे वह मार्क्सवादी हो, फेबियनवादी, पूँजीवादी, साम्यवादी, व्यक्तिवादी, आदर्शवादी, उदारवादी, माओवादी, या गाँधीवादी या कोई अन्य जैसे फासीवादी, नाजीवादी। इससे नितांत स्पष्ट है 'विचारधारा' का अध्ययन किये बगैर राजनीतिक विज्ञान व स्वयं राजनीतिक व्यवस्थाऐं अपूर्ण ही रहेंगी। इधर 1960 के दशक से कुछ विद्वानों ने विचारधारा के अंत का बिगुल बजाया। डेनियल बेल यह स्पष्ट किया कि उत्तर आधुनिकीकरण काल में सभी राज्य आर्थिक विकास व भौतिकवाद की ओर भाग रहे हैं, चाहे वे किसी भी विचारधारा के क्यों न हों, ऐसे में विचारधारा का कोई महत्व नहीं रह जाता और ऐसा लगता है विचारधारा का अंत हो गया है। किन्तु डेनियल का यह विचार विद्वानों को स्वीकार्य नहीं हैं क्योंकि विश्व आज भी विचारधाराओं में बांटा है।

उपरोक्त कुछ उदाहरणों को प्रस्तुत करने का मन्तव्य केवल इतना है कि 'आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त' विषय आज की परिस्थितियों मे अधिक प्रासंगिक हो गया है। राजनीति विज्ञान 'शासन के संचालन' का दिशायंत्र होता है। समय-समय पर जिन सिद्धान्तों की आवश्यकता महसूस हुई, उन्हें गढ़ा

गया। 'आवश्यकता अविष्कार की जननी होती है', इस शाश्वत नियम से राजनीति विज्ञान भी बॅधा है और इसके परिणाम भी समय-समय पर सामने आये हैं चाहे वह राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र हो या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र हो।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, ऐसे विषयों से जुड़ा है, जो न केवल राजनीतिक अध्येताओं, शोधकर्ताओं व विद्यार्थियों के लिए लाभदायक हैं बल्कि आम जनता की रूचि के भी हैं, जैसे राजनीतिक भागीदारी, भर्ती, मतदान आदि आम जनता से जुड़े प्रश्न हैं।

फिर आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से भी प्रासंगिक हैं कि इनके उद्भव के बाद राजनीतिक विज्ञान को 'स्वायत्त विषय' के रूप में आवश्यक सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो गयी। प्रत्येक विषय की स्वायत्ता की यह माँग होती है कि उसके अपने उपकरण, तकनीके, पद्यतियॉ व सिद्धान्त हों, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों ने इन माँगों को पूरा किया है।

आज कोई भी विषय एकांगी रूप से मनुष्य का सांगोपांग अध्ययन नहीं कर सकता है। अतः राजनीति विज्ञान के नये परिप्रेक्ष्य में अंतः अनुशासनीय पद्वति पर जोर दिया गया। अंत अनुशासनात्मकता आधुनिकता का लक्षण है, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रासंगिकता की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

इधर दुनियॉ भर में विश्वविद्यालयों में जिस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्तों की रचना हेतु बैंच/विभाग स्थापित किये गये हैं, उनसे भी आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों की उपयोगिता स्पष्ट होती है।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, 'समस्या-समाधान' के फार्मूले पर आधारित है। यहॉ केवल 'आदर्श' की कल्पना नहीं की जाती बल्कि समाज में व्याप्त समस्याओं का समाधान ढूँढा जाता है। कोई भी अनुशासन जब 'समस्या-समाधान' के साथ जुड़ जाता है तो उसकी प्रासंगिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। आज आधुनिक राजनीति विज्ञान में न्याय, समानता, स्वतंत्रता, क्रान्ति जैसे विषयों पर चर्चा होती है। समस्या के कारण ढूढे जाते हैं, उनके परिणामों पर चर्चा होती है, फिर समाधान की तलाश शुरू होती है, तब कहीं राजनीतिक सिद्धान्त अस्तित्व में आता है, मुद्दा चाहे आरक्षण का हो, लिंगभेद का, नारी-पराश्रितता का या कोई अन्य, हमारे पास आज राजनीतिक सिद्धान्त है जो इन समस्याओं से निपटने के लिए दिशा निर्देशन करते हैं।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त व्यापक विषय है, जो अपने कलेवर में स्थानीय से अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश तक को समेटे हुए है। इस स्थिति में इसकी प्रासंगिकता पर प्रश्न उठाना, उचित प्रतीत नहीं होता है।

जैसा कि ऊपर के अध्ययन से आपको पता चला होगा कि प्राचीन यूनान में नगर-राज्यों का अध्ययन करने वाला विषय 'राजनीति' कहलाता था। कालान्तर में नगर-राज्य लुप्त हो गये और इनके स्थान पर रोमन काल में साम्राज्यों की स्थापना हुई। पुनः आधुनिक काल में राष्ट्रीय राज्यों की उत्पत्ति हुई। स्वाभाविक रूप से राज्य के इस विकसित और विस्तृत स्वरूप से सम्बन्धित विषय को राजनीति विज्ञान कहा जाने लगा। राज्य, कानून, प्रभुसत्ता और सम्बन्धित संस्थाएं राजनीति विज्ञान के प्रमुख विषय हो गए। बीसवीं शती के तीसरे दशक में अमेरिका में व्यवहारावाद के जन्म ने राजनीति विज्ञान के अनुभववादी और वैज्ञानिक शास्त्र की वकालत की और राजनीति में मूल्यों के बजाय तथ्यों की मॉग की। हांलाकि, दो दशकों बाद राजनीतिक विश्लेषण में मूल्यों की वापसी 'उत्तर-व्यवहारवाद' के रूप में हुई। इस प्रकार राजनीति विज्ञान उन सब बातों का सार है, जो विगत शताब्दियों में घटित हुई हैं। इसी कारण राजनीति विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र और प्रकृति के सम्बन्ध में विद्वानों की राय एक नहीं है। हमें राजनीति विज्ञान की विभिन्न परिभाषाएं मिलती हैं जिन्हें दो खास भागों में बॉट सकते हैं। हालॉकि कोई भी हिस्सा एक-दूसरे से अलग नहीं है।

1.3.1 राजनीति विज्ञान की परम्परागत परिभाषा:

परम्परागत दृष्टिकोण से दी गयी परिभाषाओं में विभिन्न पाश्चात्य विचारकों ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र राज्य व सरकार को माना गया है। इन विद्वानों की परिभाषाओं का अध्ययन निम्नांकित तीन रूपों में किया जा सकता है:-

1. राज्य के अध्ययन के रूप में

गार्नर के अनुसार- 'राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य से ही होता है।'

ब्लंटश्ली ने लिखा है, ''राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसका संबंध राज्य से है और जो यह समझाने का प्रयत्न करता है कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या हैं, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, उसकी किन विविध रूपों में अभिव्यक्ति होती है तथा उसका विकास कैसा हुआ है।''

गैरीज ने राजनीति विज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''राजनीति विज्ञान राज्य के उदभव, विकास उद्देश्य तथा राज्य की समस्त समस्याओं का उल्लेख करता है।''

जैम्स के अनुसार- ''राजनीति विज्ञान राज्य का विज्ञान है।''

डॉ0 जकारिया के शब्दों में- ''राजनीति विज्ञान व्यवस्थित रूप से उन आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करता है, जिनके अनुसार समष्टि रूप में राज्य को संगठित किया जाता है और प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है।''

2.सरकार के अध्ययन के रूप में

राजनीति विज्ञान के कुछ विचारकों ने राजनीति विज्ञान को सरकार का अध्ययन माना है। उनके मतानुसार राज्य तो अर्मूत संस्था है, यदि उसे समझना है तो उसके मूर्तरूप सरकार को ही समझना होगा। सीलें, जेम्स, लीकॉक इसी श्रेणी के विद्वान हैं। उल्लेखनीय है कि सरकार के अध्ययन के रूप में राजनीति-विज्ञान का आरम्भ अमेरिका में हुआ।

सीले के अनुसार-राजनीति विज्ञान उसी प्रकार सरकार के तत्वों का अनुसंधान करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अंको का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान एवं लम्बाई - चौडाई का करता है।''

लीकॉक ने लिखा है कि ''राजनीति - विज्ञान सरकार से संबंधित विधा है।

3.राज्य और सरकार दोनों के अध्ययन के रूप में:

राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वानों का मत है कि राजनीति विज्ञान, राज्य और सरकार दोनों का अध्ययन है। इनके मतानुसार एक के बगैर दूसरे की कल्पना नही की जा सकती ,क्योंकि राज्य को अभिव्यक्ति के लिए सरकार की और सरकार के अस्तित्व की संकल्पना के लिए राज्य की उपस्थिति अनिवार्य है। पॉल जैनेट, गिलक्राइस्ट, गैटिल, डिमॉक, प्रो0आर्शीवादम, लॉस्की आदि विद्वानों ने इसी मत का समर्थन किया है।

गिलक्राइस्ट के अनुसार- ''राजनीति विज्ञान वस्तुतः राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।''

डिमॉक ने भी राजनीति विज्ञान को इसी प्रकार परिभाषित करते हुए लिखा है कि राजनीति विज्ञान का संबंध राज्य तथा उसके साधन सरकार से है।

आशीर्वादम् के अनुसार, "राजनीति विज्ञान राज्य और शासन दोनों का ही विज्ञान है।"

पॉल जैनेट के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र का वह भाग है, जिसमें राज्य के आधार और सरकार के सिद्धान्त का विचार किया जाता है।"

राजनीति विज्ञान की उपर्युक्त सभी परम्परागत परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजनीति विज्ञान की उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ अपूर्ण हैं क्योंकि इनमें मानवीय तत्व की उपेक्षा की गयी है। राज्य और सरकार के अध्ययन में मानवीय तत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करने के कारण ही राजनीति विज्ञान में राज्य और सरकार का

अध्ययन किया जाता है। मानवीय तत्व के अध्ययन के बिना राजनीति विज्ञान का अध्ययन नितान्त औपचारिक, निर्जीव तथा संस्थागत ही माना जायेगा।

हरमन हैलन के अनुसार, "राजनीति विज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा ही होता है।"

1.3.2 राजनीति विज्ञान की आधुनिक परिभाषा

परम्परागत राजनीति विज्ञान या तो स्वतंत्रता, समता, न्याय जैसे राजनीतिक विचारों पर बल देता है, या राज्य, सरकार, कानून इत्यादि जैसी राजनीतिक संस्थाओं पर। लेकिन 20वीं शताब्दी में राजनीति विज्ञान की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रही, व्यवहारवाद, जिसने परम्परागत राजनीति विज्ञान को आधुनिक राजनीति विज्ञान के मार्ग में आगे बढ़ाया। ग्राहम वालास, ए0एफ0 डहल, बैंटले, मैक्सवेयर, चार्ल्स मेरियम, जार्ज कैटलिन, हैरोल्ड लास्वेल, डेविड ईस्टन आदि व्यवहारवादियों ने 'राज्य' एवं अन्य संस्थाओं मात्र के अध्ययन के बजाय राजनीतिक व्यवस्था, मानव व्यवहार एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बल दिया। राजनीतिक संस्थाओं के पीछे कार्य कर रही प्रभावशाली शक्तियों पर प्रकाश डालने का इन्होंने प्रयास किया। फलतः राजनीतिक अध्ययन का रूख संस्थात्मक और संगठनात्मक दृष्टिकोण से हटकर लोगों की राजनीतिक गतिविधियों, दिशा, प्रेरणा और आचरण पर केन्द्रित हो गया। विचारों के अध्ययन का स्थान तथ्यों और प्रमाणों के अध्ययन ने ले लिया तथा राजनीति विज्ञान को आधुनिक लेखकों ने शक्ति, सत्ता, प्रभाव का अध्ययन बताया। कुछ परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं।

केटलिन के अनुसार, "राजनीति विज्ञान शक्ति का विज्ञान है।"

डेविड ईस्टन के अनुसार, "राजनीति विज्ञान समाज में मूल्यों का सत्तात्मक वितरण है।"

लासवैल और केपलान के अनुसार, "एक आनुभाविक खोज के रूप में राजनीति विज्ञान शक्ति के निर्धारण और सहभागिता का अध्ययन है।"

डॉ0 हसजार और स्टीवेन्सन के अनुसार, "राजनीतिशास्त्र अध्ययन का वह क्षेत्र है जो प्रमुखतया शक्ति सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इन शक्ति सम्बन्धों के कुछ प्रमुख रूप हैं, व्यक्तियों में परस्पर, व्यक्ति और राज्य के मध्य शक्ति सम्बन्ध और राज्यों में परस्पर शक्ति सम्बन्ध।"

रॉबर्ट ए0 डहल के अनुसार, "राजनीति विज्ञान का शक्ति, नियम व सत्ता से सम्बन्ध है।"

आलमण्ड तथा पावेल के अनुसार, "आधुनिक राजनीति विज्ञान में हम राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन और विश्लेषण करते हैं।"

उपरोक्त राजनीति विज्ञान सम्बन्धी परम्परावादी और आधुनिक परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान में यह केवल राज्य अथवा सरकार से सम्बन्धित विज्ञान नहीं, बल्कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार, राजनीतिक क्रियाओं व प्रक्रियाओं, शक्ति, सत्ता तथा मानव समूहों की अन्तःक्रियाओं का विज्ञान है।

1.3.3 परम्परागत राजनीति विज्ञान का क्षेत्र:

किसी अनुशासन के अध्ययन क्षेत्र से तात्पर्य होता हैं कि उसमें किन-किन बातों/विषयों का अध्ययन किया जायेगा। राजनीति विज्ञान एक ऐसा अनुशासन है जिसके क्षेत्र का निश्चयात्मक अध्ययन करना जटिल कार्य है। समय के साथ-साथ इसके क्षेत्र में संकुचन व विस्तार होता चला आया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इसका विवेचन परम्परागत परिप्रेक्ष्य व आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कर सकते हैं।

अ-राजनीति विज्ञान का परम्परागत परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रः- प्राचीन काल में यूनान में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत था, क्योंकि तत्कालीन समय में राज्य न केवल एक राजनीतिक संस्था थी अपितु नैतिक संस्था भी थी। राज्य व समाज में किसी प्रकार का भेद नही था। मानव जीवन के प्रत्येक पहलु का अध्ययन इस अनुशासन के अन्तर्गत किया जाता था। यही कारण था कि अरस्तू ने राजनीति विज्ञान को ''प्रधान विज्ञान'' मास्टर साईंस की संज्ञा प्रदान की। कैटलिन ने अपनी पुस्तक ''पॉलिटिकल थियरीः व्हट इज इट?'' में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है। अरस्तू ने राजनीति की परिधि में राष्ट्रीय राज्य व्यवस्थाएँ नागरिक, दास प्रथा, अन्तर्राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्थाएँ, पैतृक व्यवस्थाएँ, धार्मिक संगठन, व्यापारिक संस्थान और कर्मचारियों के संगठन को भी शामिल कर लिया। रोमन साम्राज्य में राजनीति विज्ञान की परिधि में वैधानिकता का समावेश हो गया। मध्ययुग में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र 'चर्च व राज्य की सर्वोच्चता का संघर्ष' बन गया। बोंदा ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में सम्प्रभुता के तत्व का समावेश कर दिया और राजनीति विज्ञान का अध्ययन सम्प्रभुता के संदर्भ में किया जाने लगा। ये राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के संकुचन का परिचायक था। 19वीं शताब्दी में अन्य विषयों के स्वतंत्र अनुशासन के रूप में अस्तित्व में आने के कारण राजनीति विज्ञान भी पृथक विषय बन गया है। **फ्रैडरिक पोलक** ने परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को दो खण्डों में विभाजित किया हैं-

1.**सैद्वान्तिक राजनीति विज्ञान**

2.व्यवहारिक राजनीति विज्ञान

सैद्धान्तिक राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य की आधारभूत समस्याओं का अध्ययन किया जाता है जबकि व्यवहारिक राजनीति विज्ञान में राज्य के क्रियात्मक स्वरूप तथा निरन्तर परिवर्तनशील सरकारों

के वास्तविक रूप की विवेचना की जाती है। पोलक की भॉति गुडनॉव व सिजविक ने भी परम्परागत राजनीति विज्ञान का विभाजन किया है।

परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नांकित पॉच विषयों का अध्ययन किया जाता है-

(1) राज्य का अध्ययन -राजनीति विज्ञान के क्षेत्र का वर्णन करते हुए गैटिल ने लिखा है, ''राजनीति विज्ञान राज्य के भूतकालीन स्वरूप की ऐतिहासिक गवेषणा, उसके वर्तमान स्वरूप की विश्लेषणात्मक व्याख्या तथा उसके आदर्श स्वरूप की राजनीतिक विवेचना है।'' इस प्रकार राजनीति विज्ञान में राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, संगठन, आवश्यक तत्वों, प्रक्रियाओं, उददेश्यों, कार्यो के साथ-साथ नागरिकों के साथ उसके संबंधों तथा अन्य राज्यों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ उसके संबंधों का अध्ययन किया जाता है। गिलक्राइस्ट ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को परिभाषित करते हुए लिखा है, ''राजनीति विज्ञान में यह बतलाया जाता है कि राज्य क्या है, क्या रहा है और इसे क्या होना चाहिए? गार्नर ने भी राजनीति विज्ञान का विषय राज्य घोषित किया है। उसने राजनीति विज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा हैं ''राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य पर ही होता हैं।'' गैरीज, गुडनॉव, एक्टन, ब्लंटश्ली तथा जकारिया ने भी राजनीति विज्ञान का क्षेत्र राज्य घोषित किया है।

(2) सरकार का अध्ययन-परम्परागत राजनीति विज्ञान में सरकार का अध्ययन किया जाता हैः सरकार राज्य का अभिन्न अंग है राज्य एक अमूर्त संस्था है जबकि सरकार उसका मूर्त रूप है। क्रॉसे के अनुसार, ''सरकार ही राज्य है और सरकार में ही राज्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वस्तुतः सरकार के बिना राज्य का अध्ययन अपूर्ण है।'' सरकार राज्य की प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है। सरकार ही राज्य की इच्छाओं और आकांक्षाओं को व्यावहारिक रूप प्रदान रकती है। सरकार के विभिन्न रूपों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र में किया जाता है। सरकार के विभिन्न अंगों (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका) का अध्ययन भी इसमें किया जाता है। लीकॉक ने तो स्पष्टतया, ''राजनीतिशास्त्र को सरकार का अध्ययन कहा जाता है।''

(3) स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन- प्राचीन भारतीय राजनीति विज्ञान में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं, इन तीनों का समावेश किया। उसने ग्राम पंचायत, राष्ट्रीय संस्थाओं व परराष्ट्र संबंध का अध्ययन किया। इसी प्रकार यूनानी राजनीतिक चिन्तक अरस्तू ने भी इन तीनों श्रेणियों से संबंधित समस्याओं का अध्ययन 'पालिटिक्स' में किया। स्थानीय संस्थाओं की कार्यप्रणाली का अध्ययन तथा इसमें नागरिकों का सहयोग आदि विषय राजनीति विज्ञान के महत्वपूर्ण अंग हैं। स्थानीय स्वायत्तता एवं शासन की समस्याओं का अध्ययन राष्ट्रीय समस्याओं की पृष्ठभूमि में किया जा सकता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय विधि, संबंधों व संगठनों का अध्ययन - राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अध्ययन किया जाता है, जैसे सन्धि, प्रत्यर्पण, मानवाधिकार, संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का अनुपालन आदि। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों के आपसी संबंधो व अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का, राज्यों की विदेश नीति, युद्ध व शांतिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका आदि भी राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु है।

(5) राजनीतिक सिद्धान्तों व विचारधाराओं का अध्ययन- राजनीति विज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण विषय है ''राजनीतिक सिद्धान्त''। इसके अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति, संगठन, विकास, प्रक्रिया से लेकर उसके उद्देश्यों व कार्यो संबंधी सभी सिद्धान्तों और जीवन के सामान्य तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। राजनीतिक सिद्धान्तों का जन्म 'संकटकाल' में होता है जितने भी महान दार्शनिक या चिन्तक हुए हैं सब अपने युग के संकट काल की उपज हैं। उन पर इस संकट का इतना जबरदस्त प्रभाव रहा कि उन्होंने उसके समाधान के लिए ऐसें सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो आज भी प्रासंगिक नजर आते है। उदाहरणार्थ- अरस्तू ने क्रॉति के कारणों व समाधान का इतना गहन अध्ययन किया कि आज भी उसे कोई काट नही सकता। विचारधारा के रूप में राजनीतिक सिद्धान्त की भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। मार्क्स की विचारधारा ने पूरे विश्व को दो धड़ों में विभाजित कर दिया। अतः राजनीति विज्ञान में विचारधाराओं का अध्ययन महत्वपूर्ण व अपृथक्करणीय अंग है।

(6)शासन प्रबन्ध का अध्ययन- लोक प्रशासन राजनीति विज्ञान का एक भाग होते हुए भी आज पृथक विषय बन गया है परन्तु उसकी मूल बातों का अध्ययन राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत आज भी किया जाता है। असैनिक कर्मचारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, उन्नति, उनका जनता के प्रतिनिधियों से सम्बन्ध तथा प्रशासन को अति कुशल और लोकहितकारी तथा उत्तरदायी बनाने के बारे में अध्ययन राजनीति विज्ञान में किया जाता है।

(7)अन्य सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन- मनुष्य की जो राजनीतिक क्रियाएँ होती हैं वे उसकी परिस्थितियों की उपज होती हैं। आज मनुष्य आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि अवधारणाओं से बॅधा हुआ है। मनुष्य की राजनीतिक क्रियाओं के पूर्ण अध्ययन करते समय उक्त विषयों का अध्ययन भी होना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने राजनीतिक क्रियाओं को समझने के लिए मनोविज्ञान के अध्ययन पर बल दिया। शिकागों संस्थान के विचारक मनुष्य के राजनीतिक क्रिया-कलापों को समझने के लिए उसके समस्त सामाजिक वातावरण के अध्ययन पर बल देते हैं।

(8) राजनीतिक दलों तथा दबाव गुटों का अध्ययन- राजनीतिक दल और दबाव गुट वे संस्थाएँ हैं जिनके द्वारा राजनीतिक जीवन को गति दी जाती है। आजकल तो राजनीतिक दलों और दबाव गुटों

के अध्ययन का महत्व संविधान और शासन के औपचारिक संगठन के अध्ययन से अधिक है। इस प्रकार का अध्ययन राजनीतिक जीवन को वास्तविकता से सम्बन्धित करता है।

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टिकोण:

द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-45) से पूर्व यह मान्यता थी कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय केवल व्यक्तियों का राजनीतिक जीवन, राज्य और अन्य राजनीतिक संस्थाएँ ही हैं। यद्यपि ग्राहम वालास, ए0एफ0 बेंटले, केटलिन, लासवैल आदि विचारकों ने इस बात का प्रतिपादन किया था कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन केन्द्र राजनीतिक संस्थाओं को न मानकर इस संस्थाओं की चालक शक्ति-मानवीय व्यवहार को बनाया जाना चाहिए। युद्ध के पश्चात् तो यह प्रवृत्ति उग्र रूप से सामने आई और इसने एक क्रान्तिकारी रूप धारण कर लिया। इसके प्रवर्तक डेविड ईस्टन ने इसे व्यवहारवादी आन्दोलन का नाम दिया। व्यवहारवादी आन्दोलन में इस बात पर बल दिया जाता है कि मनुष्य अपना राजनीतिक जीवन एकान्त में व्यतीत नहीं करता वरन् समाज में रहकर व्यतीत करता है और समस्त सामाजिक जीवन के संदर्भ में ही मनुष्य के राजनीतिक जीवन को समझा जा सकता है।

1.आधुनिक राजनीति विज्ञान में राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययनः आधुनिक राजनीति विज्ञान 'राजनीतिक व्यवस्था' के अध्ययन पर बल देता है। आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों डेविड ईस्टन एवं आमण्ड पावेल के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था पारस्परिक सम्बन्धों का ऐसा जाल है, जिसके द्वारा समाज सम्बन्धी आधिकारिक निर्णय लिये जाते हैं और उन्हें लागू किया जाता है। समाज में विद्यमान अन्य उपव्यवस्था जैसे आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, सांस्कृति व्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंतर है जो इसे अन्य उपव्यवस्थाओं में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करती है। वह है इसके निर्णयों का आधिकारिक होना तथा सम्पूर्ण समाज पर लागू होना तथा समाज द्वारा इनका पालन न किये जाने की स्थिति में शक्ति के आधार पर इन्हें समाज पर बाध्यकारी रूप से आरोपित करना। राजनीतिक व्यवस्था की इसी विशेषता की ओर संकेत करते हुए डेविड ईस्टन ने लिखा है कि, "यह राजनीतिक मूल्यों का सम्पूर्ण समाज के लिए आधिकारिक आबंटन है।" राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत आन्तरिक व वाह्य परिवेश, इनसे राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ने वाले तनावों व दबावों, परिवेश से आने वाली मॉगों व समर्थनों, शासन व्यवस्था के तीनों अंग, प्रतिसम्भरण प्रक्रिया आदि का अध्ययन किया जाता है।

2. अन्य सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन हैः राजनीति विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों से अलग हटकर अपनी समस्याओं का अध्ययन नहीं कर सकता। अन्य सामाजिक विज्ञान भी मानव से सम्बन्धित होने के कारण मानव के किसी विशेष पहलू का अध्ययन करते हैं। मानव जीवन के राजनीतिक विचारों को प्रभावित करने में सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक आदि तत्व

भी महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। राजनीति विज्ञान का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन के बिना अधूरा माना जाता है। ग्राहम वालास आदि ने राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए मनोविज्ञान की ओर संकेत किया है। राजनीति विज्ञान जो एक समय अपने अध्ययन के लिए केवल राजनीतिक तत्वों का ही ध्यान रखता था, आज अपने अध्ययन में आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक आधारों की भी खोज करता है।

3. राजनीति विज्ञान शक्ति एवं प्रभाव का अध्ययनः आधुनिक राजनीति विज्ञान से सम्बद्ध विद्वान, राजनीति विज्ञान को शक्ति एवं प्रभाव का अध्ययन मानते हैं। कैटलिन इसे 'शक्ति का विज्ञान' मानता है। लासवैल भी राजनीति विज्ञान को 'शक्ति के निर्धारण और सहभागिता' का अध्ययन मानता है।

4. राजनीतिक व्यवहार का अध्ययनः यह माना जाता है कि राजनीतिक संस्थाएँ जिसके द्वारा संचालित की जाती हैं, उसके अध्ययन को प्रमुखता दी जानी चाहिए। आज की लोकतान्त्रिक पद्धति में चुनाव, राजनीतिक घटनाओं को मानव व्यवहार प्रभावित करता है। इसलिए राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन आवश्यक है।

5. राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययनः आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में राजनीतिक क्रियाओं को भी सम्मिलित किया जाता है क्योंकि इन सभी क्रियाओं के योग से ही राजनीतिक प्रक्रिया का जन्म होता है।

6. राजनीतिक विज्ञान सार्वजनिक सहमति और सामान्य मत का अध्ययनः आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सहमति और सामान्य मत का भी अध्ययन सम्मिलित किया जाता है। बेनफील्ड के शब्दों में, "किसी विषय अथवा समस्या को संघर्षमय बनाने अथवा सुलझाने वाली गतिविधियॉं (समझौता, वार्ता, तर्क-वितर्क, विचार-विनिमय, शक्ति प्रयोग आदि) राजनीति विज्ञान के अंग हैं।"

7. राजनीति विज्ञान समस्याओं व संघर्ष का अध्ययनः डायक व ओडगार्ड के मत में आज राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत विभिन्न समस्याओं और संघर्षों का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि ये समस्याएँ एवं संघर्ष राजनीति विज्ञान को गम्भीर रूप से प्रभावित करती हैं।

8. विविध विषय क्षेत्रः राजनीति विज्ञान के अनेक आधुनिक विद्वानों ने राजनीति विज्ञान में अनेक विविध विषयों को उसके विषय-क्षेत्र में सम्मिलित किया है। वह राज्य की अपेक्षा राजनीतिक व्यवस्था को राजनीति विज्ञान का विषय मानते हैं; कुछ अन्य विद्वान राजनीतिक संस्कृति, समाजीकरण, राजनीतिक-आर्थिक विकास आदि को आधुनिक राजनीति विज्ञान का अंग मानते हैं। राजनीतिक संचार को कुछ अन्य विद्वानों ने राजनीति विज्ञान का अंग कहा है, जबकि दूसरों ने राजनीतिक संस्थात्मक संचार व राजनीति को आधुनिक राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु में सम्मिलित किया है।

आधुनिक राजनीति विज्ञान का कार्य, वास्तव में, कठिन कार्य है। वह परम्परागत राजनीति विज्ञान की उपलब्धियों व उनकी समस्याओं को अपने विषय-क्षेत्र में समेट लेना चाहता है, साथ ही, वह भविष्य की राजनीतिक व्यवस्था तथा वर्तमान राजनीति की अनेक क्रियाओं, प्रक्रियाओं तथा उनकी वैज्ञानिक पद्धतियों को भी अपने विषय-क्षेत्र में सम्मिलित करना चाहता है। इस संदर्भ में रोलां, पिनाक तथा स्मिथ ने राजनीति विज्ञान की विषय-सामग्री को ध्यान में रखते हुए उसकी परिभाषा बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि, "क्या है और क्या होना चाहिए तथा दोनों (यथार्थ एवं आदर्श) के बीच सामंजस्य कैसे बैठाया जाये, इस दृष्टि से सरकार और राजनीतिक प्रक्रिया के व्यवस्थित अध्ययन को राजनीतिक विज्ञान कहा जा सकता है।"

1.4 राजनीति विज्ञान की प्रकृति- विज्ञान अथवा कला

राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाए या कला की श्रेणी में, यह बात आज भी पूर्ण स्पष्ट नहीं है। इसका कारण यह है कि आज भी कुछ विद्वान इसे विज्ञान स्वीकार करने में हिचकते हैं, जबकि कुछ विद्वान इसे विज्ञान मान चुके हैं। इस पर विचार करने से पूर्व यह उचित है कि पहले 'विज्ञान' शब्द की परिभाषा पर विचार कर लिया जाए।

विज्ञान की परिभाषा- प्राकृतिक विज्ञानों के विचारक अपने विषयों को ही विज्ञान स्वीकार करते हैं; जैसे- रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, गणित, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि विषय ही विज्ञान हैं, परन्तु विज्ञान की परिभाषा को सामान्यतया अब दूसरे रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। विज्ञान की सामान्य परिभाषा है कि, "विज्ञान किसी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को कहते हैं।"

इस परिभाषा की अंग्रेजी के शब्दकोष चैम्बर्स डिक्शनरी से भी पुष्टि की जा सकती है, उसके अनुसार, "विज्ञान वह ज्ञान है जो पर्यवेक्षण और प्रयोग पर आधारित हो, भली-भॉति परीक्षित तथा क्रमबद्ध हो और सामान्य सिद्धातों में समाहित हो।" विज्ञान की परिभाषा गार्नर ने इन शब्दों में दी है, "विज्ञान उस एकीकृत ज्ञान भण्डार को कहते हैं जिसकी प्राप्ति विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव और अध्ययन द्वारा हुई हो और जिसके तथ्यों का उनमें परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके क्रमबद्ध वर्गीकरण किया गया हो।"

उक्त परिभाषाओं से विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं-

1. विज्ञान में प्रयोगात्मक विधियों को काम में लाया जाता है।
2. निश्चित विधि तथा तर्क के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है।

3. विज्ञान के सिद्धान्त या नियम निश्चित तथा अटल होते हैं, वे सभी स्थानों और समयों में लागू होते हैं।

4. विज्ञान में भविष्यवाणी करने की अपूर्व क्षमता है।

5. प्रत्येक निष्कर्ष विवेचनात्मक है, अतः विश्लेषण के लिए उत्तरदायी है।

6. प्रत्येक निष्कर्ष कार्य-कारण के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

विज्ञान की परिभाषा कर लेने के पश्चात् अब देखना होगा कि क्या राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाए या नहीं। इसको कुछ विद्वान विज्ञान स्वीकार करते हैं; जैसे- अरस्तू ने इसे सर्वोच्य और पूर्ण विज्ञान माना है। बर्नाडशा इसे मानवीय सभ्यता को सुरक्षित रख सकने वाला विज्ञान कहते हैं। इनके अतिरिक्त बोदां, हॉब्स, मॉन्टेस्क्यू, ब्राइस, ब्लुट्श्ली, जैलीनेक, डॉ0 फाइनर, लास्की जैसे विद्वान भी इसे विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं, जबकि इसके विपरीत बकल, कॉम्टे, मेटलैण्ड, लियर्ड, केटलिन, मोस्का, ब्रोमन, बर्क जैसे विद्वान राजनीति विज्ञान को विज्ञान स्वीकार नहीं करते हैं। अब इन दोनों पर विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं है

बकल, कॉम्टे, मेटलैण्ड आदि विचारक इस विषय को विज्ञान स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत कार्य और कारण में सदैव निश्चित सम्बन्ध पाया जाता हो और जिसके निष्कर्ष निश्चित एवं शाश्वत हों। इस आधार पर वे राजनीतिविज्ञान को विज्ञान स्वीकार नहीं करते हैं। कॉम्टे का विचार है कि, "राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ उसकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। इसमें विकास की निरन्तरता का अभाव है जिनके आधार पर भविष्य के लिए ठीक निष्कर्ष निकाले जा सकें।" बकल के अनुसार, "ज्ञान की वर्तमान दशा में राजनीतिविज्ञान का विज्ञान होना तो दूर रहा, यह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।"

विज्ञान शब्द इस विषय के साथ जुड़ने पर मेटलैण्ड को बहुत दुःख है। उनके शब्दों में, "जब मैं राजनीतिशास्त्र शीर्षक के अन्तर्गत प्रश्न देखता हूँ तो मुझे प्रश्नों पर नहीं बल्कि शीर्षक पर आश्चर्य होता है।" मेटलैण्ड के अनुसार राजनीति विज्ञान, विज्ञान हो ही नहीं सकता।

इन विद्वानों ने अपने कथन के पक्ष एवं समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं-

1.सुनिश्चित परिभाषित शब्दावली का अभाव- राजनीति विज्ञान में हम एक निश्चित परिभाषिक शब्दावली का अभाव पाते हैं। इसे राजनीति, राजनीतिक दर्शन तथा राजनीति विज्ञान आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसके अनेक ऐसे शब्द हैं जिनके वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाये जाते हैं। विज्ञान में H2Oका अर्थ प्रत्येक स्थान पर एक ही होगा, चाहे वह ब्रिटेन हो या भारत किन्तु राजनीति विज्ञान में स्वतंत्रता, समानता, न्याय, सम्प्रभुता, लोकतंत्र, लोकमत, संघवाद एवं अधिकार आदि के भिन्न-भिन्न देशों में विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए जाते हैं। इस तरह जिस विषय का अपना कोई स्पष्ट एवं निश्चित स्वरूप ही न हो, उसे विज्ञान की संज्ञा कैसे दी जा सकती है।

2.सर्वमान्य नियमों तथा तथ्यों का अभाव- भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों की भॉति इसमें सर्वमान्य नियमों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों का निर्धारण नहीं हो पाता है। विज्ञान में कुछ निश्चित नियम तथा सिद्धान्त होते हैं जो सर्वमान्य एवं सार्वभौम होते हैं। उदाहरणार्थ, ज्यामिति का यह नियम अटल एवं सर्वमान्य है कि, "एक त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है।" किन्तु राजनीतिविज्ञान में ऐसा नहीं है। इसी तरह गति विज्ञान के नियमानुसार, "प्रत्येक क्रिया की उतनी ही विपरीत प्रतिक्रिया होती है " का नियम भी अटल एवं शाश्वत है। इसी तरह इसमें गणितके 2 और 2 चार अथवा भौतिक विज्ञान के 'गुरूत्वाकर्षण नियम' की भॉति किन्हीं सर्वमान्य एवं शाश्वत नियमों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। यदि एक ओर आदर्शवादी राज्य की सर्वोच्च सत्ता को मान्यता देते हैं तो दूसरी ओर, साम्यवादी तथा अराजकतावादी इसको अमान्य करते हैं।

यदि बेंजामिन फ्रैंकलिन, लास्की और एबेसीज जैसे विद्वान एक सदनीय व्यवस्थापिका के पक्षधर हैं तो लैकी, सिजविक तथा ब्लटंश्ली आदि इसके घोर विरोधी हैं। यदि एक पक्ष के लिए प्रजातंत्र सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति है तो दूसरे पक्ष के लिए वह बहुत बुरी तथा निकृष्ट शासन पद्धति है। अन्य तथ्यों तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के मतभेद एवं विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं।

3.प्रयोग व पर्यवेक्षण सम्भव नहीं- इसमें भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों की भॉति प्रयोग एवं पर्यवेक्षण की सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। इसमें हम भौतिक, रसायन, जीव एवं मौसम विज्ञानों आदि की भॉति प्रयोगशालाओं में जाकर तथ्यों तथा पदार्थों के सम्बन्ध में कोई निश्चित एवं सन्तोषजनक समाधान नहीं निकाल सकते हैं क्योंकि इसका सम्बन्ध मानव एवं उससे सम्बन्धित विचारधाराओं से होता है जिनका प्रयोग प्रयोगशालाओं या वेधशालाओं में सम्भव नहीं है। अर्थात विज्ञान में हम ताप या गैस का दबाव सही-सही माप सकते हैं क्योंकि वे निर्जीव और भावनाहीन होती हैं, जबकि मानव के आवेग, उत्तेजना, भावना अभिलाषा, क्रोध, प्रेम और विचार केा ठीक-ठीक और बार-बार नहीं माप सकते हैं, क्योंकि मानव का स्वभाव परिवर्तनशील, प्रतिक्रियावादी और भावना प्रधान होता है। ब्राइस के शब्दों में,

"भौतिक विज्ञान में एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बार-बार प्रयोग किया जा सकता है किन्तु राजनीति में एक प्रयोग बार-बार नहीं दोहराया जा सकता है।"

4.भविष्यवाणी सम्भव नहीं- विज्ञान में निश्चित नियम होने से शत-प्रतिशत सही भविष्यवाणी की जा सकती है; जैसे- ज्योतिष विद्या के आधार पर बहुत समय पूर्व चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी की जाती है और जो पूर्णतया सत्य सिद्ध होती है। परन्तु ऐसी भविष्यवाणी हमारे विषय के सम्बन्ध में नहीं की जा सकती है। राजनीतिविज्ञानी यह नहीं बता सकता कि किस निश्चित विचार का जनता पर क्या असर होगा या किस देश में कब जन-असन्तोष फैलकर क्रान्ति लाएगा और कब जन-समर्थन सरकार को मिलेगा। इसी आधार पर बर्क ने कहा था कि, "राजनीति विज्ञान में भविष्यवाणी करना मूर्खता है।" लॉस्की के भी कहा है कि, "हम अनुभव के आधार पर भविष्यवाणी कर सकते हैं। हमारी भविष्यवाणी तथ्यों के अभाव एवं अनिश्चितता के कारण सीमित है।"

5.कार्य-कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव- विज्ञान की एक विशेषता यह है कि उसमें प्रत्येक कार्य का एक निश्चित और स्पष्ट कारण होता है। उदाहरण के लिए, यदि जल को एक निश्चित मात्रा तक गर्म किया जाए तो वह वाष्प बन जाता है और यदि निश्चित मात्रा तक ठंडा किया जाए तो बर्फ बन जाता है। इसका कोई अपवाद नहीं है। परन्तु राजनीतिविज्ञान में कार्य-कारण का सम्बन्ध इतना स्पष्ट और निश्चित नहीं हो सकता है। यह कहना कठिन होगा कि कौन-सी राजनीतिक घटना किस कारण से हुई? क्योंकि प्रत्येक राजनीतिक घटना के अनेक जटिल कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय स्वतंत्रता के पीछे किसी अकेले कारण को बताना सही नहीं होगा अथवा किसी देश में होने वाली क्रान्ति के पीछे किसी अकेले कारण को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है। अतः राजनीतिविज्ञान में कार्य का कारण उतना निश्चित और स्पष्ट नहीं होता है जितना कि प्राकृतिक विज्ञानों में होता है।

6.निश्चित अध्ययन पद्धति का अभाव- भौतिक विज्ञानों की अध्ययन पद्धति निश्चित होती है, इस कारण इनका अध्ययन निष्कर्ष सही निकालता है। राजनीति विज्ञान की अनेक अध्ययन पद्धति हैं जिससे इसके परिणाम अनिश्चित होते हैं। इसकी कार्यविधि, प्रक्रिया, आदर्श और निष्कर्ष एक समान नहीं हो पाते हैं। चार्ल्स ए0 बीयर्ड के शब्दों में, "राजनीति और इतिहास के प्रत्येक वर्णन में अस्पष्टता रहती है और रहनी भी चाहिए क्योंकि इनके विद्यार्थी मानव कार्यों का अध्ययन करते समय उस मानसिक दशा में नहीं रहते जिस प्रकार कि भौतिकी की समस्याओं का अध्ययन करते समय मग्न रहते है।"

7.अध्ययन विषय आत्मपरक है, वस्तुपरक नहीं- प्राकृतिक विज्ञान वस्तुपरक होता है। इसकी अध्ययन वस्तु निर्जीव होने के कारण अनुसंधानकर्ता मानवीय भावनाओं से परे रहते हुए तटस्थता के साथ अध्ययनरत बना रहता है, लेकिन राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय मानव है, अतः यह आत्मपरक होता है। इसलिए अध्ययनकर्ता का तटस्थ रहना बहुत कठिन होता है।

उपर्युक्त तथ्यो के कारण हम राजनीति विज्ञान को अन्य प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञानों की भॉति विशुद्ध विज्ञान नहीं मान सकते हैं। इसी आधार पर विलोबी का कथन है कि, "राजनीति का विज्ञान बनना न तो सम्भव है और न ही वाछंनीय।" इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव है।

राजनीति विज्ञान, 'विज्ञान' है

राजनीति विज्ञान को विज्ञान न मानने के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं उनमें सत्यांश अवश्य हैं, लेकिन वे पूर्णतया सत्य सत्य नहीं हैं। वर्तमान समय के शोधों से राजनीतिक विज्ञान का जिस तीव्र गति से विकास हुआ है तथा इसके अध्ययन के लिए जो वैज्ञानिक अध्ययन पद्धतियॉ प्रयोग की गई हैं, उनसे राजनीतिविज्ञान, विज्ञान सिद्ध होता है। विज्ञान के तत्वों की विवेचना और सूक्ष्म अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि विज्ञान की बहुत-सी मान्यताएँ और तत्व राजनीति विज्ञान पर भी लागू किए जा सकते हैं। राजनीतिविज्ञान के विज्ञान होने के पक्ष में कुछ तथ्य निम्न प्रकार हैं-

1. सुस्पष्ट, सुनिश्चित एवं क्रमबद्ध अध्ययन- विज्ञान का महत्वपूर्ण लक्षण है कि वह क्रमबद्ध ज्ञान होता है। यह लक्षण राजनीतिविज्ञान में भी पूर्ण रूप से पाया जाता है। राजनीतिविज्ञान में राज्य का उद्भव, विकास के चरण, सरकार के प्रकार, अन्य राजनीतिक संस्थाओं, विचारधाराओं का क्रमबद्ध ज्ञान उपलब्ध है। राजनीतिविज्ञान का आज जो भी अध्ययन किया जाता है उसका आधार भूतकालीन ज्ञान ही है। विषय के अधिकांश नियम स्थापित हो गए हैं। इसकी सभी बातों का एक क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में अध्ययन किया जा सकता है।

2. पर्यवेक्षण तथा प्रयोग सम्भव- विज्ञान की भॉति राजनीति विज्ञान में भी बहुत कुछ पर्यवेक्षण एवं प्रयोग सम्भव हैं। राजनीति विज्ञान अपने आप में एक अनूठी तथा विशाल प्रयोगशाला है जहॉ विभिन्न सिद्धान्तों तथा शासन पद्धतियों का सफल परीक्षण एवं प्रयोग किया जा सकता है। राजनीति विज्ञान में तो पर्यवेक्षक एवं प्रयोगों की व्यवस्था रहती है। जैसे लोकतंत्रात्मक तथा अन्य शासन पद्धतियों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि लोकतंत्रात्मक शासन पद्धति अन्य पद्धतियों की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय एवं लोकहित के प्रति सजग रहती है। संघवाद, बहुलवाद, समाजवाद, साम्यवाद, लोकप्रिय सम्प्रभुता तथा लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा आदि का राजनीति में समावेश एक प्रयोग के तौर पर ही हुआ है तथा उन्हें अत्यधिक सफलता भी प्राप्त हुई है।

यद्यपि इसमें पदार्थ विज्ञानों की भॉति प्रयोगशालाओ में बैठकर पूर्ण निश्चितता एवं सरलता से प्रयोग तो नहीं किये जा सकते, फिर भी राजनीति विज्ञान में प्रयोग होते रहे हैं और होते जा रहे हैं। गार्नर के शब्दों में, "प्रत्येक नवीन कानून का बनना, प्रत्येक नई संस्था का गठन तथा प्रत्येक नई बात का प्रारम्भ

एक प्रयोग ही होता है।" भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत अपनाया गया अहिंसात्मकसत्याग्रह, भारतीय शासन तथा राजनीति में पंचायती राज, सामुदायिक विकास योजना तथा प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना आदि इसी प्रकार के राजनीतिक प्रयोगों के ही उदाहरण हैं।

3.सर्वमान्य नियमों तथा सिद्धान्तों की क्षमता- राजनीति विज्ञान में भी प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञानों की भॉति कुछ सामान्य नियम एवं शाश्वत सिद्धान्त हैं। राज्य, विधि, न्याय, शिक्षा तथा क्रान्तियों आदि के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सार्वजनिक एवं शाश्वत नियम एवं निश्चित सिद्धान्त हैं जो प्रत्येक परिस्थिति तथा देश में लागू होते है। इनके आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। प्लेटो का न्याय एवं शिक्षा सिद्धान्त, अरस्तू का राज्य वर्गीकरण तथा क्रान्ति का सिद्धान्त, रोमन-विधि सिद्धान्त, बोदॉ का सम्प्रभुता सिद्धान्त, रूसो तथा लॉक की स्वतंत्रता सम्बन्धी धारणा तथा गाँधी जी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचार प्रायः सर्वमान्य तथा शाश्वत सिद्धान्तों के रूप में हैं।

4.कार्य-करण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है- पदार्थ विज्ञानों की भॉति राजनीति विज्ञान में भी कार्य-करण सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। अनुभव यह दर्शाता है कि जब भी कोई शासक अत्याचारी, अनुत्तरदायी एवं क्रूर होता है एवं शासन व्यवस्था जनहितकारी नहीं होती तो वहॉ फ्रांस, रूस, भारत तथा अन्य एशियाई तथा अफ्रीकी देशों की भॉति क्रान्तियॉ तथा विद्रोह अवश्य होते हैं। बंग्लादेश तथा अफगानिस्तान की क्रान्तियॉ इसका एक प्रमुख तथा ताजा उदाहरण हैं। क्रान्ति के सम्बन्ध में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस तरह इसमें यद्यपि पदार्थ विज्ञानों की भॉति प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, फिर भी विशेष घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य परिणाम एवं निष्कर्ष तो निकाले ही जा सकते हैं। ब्राइस द्वारा इस तथ्य को स्वीकार किया गया है।

5.भविष्यवाणी की क्षमता- जहॉ तक भविष्यवाणियों का सम्बन्ध है, इसमें प्राकृतिक विज्ञानों की भॉति तो भविष्यवाणी नहीं की जा सकती किन्तु इसमें भी भविष्यवाणियॉ हो सकती हैं और बहुधा सत्य भी सिद्ध होती हैं। उदाहरणार्थ, वर्तमान में देश में होने वाले चुनावों के सम्बन्ध में विभिन्न सर्वेक्षणों द्वारा भविष्यवाणियॉ की जाती रही हैं और बहुत-सी भविष्यवाणियॉ सत्यता की कसौटी पर खरी भी उतरी हैं। डॉ0 फाइनर के मतानुसार, "इसमें हम निश्चिततापूर्वक भविष्यवाणियॉ नहीं कर सकते किन्तु सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर ही सकते हैं। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी निश्चित होती है, राजनीति में सम्भावना से अधिक नहीं।" परन्तु इससे इस विषय के विज्ञान होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि मौसम विज्ञान की भविष्यवाणियॉ पूर्ण सत्य नहीं होती हैं, लेकिन फिर भी उसे सापेक्ष सत्य के आधार पर ही विज्ञान माना जाता है, यही स्थिति राजनीति विज्ञान की है। लॉर्ड ब्राइस के अनुसार, "राजनीति विज्ञान की तुलना ऋतु विज्ञान जैसे अपूर्ण विज्ञान से की जा सकती है।"

मतैक्यता का अभाव एवं परिभाषिक शब्दावली का अभाव होना भी कुछ अधिक सही नहीं माना जा सकता है।

वस्तुतः राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में प्रथम पक्ष द्वारा उठायी गयी आपत्तियॉ तथा शंकाएँ बहुत कुछ निराधार एवं बेबुनियाद प्रतीत होती हैं। भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न होने के बाद भी राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है। अधिकांश राजनीतिक विचारक इसे विज्ञान मानने के पक्ष में हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम यही कह सकते हैं कि विज्ञान के दो रूप हैं-सकीर्ण और वृहद्। संकीर्ण विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान ही होता है क्योंकि विज्ञान की सत्यता, निश्चितता, क्रमबद्धता एवं प्रयोग की सुविधा प्राकृतिक विज्ञानों में ही मिल सकती है। दूसरी तरफ वृहद् विज्ञान से अभिप्राय है- ज्ञान की वह शाखा जो क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करती है; जैसे- अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषा विज्ञान आदि। राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान की निश्चितता, शुद्धता, क्रमबद्धता तथा प्रयोग की सुविधा न होते हुए भी इसमें वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग, सामान्य सिद्धान्तों का पाया जाना, भविष्यवाणी की सम्भावना पाई जाती है। इसलिए यह विषय वृहद अर्थ में विज्ञान है, लेकिन प्राकृतिक विज्ञान की तरह शुद्ध विज्ञान नहीं है। इसे एक सामाजिक विज्ञान कहा जा सकता है, क्योंकि-

1. राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध सामाजिक और राजनीतिक जीवन की जटिल समस्याओं से होता है।

2. मनुष्य का स्वभाव परिवर्तनशील एवं जटिल होता है, इसलिए सिद्धान्त के आधार पर इसका अध्ययन नहीं किया जा सकता।

3. राजनीतिविज्ञान पर अचेतन रूप में व्यक्ति के व्यक्तिगत विचारों एवं द्वेषों का प्रभाव होता है।

4. राजनीतिविज्ञानी को अपने विषय के मौलिक पहलू को भी ध्यान में रखना होता है।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी में न आते हुए भी सामाजिक विज्ञान है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "यद्यपि सामाजिक विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञानों जैसी यथार्थता प्राप्त करना कठिन है तथापि सामाजिक समस्याओं पर उसी वैज्ञानिक ढंग से विचार किया जा सकता है जैसा कि रसायनशास्त्र या भौतिकशास्त्र में।" लार्ड ब्राइस ने इसे ऋतु विज्ञान की भॉति अपूर्ण और अविकसित विज्ञान कहा है। सर फ्रेडरिक पोलक के अनुसार, "जिस

प्रकार नैतिकता का विज्ञान है, उसी भाव में और उसी तरह अथवा लगभग उसी सीमा तक राजनीति भी विज्ञान है।"

राजनीति विज्ञान एक कला है

चूँकि राजनीति विज्ञान को कुछ कारणों से एक पूर्ण तथा विशुद्ध विज्ञान मानना तर्कसंगत एवं उचित प्रतीत नहीं होता। अतः अनेक विद्वानों द्वारा इसे कला के अन्तर्गत रखा गया है। ब्लंटश्ली के शब्दों में, "राजनीति से विज्ञान की अपेक्षा कला का ही कहीं अधिक बोध होता है तथा उसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक कार्यों एवं राज्य के संचालन से है।" गैटिल ने भी इसे कला ही माना है किन्तु बकल जैसे विद्वान भी हैं जो इसे कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला मानते हैं।

कला का अर्थ एवं उद्देश्य

कला का आशय एवं उद्देश्य जीवन की सुन्दरतम अनुभूति से है। वह मानव की श्रेष्ठ कल्पनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है। कला का उद्देश्य जीवन को मधुर एवं समुन्नत बनाना है। कला का उद्देश्य ठोस तथ्यों का प्रतिपादन करना है। निम्न आधारों पर हम इसकी विवेचना कर सकते हैं-

1.एक कलाकार की भॉति राजनीति विज्ञानी भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति बहुत अच्छे ढंग से करने का प्रयास करते हैं। वे विचारों तथा तथ्यों का आकर्षक रंगों के माध्यम से उसे लोकप्रिय, भव्य तथा लोकोपयोगी बनाने का भी प्रयत्न करते हैं। संगीत एवं कला की भॉति ही राजनीति विज्ञान का उद्देश्य भी राज्य एवं नागरिकों के लिए आदर्श सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर मानव जीव को समुन्नत, सुखी, आदर्श एवं मधुर बनाना होता है।

2.राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति एवं कार्य संचालन के लिए जिस प्रकार के नियम, साधन या उपाय अपनाता है, वह कला के अन्तर्गत ही आते हैं। व्यावहारिक राजनीति का सम्बन्ध कला से ही है।

3.स्वयं शासन करना भी एक श्रेष्ठ कला ही है। इसीलिए प्लेटो शासन का उत्तरदायित्व योग्य तथा प्रशिक्षित दार्शनिकों को ही सौंपने के पक्ष में था। प्रायः प्रत्येक शासन में एक अच्छे तथा आदर्श शासक की आवश्यकता एवं महत्व पर बल दिया जाता है। शासक के पास सूझ-बूझ एवं चतुराई होनी चाहिए, ताकि उसे अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त हो सके।

इस प्रकार शासन करना स्वयं अपने आप में एक श्रेष्ठ कला है। अतः बकल का यह कथन निराधार प्रतीत होता है कि, "राजनीति कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।" वस्तुतः राजनीति एक श्रेष्ठ कला है।

1.5 राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता

अरस्तू मानव जीवन को नैतिक और सभ्य बनाने के लिए राजनीति विज्ञान के अध्ययन को आवश्यक समझता था। मनुष्य के जीवन में राजनीति विज्ञान के अध्ययन के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। संक्षेप में, राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता निम्नवत् है-

1.मानव अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान- राजनीति विज्ञान के अध्ययन से व्यक्ति मानवीय अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कर अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सकते हैं तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर समाज एवं राज्य की उन्नति में योगदान दे सकते हैं। राजनीति विज्ञान मानव को उसके अधिकार और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है जिससे मनुष्य समाज की श्रेष्ठतम इकाई के रूप में जीवन व्यतीत कर सके। इसके साथ ही राजनीति विज्ञान व्यक्तियों में परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके संघर्ष के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान का अध्ययन व्यक्ति ओर समाज दोनों के लिए ही उपयोगी है।

2.राष्ट्रीय और संवैधानिक इतिहास का ज्ञान- राजनीति विज्ञान के अध्ययन के आधार पर अपने देश की प्राचीन गौरव और प्राचीन असफलताओं का ज्ञान होता है। भारतीय राजनीति का विद्यार्थी अपने देश के राष्ट्रीय इतिहास का अध्ययन करने के उपरान्त यह निश्चित कर सकता है कि हमारी आजादी कितने बलिदानों के परिणाम स्वरूप मिली है, इसलिए इसकी हमें सदैव रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार विभिन्न देशों के राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी अपने-अपने देश की प्राचीन परम्पराओं, इतिहास और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

3.राज्य एवं सरकार का ज्ञान- राजनीति विज्ञान में राज्य और सरकारों के संगठन, गुण-दोषों का अध्ययन किया जाता है। सरकार के विभिन्न रूपों में हमारे देश के लिए कौन-सा रूप सर्वोत्तम होगा, सरकार के कार्यों का मूल्यांकन किस आधार पर किया जाए, सरकार की कमियों को दूर करने के उपाय आदि की जानकारी राजनीति विज्ञान से मिलती है। शासन व्यवस्था और सरकार के अधिकार और कर्त्तव्यों का विश्लेषण भी इसमें किया जाता है।

4.उत्तम प्रशासन कला का ज्ञान- राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत प्रशासन को कुशल और जनहितकारी बनाने के लिए सरकारी कर्मचारियों के चयन और प्रशिक्षण आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है। वर्तमान में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत उत्तम प्रशासन तथा प्रशासन को जनता के प्रति अधिक से अधिक उत्तरदायी बनाने के उपायों पर विचार किया जा रहा है।

5.उदार मानवीय दृष्टिकोण का निर्माता- आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति के कारण सम्पूर्ण विश्व ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है और समस्त विश्व के मनुष्य एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये

हैं। राजनीति विज्ञान हमें अपने और विश्व के दूसरे देशों का ज्ञान प्रदान कर हमारे दृष्टिकोण को व्यापक और उदार बनाता है। राजनीति विज्ञान हमें परिवार, जाति, गॉव और नगर के अतिरिक्त राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने की क्षमता प्रदान करता है। यह शिक्षा देता है कि व्यक्ति से परिवार बड़ा है, परिवार से गॉव, गॉव से जिला, जिला से प्रान्त और प्रान्त से देश और देश से बड़ा विश्व है। व्यक्ति को परिवार के हित में, परिवार को गॉव के हित में, गॉव को जिला के हित में, जिला को प्रान्त के हित में, प्रान्त को राष्ट्र के हित में अपने स्वार्थ त्यागने चाहिए। क्षेत्रीय संकीर्णता, भाषावाद, जातिवाद, रंगभेद, लिंगभेद, धर्मभेद सबसे ऊपर उठकर मानव मात्र की समानता को एक मात्र आधार मानें और विश्व कल्याण की भावना से कार्य करें। आज राजनीति विज्ञान मानव को विश्व राज्य निर्माण करने की ओर प्रेरणा दे रहा है। यदि ऐसा हो सका तो समस्त मानव-मानव के भेद सदैव के लिए समाप्त हो जाएँगें।

6.राजनीतिक चेतना का विकास- राजनीति विज्ञान नागरिकों में राजनीतिक चेतना जाग्रत करता है। राजनीतिक चेतना के अभाव में नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रूप में नहीं कर पाते हैं और नेता तथा प्रशासक पथ-भ्रष्ट हो सकते हैं। राजनीति विज्ञान के ज्ञान से सम्पन्न राजनीतिक चेतना युक्त जनता शासकों को भ्रष्ट होने से रोकती है तथा सरकार की गलत नीतियों की आलोचना कर शासन को जनहितकारी बनाने का यथासम्भव प्रयास करती है। राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता ही बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक संकटों का सामना कर सकती है।

7.अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान- संचार के द्रुतगति के साधनों ने सारे विश्व को समेट कर आज बहुत छोटा कर दिया है। आज विश्व के किसी भी कोने में कोई घटना घटती है, उसकी तुरन्त सूचना दुनियाभर को हो जाती है और उसका प्रभाव भी किसी न किसी रूप में दूसरों पर पड़ता ही है। आज कोई भी घटना स्थानीय या राष्ट्रीय नहीं रह पाती है। ऐसी स्थिति में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन आवश्यक भी हो जाता है और महत्वपूर्ण भी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि राजनीति विज्ञान के भाग ही हैं। इसके माध्यम से ही निःशस्त्रीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं आदि का अध्ययन किया जाता है, जो प्रत्येक देश के लिए अनिवाय है। विदेश सम्बन्ध और राष्ट्रीय राजनीति पर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव, शीतयुद्ध, आर्थिक साम्राज्यवाद जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों की जानकारी इस विषय से मिलती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन हमारे लिए महत्वपूर्ण है। आज यह सम्भव नहीं है कि व्यक्ति राजनीति विज्ञान के प्रति उपेक्षा बरतें। व्यक्ति भले ही राजनीति में रूचि न रखे या राजनीति से दूर रहना चाहे परन्तु राजनीति उससे दूर नहीं रह पाती है, उन तक पहुॅच ही जाती है। रॉबर्ट ए0 डहल के अनुसार, "राजनीति आज मानवीय अस्तित्व का अपरिहार्य तत्व बन गई है। प्रत्येक

व्यक्ति किसी न किसी रूप में, किसी न किसी समय, किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था से सम्बद्ध है।" आज राजनीति विज्ञान का अध्ययन दुरतगति से अधिकाधिक उपयोगी होता जा रहा है। आइवर ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक जीवन के वास्तविक मूल्य के प्रति यदि सहज बुद्धि से देखा जाय तो राजनीति विज्ञान का अध्ययन उपयोगी और सार्थक सिद्ध होगा।"

1.6 परम्परावादी राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ

परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पना और दर्शन पर आधारित है। यह अपने प्रतिपादक राजनीतिक दार्शनिक एवं चिन्तकों के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण से प्रभावित रहा है। अधिकांश दार्शनिक विचारक आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मानवीय चिन्तन में सामाजिक लक्ष्यों तथा मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ- हम यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार, मध्ययुग के ईसाई सन्त दार्शनिकों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का विचार तथा आदर्शवादियों के विवके से साक्षात्कार ले सकते हैं। इन विद्वानों के विचारों को परानुभववादी कहा गया है। उनके व्यक्तिपरक विचार और उनकी चिन्तन प्रणाली निगमनात्मक है। आधुनिक युग में परम्परागत राजनीति विज्ञान के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। यहॉ हम रूसो, काण्ट, हीगल, टी0एच0 ग्रीन, बोसांके, लास्की, ओकशॉट, लियो स्ट्रॉस इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो के विचारों की झलक देख सकते हैं।

परम्परागत राजनीति विज्ञान की प्रमुख विशेषतायें निम्नवत् स्पष्ट की जा सकती हैं-

1.'राज्य' की प्रधानता एवं राज्य को एक नैतिक सामाजिक अनिवार्य संस्था माना है। फलतः उद्देश्य आदर्श राज्य की खोज ही नहीं रहा, अपितु इसके लिए अत्यधिक हटधर्मिता रही।

2.कल्पनात्मक, आदर्शों का अध्ययन एवं दर्शनशास्त्र से घनिष्ठता।

3.अध्ययन प्रतिपादक राजनीतिक दार्शनिकों एवं चिन्तकों के व्यक्तित्व से प्रभावित, फलतः व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन।

4.अपरिष्कृत परम्परागत अध्ययन पद्धतियों (ऐतिहासिक) दार्शनिक का प्रयोग, फलतः वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग नहीं किया गया।

5.अध्ययन में नैतिकता और राजनीतिक मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है।

6.यह प्रधानतः संकुचित अध्ययन है क्योंकि इसमें सिर्फ पाश्चात्य राज्यों की शासन व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका आदि की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन को महत्व नहीं दिया गया है।

1.7 आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ

आधुनिक राजनीति विज्ञान अभी विकासशील अवस्था में है। आधुनिक राजनीति विज्ञान की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित है-

१.आधुनिक राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन मुक्तता की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह परम्परागत राजनीति विज्ञान की सीमाओं को तोड़कर अध्ययन करते हैं। राजनीतिक घटनाएँ तथा तथ्य जहॉ भी उपलब्ध हों, चाहे वे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र या धर्मशास्त्र के विषय हों, अब राजनीति विज्ञान के विषय बन गये हैं। उनका मानना है कि राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने वाली वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाये तथा उन्हीं के आधार पर राजनीतिक घटनाक्रम की व्याख्या व विश्लेषण किया जाये।

२.आधुनिक राजनीति विज्ञान व्यवहारिकतावादी अनुभावनात्मक व यर्थाथवादी दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देता है। अधिकांश अध्ययन-ग्रंथ विश्लेषणात्मक व अनुभवात्मक हैं, जो पर्यवेक्षण माप, तार्किकता, युक्तियुक्तता आदि तकनीकों पर आधारित हैं।

३.आधुनिक राजनीति विज्ञान विभिन्न सामाजिक विज्ञानों तथा प्राकृतिक विज्ञानों से काफी प्रभावित रहा है। अतः नवीन पद्यतियों में वैज्ञानिक पद्यति को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसी के साथ वैज्ञानिक मूल्य-सापेक्षतावाद को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया गया, जिसका तात्पर्य है कि एक शोधकर्ता शोध करते समय स्वयं के मूल्यों, धारणाओं, पूर्वाग्रहों को शोध से पृथक रखता है। उसके आचरण में बौद्धिक निष्पक्षता तथा सत्यनिष्ठा पायी जाती है। यह तात्विकता का विवेचन करता है तथा अतितथ्यवादिता से बचता है। वैज्ञानिक पद्यति के प्रयोग द्वारा अब राजनीति वैज्ञानिक सामान्यीकरणों व्याख्याओं और सिद्धान्त-निर्माण में लगे हैं। अब सिद्धान्त-निर्माण कठोर शोध प्रक्रियाओं पर आधारित है। शोध व सिद्धान्त में निश्चित संबंध में पाये जाने लगे हैं। सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया अब शोध-उन्मुखी हो गयी है।

४.आधुनिक राजनीति विज्ञान के विद्वान इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि जिन संस्थाओं और विषयों का अध्ययन वे करते हैं, उनका अध्ययन अन्य अनुशासनों में भी किया जा रहा है। अतः राजनीति विज्ञान को पृथक अस्तित्व प्रदान किया जाना चाहिए। डेविड ईस्टन, रार्बट डहल, आमण्ड, पॉवेल, कोलमैन, ल्यूसियन पाई, सिडनी वर्बा, कार्ल डायच, मैक्रीडीस आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को स्वतंत्र

अनुशासन बनाये जाने के प्रयत्न किये। उदाहरणार्थ डेविड ईस्टन ने ''राजनीति को मूल्यों का सम्पूर्ण समाज के लिए आधिकारिक वितरण/आंबटन बताकर इसे अन्य अनुशासनों (व्यवस्थाओं) से पृथक व श्रेष्ठ घोषित किया।

५.आधुनिक राजनीति विज्ञान के विद्वान राजनीतिक तथ्यों और निष्कर्षो में एक सम्बद्धता एवं क्रमबद्धता लाना चाहते हैं। अपने क्षेत्र में विशिष्ट सुविज्ञता विकसित करना चाहते हैं ताकि वह स्वायत्ता प्राप्त कर सके। इसके लिए उन्होंने व्यवस्था सिद्धान्त या सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त को राजनीतिक विज्ञान में ग्रहण किया। नियंत्रण और नियमन से संबंधित होने के कारण राजनीति विज्ञान की मौलिकता स्वतः प्रमाणित है।

६.आधुनिक राजनीति विज्ञान अध्ययन की इकाई के रूप में मानव व्यवहार को चुनता है। अतः उससे संबंधित सभी तत्वों व तथ्यों का विशलेषण किया जाना आवश्यक हो जाता है। इस विषय की अन्तः अनुशासनात्मकता इसका प्रमुख आधार है। किसी भी राजनीतिक घटना का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उस घटना से संबंधित मनुष्य वास्तव में किन-किन तत्वों से प्रभावित है लेकिन यह कार्य अत्यन्त जटिल होता है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि जितने अनुशासन हैं उतनी ही दृष्टियॉ है। अतः यह कार्य सामान्य सिद्धान्त ''एकीकरण'' के माध्यम से किया जाता है। कुछ विद्धानों ने अन्तः अनुशासनीय दृष्टिकोण के स्थान पर 'परि-अनुशासनात्मक' (पैन-डिसिप्लिनरी) या अधि अनुशासनीय दृष्टिकोण (ट्रांस-डिसिप्लिनरी) कहना अधिक पसंद किया है।

७.आधुनिक राजनीति विज्ञान तात्कालीक समस्याओं का समाधान करने पर ध्यान देता है। व्यवहारिकतावादी क्रांति के माध्यम से ऐसा प्रतीत हो रहा था कि राजनीति विज्ञान विशुद्ध विज्ञान बनकर मात्र प्रयोगशालाओं और पुस्तकालयों तक सीमित हो जायेगा, किन्तु उत्तर-व्यवहारिकतावादी युग ने अपने आपकों मूल्यों, नीतियों ओर समस्याओं से सम्बद्ध रखा तथा अपने अध्ययन से नागरिकों शासन को नीति-निर्माताओं व राजनीतिज्ञों को लाभान्वित करने का प्रयास किया है।

८.आधुनिक राजनीति विज्ञान की अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था है। उसके पास अभी निश्चित सिद्धान्तों का अभाव है, किन्तु वह इस दिशा में प्रयत्नरत है। माइकेल हस इस ओर संकेत करते हुए तीन बिन्दुओं के आधार पर यह बताते है कि आधुनिक राजनीति विज्ञान में सिद्धान्त निर्माण की प्रवृत्ति दिखायी देती है। ये तीन बिन्दु हैं- 1. निर्णय-निर्माण 2. राजनीतिक विकास 3. द्वन्द तथा एकीकरण।

1.8 परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर

राजनीति विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण का प्रतिपादन ब्लंटश्ली, गैरिस, सीले, गार्नर, लास्की आदि विद्वानों द्वारा किया गया है। आधुनिक दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक

हैं- डेविड, ईस्टन, रॉबर्ट डहल, जी0ई0जी0 केटलिन, मैक्स वेबर और एच0डी0 लासवेल आदि। राजनीति विज्ञान की परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण व आधुनिक दृष्टिकोण की तुलना निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर की जा सकती है-

1.परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं-राज्य, सरकार आदि के अध्ययन पर विशेष बल देता है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन को सर्वाधिक प्रमुखता देता है। इस रूप में आधुनिक राजनीतिक अध्ययन में मानव के मनोवेगों, इच्छाओं, प्रेरणाओं और आकांक्षाओं का अध्ययन किया जाता है।

2.परम्परागत दृष्टिकोण ने स्वयं को केवल राजनीतिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं तक ही सीमित रखा है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही उचित रूप से समझा जा सकता है। अतः राजनीतिक अध्ययन में अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया जाना चाहिए।

3.परम्परागत दृष्टिकोण मूल्यों से युक्त तथा मूल्यों पर आधारित है अतः उसमें व्यक्तिनिष्ठता का आ जाना स्वाभाविक है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण का उद्देश्य राजनीति विज्ञान में लगभग पदार्थ विज्ञानों की सीमा तक वस्तुनिष्ठता लाना है, अतः इसमें मूल्य-मुक्त दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास किया गया है। किन्तु इसके रूचिकर परिणाम न निकलने के कारण आज यह विचार मान्य हो गया है कि राजनीतिक अध्ययन मूल्य-सापेक्ष होना चाहिए लेकिन उसे वैज्ञानिकता प्रदान करने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए।

4.परम्परागत दृष्टिकोण में राजनीति विज्ञान के आदर्शात्मक पक्ष पर बल दिया गया है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण आदर्शवादी पक्ष के स्थान पर यथार्थवादी पक्ष पर अधिक बल देता है।

5.परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन पर बल देता है जिससे यह औपचारिक अध्ययन बनकर रह गया है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा उन साधनों तथा प्रक्रियाओं को अधिक महत्व देता है जिनके आधार पर राजनीतिक संस्थाएँ कार्य करती हैं। इसी कारण आधुनिक राजनीतिक अध्ययनों में एक वास्तविकता आ गयी है।

6.परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए परम्परागत, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और दार्शनिक पद्धतियों का प्रयोग करते हैं लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण मे मनोवैज्ञानिक प्रयोग एवं पर्यवेक्षक की पद्धतियों तथा सांख्यिकी और नमूना सर्वेक्षण आदि पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।

7.परम्परागत दृष्टिकोण अनुमान, सम्भावनाओं और कल्पनाओं पर आधारित है जिससे उसके निष्कर्षों में प्रामाणिकता व निश्चयात्मकता का अभाव होता है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण ठोस तथ्यों पर आधारित होने के कारण निष्कर्षों की निश्चयात्मकता तथा प्रामाणिकता की खोज में हैं। यह सामान्यीकरणों को जन्म देने या सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के प्रयास में संलग्न है।

संक्षेप में, आधुनिक राजनीति विज्ञान और परम्परागत राजनीति विज्ञान में उपर्युक्त विभिन्नताओं के बाद भी ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। आधुनिक राजनीति विज्ञान ने इसे विसतार प्रदान कर अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है।

अभ्यास प्रश्न

१.राजनीति विज्ञान अंग्रेजी भाषा के शब्द Political Science का हिन्दी रूपान्तरण है। सत्य असत्य/

२.यूनानी भाषा में पोलिस का अभिप्राय है नगरराज्य-। सत्यअसत्य/

३.डेविड ईस्टन ने 1950 के दशक में व्यवस्था सिद्धान्त दिया। सत्यअसत्य/

४.राजनीति विज्ञान का सरोकार मूल्यों के आधिकारिक आबंटन से है किसने कहा है,।

५.कैटलिन ने अपनी पुस्तक ''पॉलिटिकल थियरीः व्हट इज इट?'

६.'राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य से ही होता है किसने कहा है ?

७."राजनीति विज्ञान राज्य का विज्ञान है।" किसने कहा है ?

८.राजनीति विज्ञान उसी प्रकार सरकार के तत्वों का अनुसंधान करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अंको का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान एवं लम्बाई चौडाई - का करता है।'' किसने कहा है ?

९.लीकॉक ने लिखा है कि ''राजनीति विज्ञान सरकार से संबंधित विधा है -। सत्यअसत्य/

१० दो.प्रकार की प्रभुसत्ता -1. आन्तरिक और 2. बाह्य। सत्यअसत्य/

1.9 सारांश

समय के साथ राजनीति विज्ञान की परिभाषा और उसका क्षेत्र बदला है। यूरोपिय संस्थाओं, अमरीकी व्यवहारवाद और पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन, ने अपने ढंग से राजनीति विज्ञान के विकास में योगदान

दिया है। परम्परागत तथा आधुनिक 'राजनीति विज्ञान' की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि यह अब केवल राज्य अथवा सरकार से सम्बन्धित विज्ञान नहीं, बल्कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार, राजनीतिक क्रियाओं व प्रक्रियाओं, शक्ति, सत्ता तथा मानव समूहों की अन्तःक्रियाओं का विज्ञान है। आज आधुनिक दृष्टिकोण ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर दिया है। राजनीति विज्ञान सैद्धान्तिक दृष्टि से विज्ञान बन चुका है और जब राजनीति विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यवहारिक जीवन में उतारा जाता है तो यह कला बन जाता है। यह विषय इस तरह कला और विज्ञान दोनों ही बन जाता है। फलतः आज राजनीति विज्ञान का अध्ययन हमारे लिए अधिकधिक उपयोगी होता जा रहा है।

1.10 शब्दावली

1.दृष्टिकोण: समस्याओं और प्रश्नों को देखने के नजरिया , उदाहरण; व्यवहारात्मक अथवा परम्परामूलक दृष्टिकोण।

2.प्रामाणिक: कोई आदेश, जो शक्ति और महत्व का आभास दे और जिसके पालन की सम्भावना हो।

3.आनुभाविक, इंद्रियानुभाविक: निरीक्षण, प्रयोग और अनुभव पर आधारित ज्ञान अथवा अध्ययन।

4.नैतिक: सिद्धान्त अथवा व्यवहार; जो उचित या अनुचित सम्बन्धी नैतिक विश्वासों पर आधारित किसी नैतिक पद्धति विशेष से प्रभावित हो अथवा पहले के विश्वासों से पैदा हो।

5.भौतिकवादी: धन और सांसारिक वस्तुओं की अत्यधिक इच्छा रखने वाला भौतिकवादी मानता है कि धन और वस्तुओं का स्वामित्व ही संसार में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है।

6.नामावली: वस्तुओं का वर्गीकरण।

7.व्यावहारिकतापरक वास्तववाद: ऐसी विचारधारा या चिंतन, जो तथ्यों या जीवन के यथार्थ अनुभवों पर आधारित होती है। इसमें हठधर्मिता या आदर्शवाद नहीं होता।

8.नगर राज्य: प्राचीन यूनान की व्यवस्था, जिसमें राज्य और समाज मिलकर नगर-राज्य बनाते हैं। नगर राज्य केवल वैध अथवा कानूनी राज्य ही नहीं होता था, बल्कि अपने नागरिकों के जीवन के नैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सौन्दर्यनुभूति के पक्षों पर समान रूप से ध्यान देता था।

9.उग्र परिवर्तनवादी: ऐसा व्यक्ति, जो समाज में आमूल परिवर्तन लाना चाहता हो।

10.पुन: प्रवर्तनवादी, पुनरूज्जीवनवादी: ऐसा व्यक्ति, जो ठहरे हुए धर्म या संस्कृति में फिर से नये जीवन का संचार करके उसे लोकप्रिय बनाना चाहता हो।

11.प्रभुसत्ता, सम्प्रभुता: विधिनिर्माण और नियंत्रण के मामले में सर्वोच्च शक्ति; आमतौर से राज्य-शक्ति पर प्रयुक्त। दो प्रकार की प्रभुसत्ता- 1. आन्तरिक और 2. बाह्य।

12.धर्मशास्त्र सम्बन्धी: धर्म या ईश्वर के अध्ययन से सम्बन्धित।

13.सार्वभौमिक: ऐसी विचारधारा या चितंन, जिसका सम्बन्ध संसार के सारे लोगों से हो।

14.अनुभव सिद्ध सिद्धान्त: तथ्यों के अनुभव, प्रयोग और अवलोकन से निर्मित सिद्धान्त।

15.आदर्शमूलक: आदर्श द्वारा प्राप्त एक प्रकार की मनोवृत्ति या एक नीति-संहिता, यानि समाज विशेष में व्यवहार के नियम।

1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.सत्य २.सत्य ३.सत्य ४. डेविड ईस्टन ५.सत्य ६.गार्नर ७.जैम्स ८.सीले ९.सत्य

१० . सत्य

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा

2. सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा

3. आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चॉद कम्पनी लि0, नई दिल्ली

4. गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा

5. जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिग पब्लिकेशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली

1.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.वर्मा, एस0पी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली

2. दास,पी0जी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी,न्यू सेंण्ट्रल बुक एजेंसी,कलकत्तां

3. जैन,एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली

4. संधु,ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविधालय

5.. वर्मा, एस0एल0- एडवांसड मार्डन पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली.

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. परम्परागत राजनीति विज्ञान का विषय क्षेत्र क्या है? स्पष्ट कीजिए।
2. परम्परागत दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए राजनीति विज्ञान की प्रकृति का विवेचन कीजिए?
3. क्या राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है अथवा कला? अपने विचार दीजिए।
4. राजनीति विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
5. परम्परागत राजनीति विज्ञान की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
6. आधुनिक राजनीति विज्ञान की परिभाषा एवं क्षेत्र की समीक्षा करें।
7. परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर बताइए।
8. आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
9. आधुनिक राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन है, संक्षेप में बताइए।

इकाई 2 - राजनीति विज्ञान, राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक दर्शन

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 राजनीति तथा राजनीति विज्ञान
2.3 राजनीतिक सिध्दांत का अर्थ, परिभाषा
2.4 राजनीतिक सिध्दांत
2.5 राजनीतिक सिध्दांत का कार्य क्षेत्र
2.6 राजनीतिक सिध्दांत के महत्व
2.7 राजनीतिक दर्शन
2.8 राजनीति विज्ञान- सर्वाधिक उपयुक्त नाम
2.9 सारांश
2.10 शब्दावली
2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावनाः

राजनीति ने सदा ही सामाजिक जीवन में निर्णायक भूमिका निभाई है। वर्तमान समय में यह भूमिका लगातार बढ़ती ही जा रही है। वैचारिक स्तर पर भी राजनीति का हमेशा पूर्व और पश्चिम में खास स्थान रहा है। प्राचीन यूनानी 'नगर-राज्यों' का अध्ययन करने वाला विषय 'राजनीति', आधुनिक युग में राष्ट्रीय राज्यों के जन्म लेने से अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से बदला है, फलतः इसे अब तक अनेक नामों जैसे- राजनीति, राजनीति दर्शन, राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीति विज्ञान आदि की संज्ञा दी जा चुकी है। वर्तमान में हमारे लिए इन नामों के अर्थ तथा इनका अन्तर समझना आवश्यक हैं।

2.1उद्देश्य

राजनीति विज्ञान के लम्बे इतिहास में अनेक नाम और स्वीकार किए गये है। अतः इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः-

राजनीति विज्ञान के मानक नाम को लेकर मौजूद विवादों का निराकरण करने में सक्षम होंगे ।

राजनीतिक दर्शन के अर्थ को समझ सकेंगे ।

राजनीतिक सिद्धांत को अच्छी तरह से समझ सकेंगे ।

राजनीति विज्ञान, राजनीतिक दर्शन और राजनीतिक सिद्धांत के अंतर को जान सकेंगे ।

2.2 राजनीति तथा राजनीति विज्ञान

500 ई0पू0 यूनानी 'नगर-राज्यों' की स्थिति एवं राजनीतिक-गतिविधियों से सम्बन्धित ज्ञान को 'राजनीति' कहा जाता था। उस समय नागरिक जीवन से सम्बन्धित गतिविधियों का भिन्न-भिन्न अनुशासनों के तौर पर बॅटवारा नहीं किया गया था, सारे विषय 'पालिटिक्स' के अन्दर समाहित थे। इसीलिए, अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा और 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगर-राज्य' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया था। अरस्तू के पश्चात जेलीनेक, सिजविक, हॉस्टजन-डॉफ्र आदि लेखकों द्वारा भी 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया गया। उनके अनुसार राज्य और सरकार से सम्बन्धित समस्त विषय सामग्रियॉ 'राजनीति' के अन्तर्गत आती है। लास्की ने अपने ग्रन्थ को ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स नाम दिया है। विल्सन ने राजनीति के सिद्धान्त नाम से पुस्तक लिखी है। वर्तमान राजनीतिशास्त्रियों लासवैल, डहल, ईस्टन, व हींजयुलाऊ ने भी इस विषय के लिए राजनीति शब्द का ही प्रयोग किया है।

सर फ्रेडरिक पोलक ने भी राजनीति शब्द का प्रयोग इसके लिए किया है। पोलक ने इस शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बॉटा है- सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक राजनीति । सैद्धान्तिक राजनीति के अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति, प्रकृति, लक्षण एवं उद्देश्य आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है, जबकि व्यावहारिक राजनीति के अन्तर्गत हम राज्यों की वास्तविक कार्य प्रणालियों एवं राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक जीवन का अध्ययन करते हैं। इस विभाजन में हमारे अध्ययन की सम्पूर्ण सामग्री आ जाती है। इसीलिए यह विभाजन बहुत उपयोगी है। जिस अर्थ में प्राचीन विचारकों ने 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया था, उसी अर्थ में इस संज्ञा का प्रयोग यदि किया जाए तो इस शास्त्र के लिए 'राजनीति' नाम में कोई आपत्ति नहीं रहेगी। लेकिन आज राजनीति शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में नहीं किया जाता है।

आज तो 'राजनीति' शब्द का प्रयोग और भी संकुचित अर्थों में किया जाने लगा है। दैनिक जीवन में घरेलू राजनीति, समूह राजनीति, कॉलेज तथा गॉव की राजनीति की चर्चा होती है। 'राजनीति' का प्रयोग धोखेबाजी, बेईमानी, झूठ, फरेब आदि अर्थों में भी किया जाता है।

अरस्तू के समय से राजनीति विज्ञान एक लम्बा रास्ता तय कर चुका है और इसके लिए 'राजनीति' शब्द का इस्तेमाल सही नहीं लगता है। यह शब्द अपने नये अर्थ में व्यावहारिक पक्ष तक सीमित है। आधुनिक अर्थ में वह व्यावहारिक गतिविधियों तक सीमित रह गया है, फलस्वरूप इसमें इस विषय

के सैद्धान्तिक और नैतिक पक्ष छूट जाते हैं। इसलिए 'राजनीति' शब्द इस विषय का मानक नाम होने के लिए ठीक नहीं है।

'राजनीति' शब्द से आपत्तियाँ

इस विषय के नाम को 'राजनीति' रखने पर निम्नलिखित आपत्तियॉ आती हैं, जिनके कारण इसका नामकरण 'राजनीति' नहीं किया जा सकता है-

1.अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से- सर फ्रेडरिक पोलक के वर्गीकरण में राजनीति के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष समा जाते हैं। यदि इस विस्तृत दृष्टिकोण से सोचा जाए तो यह विषय राजनीति नाम से जाना जा सकता है किन्तु वर्तमान में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में न किया जाकर संकुचित अर्थों में किया जाता है। आधुनिक लेखकों (जैनेट, सी0 लेविस तथा अलेक्जेण्डरवेन) ने 'राजनीति' का तात्पर्य प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक राजनीति से लिया है।

2. राजनीति में शास्त्रीय एकरूपता की कमी- आजकल 'राजनीति' शब्द किसी राजनीतिक सस्था, स्थान विशेष के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है; जैसे- भारत की राजनीति, दिल्ली की राजनीति, ग्रामीण राजनीति। प्रत्येक देश की राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति किसी अन्य देश की राष्ट्रीय और स्थानीय राजनीति से भिन्न होती है। क्योंकि उनकी परिस्थितियों में विभिन्नता होती है। इसलिए राजनीति के अध्ययन में समानता नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय एकरूपता के अभाव में इस विषय को 'राजनीति' नाम नहीं दिया जा सकता है।

3. गरिमारहित शब्द- आज 'राजनीति' शब्द का प्रयोग इतने भ्रष्ट अर्थों में होने लगा है कि समस्त गलत काम करने और उनमें सफलता पाने का प्रयास करना भर इसका प्रतीक माना जाने लगा है। दैनिक जीवन में घरेलू राजनीति, जाति-राजनीति, क्षेत्र-राजनीति, देश-राजनीति, समूह-राजनीति, अमुक व्यक्ति की राजनीति, दलगत राजनीति के लिए इसका प्रयोग होता है। अंग्रेजी में कहावत है कि, (राजनीति दुष्ट पुरूष का अन्तिम आश्रय स्थल है।)

सर अर्नेस्ट बेन के शब्दों में- "राजनीति किसी परेशानी को ढूँढ़ने, उसे खोज निकालने, चाहे उसका अस्तित्व हो या न हो, उसका गलत कारण बताने और उसका गलत हल ढूँढ़ निकालने की कला है.

अतः कहा जा सकता है कि इस विषय को 'राजनीति' नाम देना नितान्त अव्यवहारिक एवं असंगत होगा।

.गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "विवेक तथा प्रचलन के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है । सत्य/असत्य

२.अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा।। सत्य/असत्य

३.अरस्तू ने 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगरराज्य-' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया। सत्य/असत्य

४.सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं। सत्य/असत्य

५.सर फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बॉटा हैसैद्धान्तिक राजनीति - और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक। सत्य/असत्य

2.3 राजनीतिक सिद्धान्त: अर्थ, परिभाषा (Political Theory: Meaning, Definitions)

राजनीतिक सिद्धान्त के अर्थ को समझने के लिए 'राजनीतिक' और 'सिद्धान्त' इस दोनों ही शब्दों को अलग अलग समझने की आवश्यकता है। पहले 'सिद्धान्त' शब्द को समझने का प्रयास करेंगे। सिद्धान्त को अंग्रेजी में (Theory) थ्योरी कहते है जो कि एक ग्रीक शब्द है जिसका संबंध अन्य दो शब्दों (i) थ्यूरिया (Theoria) (ii) थ्योरमा (Theorema) से है। (i) थ्यूरिया, का अर्थ है जो हमारे आस पास घटित हो रहा है उसे समझने की क्रिया अथवा प्रक्रिया; इसे 'सैद्धांतिकरण' (Theorizing) कहा जाता है तथा (ii) थ्योरमा, जिसका अर्थ है वह निष्कर्ष जो इस 'सैद्धांतिकरण' की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निकलते हैं। इन दोनों शब्दों की विशिष्टता यह है कि ये सैद्धांतिकरण प्रक्रिया (Activity of Theorizing) तथा इस प्रक्रिया से निकलने वाले निष्कर्षों (Outcome of the activity) में अंतर करती है। शब्द सैद्धांतिकरण का संबंध किसी घटना को समझने का प्रयत्न है। इसका अभिप्राय किसी परिणाम अथवा निष्कर्ष को सिद्ध करना अथवा उसे वैध ठहरना नहीं है।

दूसरा शब्द 'राजनीतिक' भी ग्रीक भाषा से संबन्धित शब्द 'पोलिस' से निकला है जिसका अर्थ है नगर-राज्य अर्थात किसी भी समुदाय के अच्छे जीवन से संबन्धित सभी पक्षों के लिए निर्णय लेने की सामूहिक शक्ति। अपने आधुनिक रूप में 'राजनीतिक' शब्द राज्य तथा इससे संबन्धित संस्थाओं जैसे सरकार, विधानमंडल अथवा सार्वजनिक नीति का प्रतिनिधित्व करता है।

राजनीतिक सिद्धांत उन मौलिक विचारों, अवधारणाओं और सिद्धांतों का बौद्धिक अन्वेषण है जो समाज के संगठन, कामकाज और शासन को आकार देते हैं। यह एक अकादमिक अनुशासन है जो राजनीति, सत्ता और अधिकार की जटिल गतिशीलता को समझने और उसका विश्लेषण करने का

प्रयास करता है, जिसका उद्देश्य सरकार की प्रकृति, नागरिकों के अधिकारों, जिम्मेदारियों, संसाधनों और अवसरों के उचित और न्यायसंगत वितरण में अंतर्दृष्टि प्रदान करना है।

अपने मूल में, राजनीतिक सिद्धांत गहन महत्व के प्रश्नों पर प्रकाश डालता है, जैसे कि राजनीतिक प्राधिकरण की उत्पत्ति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा में राज्य की भूमिका, और एक समुदाय के भीतर न्याय और समानता की खोज। आलोचनात्मक अध्ययन के माध्यम से, राजनीतिक सिद्धांतकार उन अंतर्निहित दार्शनिक नींव को उजागर करने का प्रयास करते हैं जो राजनीतिक प्रणालियों और संस्थानों को रेखांकित करते हैं, जो मानवीय मामलों के पाठ्यक्रम को प्रभावित करते हैं।

राजनीतिक सिद्धांत की उत्पत्ति प्राचीन सभ्यताओं में देखी जा सकती है, जहां प्लेटो, अरस्तू और कन्फ्यूशियस जैसे विचारकों ने शासन, नैतिकता और आदर्श राज्य की प्रकृति पर विचार किया था। पूरे इतिहास में, मैकियावेली के "द प्रिंस", थॉमस हॉब्स के "लेविथान" और जॉन लॉक के "टू ट्रीटीज़ ऑफ़ गवर्नमेंट" जैसे मौलिक कार्यों ने सामाजिक अनुबंध, मानव स्वभाव और शासकों और शासितों के बीच संबंधों के बारे में हमारी समझ को आकार दिया है।

समकालीन समय में, वैश्वीकरण, तकनीकी प्रगति और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के लगातार बदलते परिदृश्य के कारण आने वाली नई चुनौतियों को अपनाते हुए, राजनीतिक सिद्धांत विकसित हो रहा है। राजनीतिक सिद्धांतकार मानवाधिकार और सामाजिक न्याय से लेकर पर्यावरणीय नैतिकता और समाज पर राजनीतिक विचारधाराओं के प्रभाव तक के विषयों पर चर्चा करते हैं।

विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक सिद्धान्त की विभिन्न परिभाषाएँ दी। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

एंड्रयू हेकर (Andrew Hacker) के अनुसार, " राजनीतिक सिद्धान्त में 'तथ्य' (Fact) और मूल्य (Values) दोनों समाहित हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं। दूसरे शब्द में हर सिद्धान्त शास्त्री एक वैज्ञानिक और 'दार्शनिक' है, दोनों की भूमिका निभाता है। (Every political theoriest worthy of the name plays double role.. He is part scientist and part philosopher and he will divide his time between the two pursuits according to his own temperament and interests.)

जेर्मिनो (Germino) के अनुसार, " राजनीतिक सिद्धान्त मानवीय सामाजिक अस्तित्व की उचित व्यवस्था के सिद्धांतों का आलोचनात्मक अध्ययन है"। (Political Theory is the critical study of the principles of right order in human social existence.)

जॉर्ज सेबाइन (George Sabine) के अनुसार "व्यापक तौर पर राजनीतिक सिद्धांत से अभिप्राय उन सभी बातों से है जो कि राजनीति से संबन्धित या प्रासंगिक है और संकीर्ण दृष्टि में इसका अर्थ राजनीतिक समस्याओं की विधिवत छानबीन से है। (Broadly political theory means 'as anything about poitics or relevant to politics' and narrowly as the disciplined investigation of political problems.)

2.4 राजनीतिक सिद्धांतों की विशेषताएँ (Characteristics of Political Theory)

राजनीतिक सिद्धांत राजनीति विज्ञान के भीतर एक अनुशासन है जो राजनीतिक प्रणालियों और व्यवहार को रेखांकित करने वाले सिद्धांतों, अवधारणाओं और विचारों को समझने और उनका विश्लेषण करने का प्रयास करता है। इसमें विभिन्न राजनीतिक विचारों, विचारधाराओं और दर्शन का व्यवस्थित अध्ययन और परीक्षण शामिल है। यहाँ राजनीतिक सिद्धांत की कुछ प्रमुख विशेषताएँ दी गई हैं:

मानक प्रकृति (Normative Nature) : राजनीतिक सिद्धांत अपने दृष्टिकोण में मानक है, जिसका अर्थ है कि यह मूल्य, नैतिकता और राजनीतिक प्रणालियों को आदर्श रूप से कैसे कार्य करना चाहिए, के प्रश्नों से संबंधित है। इसका उद्देश्य न्याय, समानता, स्वतंत्रता और अन्य नैतिक सिद्धांतों को बढ़ावा देने वाली सरकार और नीतियों के सर्वोत्तम रूपों का मूल्यांकन और निर्धारण करना है।

वैचारिक विश्लेषण(Conceptual Analysis): राजनीतिक सिद्धांत में शक्ति, अधिकार, वैधता, न्याय, स्वतंत्रता, लोकतंत्र और अधिकारों जैसी मुख्य राजनीतिक अवधारणाओं का गहन अन्वेषण शामिल है। लक्ष्य राजनीतिक घटनाओं के बारे में हमारी समझ को बढ़ाने के लिए इन अवधारणाओं को स्पष्ट और परिष्कृत करना है।

ऐतिहासिक और दार्शनिक जड़ें (Historical and Philosophical Roots): राजनीतिक सिद्धांत अक्सर ऐतिहासिक और दार्शनिक स्रोतों पर आधारित होता है, जिसमें प्लेटो, अरस्तू, मैकियावेली, हॉब्स, लोके, रूसो और कई अन्य जैसे शास्त्रीय राजनीतिक दार्शनिकों के काम शामिल हैं। इसमें समकालीन राजनीतिक विचारक भी शामिल हैं।

वैचारिक परीक्षण (Ideological Examination): राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न विचारधाराओं की जांच करता है, जैसे उदारवाद, रूढ़िवाद, समाजवाद, नारीवाद और अन्य। यह उनकी उत्पत्ति, अंतर्निहित धारणाओं और राजनीतिक अभ्यास के लिए निहितार्थ का विश्लेषण करता है।

आलोचनात्मक विश्लेषण (Critical Analysis): राजनीतिक सिद्धांतकार आलोचनात्मक सोच और विश्लेषण में संलग्न होते हैं, मौजूदा राजनीतिक संस्थानों, प्रथाओं और सामाजिक मानदंडों पर सवाल उठाते हैं। उनका उद्देश्य राजनीतिक प्रणालियों के भीतर संभावित पूर्वाग्रहों, विरोधाभासों और छिपी शक्ति संरचनाओं को उजागर करना है।

सार और सैद्धांतिक: राजनीतिक सिद्धांत अनुभवजन्य डेटा के बजाय अमूर्त और सैद्धांतिक विचारों से संबंधित है। यह राजनीतिक घटनाओं को समझने के लिए सामान्य सिद्धांत और रूपरेखा स्थापित करना चाहता है।

अंतःविषय दृष्टिकोण: राजनीतिक सिद्धांत अक्सर अपने विश्लेषण को समृद्ध करने के लिए दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और अन्य क्षेत्रों से अंतर्दृष्टि प्राप्त करते हुए एक अंतःविषय दृष्टिकोण अपनाता है।

2.5 राजनीतिक सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र:

राजनीति का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितनी की मनुष्य की गतिविधियां। जीवन का कोई भी क्षेत्र या पहलू ऐसा नहीं जो राजनीति से अछूता हो । उदारवादियों ने राजनीति का रिश्ता केवल सरकार और नागरिकों तक ही सीमित रखा जबकि मार्क्सवादियों ने उत्पादन के साधनों पर भी सरकार का ही स्वामित्व माना है। नारीवादी पारिवारिक और घरेलू मामलों में भी राजी के हस्तक्षेप की वकालत करते हैं। इस आधार पर देखा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक है। निम्नलिखित विषयों को राजनीतिक सिद्धान्त के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है:

1. **राज्य का अध्ययन:** प्राचीन कल से ही राज्य की उत्पति, प्रकृति तथा कार्यक्षेत्र पर विचार होता रहा है। राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई? उसका विकास कैसे हुआ? राज्य की नगर-राज्य से लेकर वर्तमान की राष्ट्रीय राज्य तक की विकास यात्रा किस प्रकार रही? राज्य से संबन्धित बुनियादी सवालों का इसके अंतर्गत अध्ययन किया जाता है। इससे

संबन्धित विद्वान राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त जैसे कि दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, भौतिकवादी सिद्धान्त का विश्लेषण करते हैं।

2. **सरकार का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धांत राज्य के भीतर सरकारों के कामकाज और संरचना का अध्ययन करता है। इसमें शक्तियों के पृथक्करण, सरकार की विभिन्न शाखाओं (कार्यकारी, विधायी और न्यायपालिका) की भूमिका और निर्णय लेने और नीति कार्यान्वयन के तंत्र की जांच करना शामिल है। राजनीतिक सिद्धांतकार शासन की अवधारणा और शासकों और नागरिकों के बीच संबंधों का भी विश्लेषण करते हैं।
3. **शक्ति का अध्ययन:** वर्तमान में शक्ति कि अवधारणा का अध्ययन राजनीतिक सिद्धान्त का महत्वपूर्ण विषय बन चुका है। यह विश्लेषण करता है कि राजनीतिक अभिनेताओं और संस्थानों द्वारा सत्ता कैसे अर्जित की जाती है?कैसे वैध बनाई जाती है? और उसका प्रयोग कैसे किया जाता है। सत्ता और उसके स्रोतों की अवधारणा राजनीतिक सिद्धांत में एक केंद्रीय विषय है, क्योंकि यह निर्धारित करती है कि शासन करने और बाध्यकारी निर्णय लेने का अधिकार किसके पास है।
4. **मानवीय व्यवहार का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धांत मानता है कि राजनीति मूलतः मानवीय व्यवहार और अंतःक्रियाओं से संचालित होती है। इस प्रकार, यह पता लगाता है कि व्यक्ति और समूह राजनीतिक संदर्भों में कैसे व्यवहार करते हैं, वे कैसे राय बनाते हैं, निर्णय लेते हैं और राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेते हैं। मानव व्यवहार को समझने से राजनीतिक सिद्धांतकारों को मतदान पैटर्न, जनता की राय और राजनीतिक आंदोलनों और सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता का विश्लेषण करने में मदद मिलती है।
5. **नीति निर्माण प्रक्रिया का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धांत नीति-निर्माण की प्रक्रिया की जांच करता है, जिसमें सरकारी नीतियों का निर्माण, कार्यान्वयन और मूल्यांकन शामिल है। यह समझने का प्रयास करता है कि नीतियां कैसे विकसित की जाती हैं, नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करने वाले कारक और समाज पर नीतियों का प्रभाव क्या है। राजनीतिक सिद्धांतकार विभिन्न नीति दृष्टिकोणों की प्रभावशीलता का आकलन कर सकते हैं और सार्वजनिक नीतियों के मूल्यांकन और सुधार के लिए मानक ढांचे की पेशकश कर सकते हैं।
6. **अंतराष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन :** राजनीतिक सिद्धांत अपना दायरा अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन तक बढ़ाता है, जो राष्ट्र-राज्यों, गैर-राज्य अभिनेताओं और अंतरराष्ट्रीय संगठनों के बीच बातचीत की जांच करता है। राजनीतिक सिद्धांतकार कूटनीति, युद्ध और शांति, वैश्विक शासन, अंतर्राष्ट्रीय कानून और देशों के बीच शक्ति

और प्रभाव की गतिशीलता जैसे विषयों का विश्लेषण करते हैं। वे अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली की प्रकृति और वैश्विक क्षेत्र में राज्यों की भूमिका पर विभिन्न सिद्धांतों और दृष्टिकोणों का पता लगाते हैं।

7. **क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का अध्ययन :** राजनीतिक सिद्धांत में क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का अध्ययन शामिल है, जो सहयोग को बढ़ावा देने और आम चुनौतियों का समाधान करने के लिए एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र के देशों द्वारा गठित संस्थान हैं। इन संगठनों के राजनीतिक, आर्थिक, सुरक्षा या सामाजिक उद्देश्य हो सकते हैं। राजनीतिक सिद्धांतकार क्षेत्रीय और वैश्विक मामलों पर उनके गठन, कामकाज और प्रभाव के साथ-साथ क्षेत्रीय गतिशीलता को आकार देने में उनकी भूमिका की जांच करते हैं।
8. **नारीवाद का अध्ययन:** राजनीतिक सिद्धांत के दायरे में, नारीवाद अध्ययन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। नारीवादी राजनीतिक सिद्धांत राजनीति और समाज में लिंग की भूमिका की आलोचनात्मक जांच करता है। यह विश्लेषण करता है कि लिंग कैसे सत्ता संरचनाओं, राजनीतिक भागीदारी और नीति परिणामों को आकार देता है। नारीवादी राजनीतिक सिद्धांतकार लैंगिक समानता और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के लक्ष्य के साथ लिंग आधारित असमानताओं, भेदभाव और पितृसत्ता को समझने और चुनौती देने का प्रयास करते हैं।

2.6 राजनीतिक सिद्धान्त के महत्व

1. ज्ञान का सरलीकरण: सिद्धान्त ज्ञान का सरलीकरण है। इससे किसी भी विषय को समझने में आसानी होती है। सिद्धान्त प्रतिमान स्थापित करके विभिन्न तथ्यों को प्रतीक में बादल देता है। विभिन्न तथ्यों और घटनाओं को प्रतीक बनाकर परिभाषित करना सिद्धान्त की महत्ता है।

2. नए शोध उपकरण खोजना: सिद्धान्त की सहायता से नए प्रयोग व आविष्कार के लिए नए शोध उपकरण खोजता है। वह सिद्धान्त उतना ही ज्यादा उपयोगी सिद्ध होगा जो नए सिद्धान्त खोजने की क्षमता रखता है।

3. अन्वेषकों के लिए लाभदायक: डेविड ईस्टन का विचार है कि राजनीतिक सिद्धान्त अन्वेषन के लिए विशेषकर लाभदायक है। डेविड ईस्टन ने यह विचार प्रकट किया है कि "यदि सैद्धांतिक रूपरेखा पहले विद्धमान होगी तो विभिन्न प्रकार के तथ्यों को क्रमबद्ध करना और सामान्यीकरण निश्चित करने का कार्य सरलतापूर्वक किया जा सकता है।

4. स्वायत्त अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित करना: राजनीति विज्ञान को एक स्वायत्त अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए "राजनीतिक सिद्धान्त" अपरिहार्य है। इसी पर इस विषय में एकीकरण, सामंजस्य,पूर्वकथनीयता एवं वैज्ञानिकता लाना तथा अन्य शोध संभावनाएँ निर्भर हैं।

5. शासन प्रणाली एवं शासकों को औचित्यपूर्णता प्रदान करना: शासन प्रणाली एवं शासकों के कार्यों को औचित्यपूर्णता प्रदान करने में सिद्धान्त एक उपकरण कि भूमिका अदा करता है।

2.7 राजनीतिक दर्शन

अभी हाल तक 'राजनीतिक दर्शन' शब्द का इस्तेमाल राजनीति विज्ञान के लिए होता रहा और आज भी कुछ विद्वान राजनीति विज्ञान के स्थान पर 'राजनीतिक दर्शन' शब्द के प्रयोग पर बल देते हैं। वे इस शब्द के पक्ष में निम्न तर्क देते हैं-

1.विद्वानों का तर्क है कि राजनीति विज्ञान की प्रकृति सैद्धान्तिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक है। इसके अन्तर्गत हम राज्य की उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, उद्देश्य, व्यक्तियों के अधिकार तथा कर्त्तव्य एवं राजनीतिक धारणाओं का अध्ययन करते हैं। राज्य सम्बन्धी अध्ययन का मुख्य भाग ये सिद्धान्त ही हैं, इसीलिए इसे 'राजनीतिक दर्शन' कहना उचित होगा।

2.राजनीतिक दर्शन राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है। इसके अधिकांश सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन से ही लिये गये हैं। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दर्शन एक दृष्टि से राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है क्योंकि प्रथम (राजनीतिक दर्शन) की मौलिक मान्यताओं पर ही द्वितीय (राजनीतिक विज्ञान) आधारित है। साथ ही राजनीतिक दर्शन को भी स्वयं बहुत-सी ऐसी सामग्री का प्रयोग करना पड़ता है जो उसे राजनीति विज्ञान से प्राप्त होती है।"

3.'दर्शन' एक प्रतिष्ठित शब्द है। वह विषय, जो स्थानीय तथा शाश्वत महत्व के विषयों से सम्बन्धित है, उसे 'राजनीतिक दर्शन' जैसा सम्मानजनक नाम ही दिया जाना चाहिए।

नामकरण पर आपत्तियॉ

विद्वानों द्वारा इस नामकरण के संदर्भ में निम्नांकित आपत्तियॉ प्रस्तुत की गयी हैं-

1.अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से- 'राजनीतिक दर्शन' के अन्तर्गत विषय का सम्पूर्ण सैद्धान्तिक अध्ययन ही आता है, व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन नहीं आता, जबकि सैद्धान्तिक राजनीति के साथ

व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। जे0एल0 हैलोवेल के अनुसार, "राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं में निहित विचारों और आकांक्षाओं से है। इस कारण राजनीतिक दर्शन विषय का अपूर्ण अध्ययन ही है।"

2.प्रकृति की दृष्टि से- 'राजनीतिक दर्शन' शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है जैसे यह विषय एक कला ही है विज्ञान नहीं। अतः 'राजनीतिक दर्शन' शब्द विषय की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं।

3.'दर्शन' शब्द अनिश्चितताओं और अवास्तविकताओं का प्रतीक- आधुनिक युग में 'दर्शन' शब्द अनिश्चितताओं और अवास्तविकताओं का प्रतीक बन गया है। 'राजनीतिक दर्शन' शब्द के प्रयोग से यह आशय यह होगा कि इस विषय में राज्य की समस्याओं पर कल्पना के आधार पर विचार किया जाता है जो वास्तविकता से दूर रहती हैं।

राजनीतिक दर्शन मुख्य रूप से आदर्श मूलक ष्छवतउंजपअमष् होता है, जो क्या अच्छा है यह सुझाता है और क्या होना चाहिए सम्बन्धी प्रश्नों पर ध्यान देता है। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान राजनीतिक घटनाओं को समझने की कोशिश करता है, ताकि इसके आधार पर सामान्य नियम बन सकें । यह औपचारिक रिश्तों की खोज करने की कोशिश करता है। इस नजरिये में, दर्शन के विपरीत, राजनीति विज्ञान 'क्या होना चाहिए' की अपेक्षा, क्या है, से अधिक सम्बन्ध रखता है। कुल मिलाकर, राजनीतिक दर्शन आधारभूत सैद्धान्तिम और दार्शनिक सिद्धान्तों पर बल देता है और राजनीतिक विश्लेषण के व्यावहारिक और कार्यप्रणाली सम्बन्धी पक्षों को अछूता छोड़ देता है। यही कारण है कि 'राजनीतिक दर्शन' शब्द को भी इस विषय के मानक नाम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

2.8 राजनीति विज्ञान- सर्वाधिक उपयुक्त नाम

अधिकांश विद्वानों का मत है कि 'राजनीति' और 'राजनीतिक दर्शन' की अपेक्षा 'राजनीति विज्ञान' नाम सर्वाधिक उपयुक्त है।

राजनीति विज्ञान शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम गॉडविन और मेरी वुल्सटोनेक्राफ्ट द्वारा किया गया था। आज यही सर्वसम्मत नाम बन गया हैं। इस मत के समर्थन में निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं-

1.अध्ययन क्षेत्र के अनुरूप- 'राजनीति विज्ञान' शब्द के अन्तर्गत हमारे अध्ययन-विषय राजनीति के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प़क्ष आ जाते हैं, अतः यह शब्द हमारे अध्ययन-विषय के अनुकूल है।

2.विषय की प्रकृति के अनुकूल- 'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत विषय विज्ञान और कला दोनों है। प्रकृति के अनुकूल होने के कारण 'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त है।

3.सम्मानप्रद संज्ञा- आधुनिक युग में राजनीति विज्ञान प्रस्तुत विषय के लिए एक सम्मानप्रद संज्ञा है। सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं। सन् 1948 में यूनेस्को के तत्वाधान में हुए एक सम्मेलन में राजनीति विज्ञानियों ने 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त ठहराया था। गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "विवेक तथा प्रचलन के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है।"

अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा और 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगर-राज्य' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया

सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं

सर फ्रेडरिक पोलक ने भी राजनीति शब्द का प्रयोग इसके लिए किया है। पोलक ने इस शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बॉटा है- सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक।

सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं।

सन् 1948 में यूनेस्को के तत्वाधान में हुए एक सम्मेलन में राजनीति विज्ञानियों ने 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त ठहराया था।

अभ्यास प्रश्न

१.गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "विवेक तथा प्रचलन के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है। सत्य/असत्य

२.अरस्तू ने 'पालिटिक्स' को मास्टर साइंस कहा।। सत्य/असत्य

३.अरस्तू ने 'राजनीति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले अपनी 'नगरराज्य-' से सम्बन्धित पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया। सत्य/असत्य

४.सीले, विलोबी, गैटल, गार्नर आदि भी 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं। सत्य/असत्य

५.सर फ्रेडरिक पोलक ने राजनीति शब्द को व्यापक अर्थ में उपयोग करते हुए उसे दो भागों में बॉटा हैसैद्धान्तिक राजनीति - और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक। सत्य/असत्य

2.9 सारांशः

अभी हाल के वर्षों तक राजनीति के अध्ययन के लिए एक मानक नामावली पर आमराय नहीं बन पायी। इस शास्त्र के लम्बे इतिहास में अनेक नाम सुझाए गए और स्वीकार किये गये हैं, किन्तु उनके विवेचन में यहीं नतीजा निकलता है कि इसके लिए 'राजनीति विज्ञान' शब्द ही सबसे सही है और यही नाम सामान्य रूप से स्वीकृत/मान्य हो चुका है।

2.10 शब्दावली

प्राधिकार - किसी विशेष संदर्भ में शासन करने या निर्णय लेने की वैध शक्ति,

न्याय- संसाधनों और दण्ड के वितरण में निष्पक्षता,

स्वतंत्रता - दमनकारी प्रतिबंधों या नियंत्रण से मुक्ति।

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. सत्य २. सत्य ३. सत्य ४. सत्य ५. सत्य

2.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा
2. सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा
3. आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चॉद कम्पनी लि0, नई दिल्ली
4. गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा
5. जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिग पब्लिकेशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली
6. वर्मा, एस0पी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली
7. दास, पी0जी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी,न्यू सेंण्ट्रल बुक एजेंसी,कलकत्तां

2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

8. जैन, एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली

9. संधु, ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविधालय

10. वर्मा, एस0एल0-एडवांसड मार्डन पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली.

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक अध्ययन के लिए इस्तेमान होने वाले विभिन्न नाम बताइए। किस नाम को सबसे सही माना जाता है?

2. राजनीतिक विज्ञान और राजनीति दर्शन पर एक संक्षिप्त नोट तैयार कीजिए।

3. अधिकांश राजनीति वैज्ञानिक इस विषय के लिए 'राजनीति' शब्द के प्रयोग के पक्ष में क्यों नहीं है।

इकाई 3 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

(दर्शनशास्त्र समाजशास्त्र इतिहास अर्थशास्त्र मनोविज्ञान)

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध
3.2.1 राजनीति विज्ञान और दर्शन शास्त्र
3.2.2 राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र
3.2.3 राजनीति विज्ञान और इतिहास
3.2.4 राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र
3.2.5 राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान
3.3 सारांश
3.4 शब्दावली
3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

मानव एक ऐसा संश्लिष्ट ; जीव है जो एक साथ अनेक भूमिकाओं का निर्वहन करता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह परिवार, जाति, धर्म, गॉव, शहर और राजनीतिक संगठनों के सदस्य के रूप में भूमिका निभाता है। उसके जीवन के विविध पक्षों सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक ऐतिहासिक आदि का विभिन्न समाज विज्ञानों द्वारा अध्ययन किया जाता है। मानवीय जीवन के विविध पक्षों, गतिविधियों को स्पष्ट करने के लिए सभी सामाजिक विज्ञानों की पूरक भूमिका होती है। इसलिए, मानव और समाज के मूल तत्व को समझने के लिए किसी विशिष्ट सामाजिक विज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करना ही पड़ता है।

बीसंवी शताब्दी के उत्तरार्ध में सामाजिक विज्ञानों के बीच के अंतःसम्बन्धों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है और विज्ञानों के अध्ययन हेतु एक नई पद्धति अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन पद्धति अस्तित्व में आई है। इसके द्वारा एक विशेष समाज सम्बन्धी विषय का अध्ययन करने वाले विद्वान अन्य विषयों का अध्ययन करने वाले विद्वानों से समन्वय बनाये रखते हैं। अब विद्वानों ने इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया है कि विभिन्न समाज विज्ञानों का पृथक-पृथक अध्ययन लाभदायी नहीं हो सकता क्योंकि सम्पूर्ण समाज एक सूत्र में बंधा हुआ है और समाज से सम्बन्धित विविध पहलू भी परस्पर एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। अतः उनका पृथक-पृथक अध्ययन किया जा सकना सम्भव नहीं है। विभिन्न समाज विज्ञानों के क्षेत्र में व्यवहारवार के उदय के पश्चात् यह तथ्य और भी अधिक उभरकर सामने आ गया है कि सभी समाज विज्ञानों का अध्ययन अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति से किया जाना चाहिए। इसी स्वाभाविक क्रम में, राजनीति विज्ञान ने भी इस प्रक्रिया में भाग लिया है। फलतः राजनीति विज्ञान के विद्वानों का मानना है कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करने के लिए राजनीति विज्ञान का अध्ययन अन्तर-अनुशासनात्मक पद्धति से करना पड़ेगा क्योंकि मनुष्य समाज में रहकर जो व्यवहार करता है, उसकी पृष्ठभूमि में मात्र राजनीतिक कारण नहीं होते वरन् उसके पीछे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक कारण भी होते है। डॉ0 गार्नर के शब्दों में, "हम दूसरे समाज विज्ञानों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार गणित के बिना यंत्र विज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीव विज्ञान का यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः-

राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.
राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.
राजनीति विज्ञान और इतिहास के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.
राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.
राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध को समझ सकेंगे.
और अंततःयह समझ सकेंगे कि समाज के विभिन्न पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों में किस प्रकार से सम्बन्ध है.

3.2 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में अन्य विषयों का सहयोग लेने की परम्परा बहुत प्राचीन है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्लेटो की उन समस्याओं के समाधान में बहुत अधिक रूचि थी जिनका सम्बन्ध कुटुम्ब की संरचना तथा शिक्षा की प्रकृति से था। इसका कारण यह था कि उसकी दृष्टि में कुटुम्ब तथा शिक्षा का महत्व उस आदर्श राज्य के निर्माण में बहुत अधिक था जिसकी वह कल्पना कर रहा था। अरस्तू को समाज में धन तथा प्रतिष्ठा के विभाजन की उतनी ही चिन्ता थी जितनी कि इस बात की थी कि राज्य का संविधान किस प्रकार का हो। लॉक, हीगल तथा मण्टेस्क्यू जैसे विचारकों ने भी मात्र राजनीति विज्ञान तक ही अपने विचारों को सीमित नहीं रखा था वरन् नीतिशास्त्र से सम्बद्ध प्रश्नों पर भी गम्भीरता से विचार किया था। कार्ल मार्क्स ने यह प्रयास किया था कि राजनीतिक व्यवहार का मुख्य स्रोत तकनीकी विकास तथा वर्ग संरचना के स्तर में खोजा जाना चाहिए। इन समस्त प्रश्नों का समाजशास्त्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था।

वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के अन्त तक ज्ञान को पृथक-पृथक शास्त्रों में विभाजित नहीं किया गया था। वे एक-दूसरे में सम्पूर्ण रूप से समायोजित थे। इसका मूल कारण यह था कि अर्थशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, मानवशास्त्री तथा समाजशास्त्री भी राजनीति विज्ञान के विद्वानों के समान ही मानवीय समस्याओं के अध्ययन में रूचि ले रहे थे। यद्यपि उनके दृष्टिकोण परम्पर भिन्न थे। सन् 1490 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान विभाग की स्थापना के बाद भी विभिन्न विषयों के विद्वान राजनीति विज्ञान की गतिविधियों से जुड़े रहे। मैक्स वेबर, रॉबर्ट मिचेल्स, विल्फ्रेड पैरेटो और दुर्खीम जैसे समाजशास्त्री राजनीतिक विश्लेषण को भी अपने अध्ययन का अंग बनाये हुए थे। सन् 1908 में ग्राहम वालास की पुस्तक 'Human Nature in Politics' एवं आर्थर बेन्टले की पुस्तक 'The Process of Government' के प्रकाशन ने इस विचारधारा को और अधिक पुष्ट किया कि राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि इन पुस्तकों में राजनीतिक प्रक्रियाओं का

विवेचन मनोविज्ञान का आश्रय लेकर किया गया था। इन पुस्तकों ने इस विचारधारा की भी पुष्टि की कि मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार उसके सामाजिक, आर्थिक व मनोवैज्ञानिक व्यवहार से अनिवार्यतः प्रभावित होता है और उन्हें प्रभावित करता है। इसी प्रकार किसी समाज की राजनीतिक व्यवस्था उसकी सामाजिक, आर्थिक, नैतिक आदि व्यवस्थाओं से अनिवार्यतः प्रभावित होती है और उन्हें प्रभावित करती है। इसीलिए राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रणेताओं ने मानव व्यवहार के अध्ययन के लिए 'अन्तर अनुशासनात्मक' दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध और अधिक घनिष्ठ हो गया है।

3.2.1 राजनीति विज्ञान और दर्शन

मानवीय और सामाजिक जीवन में दर्शन का महत्व स्पष्ट है। जी0टी0 राजू ने सही कहा है कि 'दर्शन' जीवन का प्रकाश स्तम्भ है। यह जीवन और विचारों केा गहराई से जोड़ता है। इसीलिए राजनीति विज्ञान को दर्शन से सचमुच बहुत लाभ मिलता है। यह राजनीतिक दर्शन ही है जिसमें राज्य और राजनीतिक जीवन के स्वरूप, राजनीतिक दायित्व के आधार और विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों की गुणवत्ता की जॉच की जाती है और सार्वजनिक जीवन के लक्ष्य निर्धारित करने के लिए दर्शन और इतिहास की विधियों का प्रयोग किया जाता है। राजनीतिक दर्शन के कारण ही राजनीति विज्ञान को दृष्टि और संकल्पना का मूल ढाँचा प्रदान होता है। विचारधाराओं के मतभेद के बावजूद प्लेटो, अरस्तू, कौटिल्य, मनु, मैक्यिावेली, हॉब्स, लॉक रूसो, मिल, हीगल, ग्रीन, मार्क्स और गाँधी आदि महान विचारकों ने विभिन्न राष्ट्रीय समाजों के राज्यों और शासनों को मूलभूत संकल्पनात्मक आधार प्रदान किया है। असल में दर्शन द्वारा निर्धारित विचारों और मानदंडों के सन्दर्भ में ही विशेष राजनैतिक कार्यों को अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस दृष्टि से दर्शन विज्ञान के साथ सकारात्मक रूप में जुड़ा हुआ है। दर्शन से विज्ञान का नाता टूटने पर विज्ञान माध्यम मात्र रह जाता है, तब विज्ञान अपनी प्रासंगिकता खो देता है। इसलिए, राजनीति-दर्शन राजनीति विज्ञान के लिए जरूरी है। दर्शन के बिना राजनीति विज्ञान सत्ता का विज्ञान बन जाता है और एक ऐसा साधन बन जाता है, जिसकी सहायता से गलत और सही सभी प्रकार के उपायों से सत्ता को हथियाया जाए। यह मात्र सत्ता का राजनैतिक सिद्धान्त बनकर रह जाता है। इसलिए, यह जरूरी है कि इन दोनों के बीच संतुलन बनाये रखा जाए।

3.2.2 राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्रः

समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का जनक कहलाता है। यह एक सामाजिक विज्ञान है, जिसमें सामाजिक जीवन के सभी मूलभूत विषयों का अध्ययन होता है, जो मानव के क्रमिक विकास से सम्बनिधत होताहै। यह समाज की उत्पत्ति, उसके विकास, सामाजिक रीति-रिवाजों आदि का अध्ययन करता है। इसके अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक इत्यादि सभी पहलू आ जाते हैं।

अतएव कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र सभी समाज विज्ञानों का जनक है। राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। यह निम्न प्रकार स्पष्ट होता हैः-

1.राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्रीय तत्वों से बँधा हुआ हैः- समाजशास्त्र मानव जीवन के वंशीय, जातिगत, धार्मिक और राजनीतिक पहलुओं की विवेचना करता है इसीलिए राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र की उपेक्षा नहीं कर सकता। राज्य अथवा सरकार का समाजशास्त्र से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है। समाजशास्त्र यह बताता है कि राज्य संस्था का विकास मानव की कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। इन प्रवृत्तियों को बल मुख्यतः इन तत्वों से मिला है- रक्त सम्बन्ध, धार्मिक विश्वासों की एकता, आर्थिक आवश्यकतएं तथा युद्ध और विजय। समाजशास्त्र के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि प्रारम्भ में राज्यों का स्वरूप अत्यन्त सरल था किन्तु धीरे-धीरे उनके स्वरूप और कार्य क्षेत्र में वृद्धि होती चली गयी। एडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स ने सामाजिक संरचना को अपने अध्ययन का आधार बनाया था। आधुनिक युग में रिचर्ड टॉनी, मैक्स वेबर(1464-1920), राबर्टो मिशेल्स(1476-1936), विल्फ्रैडो पैरेटो(1448-1923) और इमील दुर्खीम(1458-1919),मोस्का, कार्लमैनहाइम लासवैल और डेविड ईस्टन ने राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का सफलता पूर्वक उपयोग किया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक यह समझाया है कि 'धर्म' का पूँजीवाद से क्या सम्बन्ध है, मजदूर वर्ग राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करता है, शक्ति का राजनीति से क्या सम्बन्ध है तथा समाज की संरचना मतदान को किस प्रकार प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, शहरी मतदाताओं के आचरण को समझने के लिए हमें मुख्य रूप से इन बातों को जानना होगा- शहरीकरण से उत्पन्न समस्याएँ, शिक्षित बेरोजगारी, श्रमिक संख्या में हो रही वृद्धि तथा पानी, बिजली, स्वास्थ्य व शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ। इसी प्रकार ग्रामीण राजनीति को जातीय और धार्मिक विभिन्नताओं तथा कृषि-भूमि के स्वामित्व के सन्दर्भ में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है।

2.सामाजिक सन्तुलन एवं सामंजस्य लाने में समाजशास्त्र की भूमिकाः- समाजशास्त्र के आधार पर सामाजिक संघर्षों को समझने में सहायता मिलती है। फलस्वरूप राज्य इस तरह की नीतियॉ निर्धारित कर सकता है जिससे सामाजिक न्याय लाने में सहायता मिले और समाज में सन्तुलन व सामंजस्य स्थापित हो सके। सभी देशों और विशेषकर भारत में जहॉ भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के लोग निवास करते हैं, राजनीतिज्ञों के सामने एक बड़ा प्रश्न राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने का उठता है। इस दृष्टि से समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत आँकड़े हमारा पर्याप्त मार्गदर्शन कर सकते हैं।

3.सार्वजनिक निर्णयों को प्रभावी बनाने में समाजशास्त्र की भूमिकाः-राजनीति विज्ञान का एक कृत्य सार्वजनिक निर्णयों तक पहुॅचना है। ये निर्णय तभी प्रभावशाली हो सकते हैं जब सम्बन्धित समूहों की सामाजिक प्रेरणाओं को ध्यान में रखा जाए। किसी भी सामाजिक कार्यवाही का सम्भावित प्रत्युत्तर

क्या होगा और उसकी सफलता की कितनी सम्भावनाएँ हैं- यह निश्चित करने के लिए लोगों की मूल्य-परम्पराओं, अभिवृत्तियों, स्वभाव, मान्यताओं और पूर्वाग्रहों की जानकारी जरूरी होती है। इस प्रयत्न में समाज विज्ञान विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता हैं। देखा जाए तो आज का राजनीति विज्ञान औपचारिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं के अध्ययन से आगे बढ़कर अनौपचारिक संगठनों और प्रक्रियाओं को समझने के लिए तत्पर है और इसके लिए समाज विज्ञान का सहारा लेना जरूरी हो जाता है।

4.राजनीतिक विश्लेषण और राजनीतिक संस्थाओं का समाजशास्त्र पर प्रभावः- राजनीतिक विश्लेषण और विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन से समाजशास्त्र को काफी मदद मिली है। जैसे समाज के सन्दर्भ में राज्य ने निरन्तर समाज वैज्ञानिक विश्लेषण की विधियों को नियंत्रित किया है। समाज विज्ञानी शासन को उच्चतम सामाजिक संस्था के रूप में मान्यता देते हैं, क्योंकि शासन में समाज को दिशा देने और सामाजिक व्यवहार को नियमित करने की क्षमता होती है। आजकल तो राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो गया है। विवाह, सम्पत्ति तथा पारिवारिक व्यवस्था, जिनका समाजशास्त्र से बहुत निकट का सम्बन्ध है, राज्य द्वारा नियमित होने लगे हैं। उदाहरणार्थ- परिवार नियोजन और दहेज सम्बन्धी सरकारी नीतियों ने भारतीय परिवार और विवाह प्रथा को काफी सीमा तक प्रभावित किया है।

निःसन्देह राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र में राजनीतिक समाज विज्ञान का उद्भव हुआ है जिसने राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक संस्कृति के रूप में संकल्पनात्मक ढाँचों के तौर पर राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान किया है।

परन्तु राजनीति विज्ञान और समाज विज्ञान के बीच के कुछ महत्वपूर्ण अन्तर भी है, जिन्हे ध्यान में रखना आवश्यक है।

1.समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत है। समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है किन्तु राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध केवल राज्य, सरकार और राजनीतिक संस्थाओं से ही है। सामाजिक परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का समाजशास्त्र से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत हम इन विषयों का विस्तृत अध्ययन नहीं करते।

2.राज्य-संस्था के उदय से पूर्व भी समाज विद्यमान था और राज्य की स्थापना से पूर्व ही मनुष्यों ने अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक बन्धन उत्पन्न कर लिये थे। समाजशास्त्र इन

सम्बन्धों तथा आदिम मनुष्यों के रीति-रिवाजों व परम्पराओं की विस्तार से विवेचना करता है किन्तु राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र इनसे सर्वथा भिन्न है।

3.2.3 राजनीति विज्ञान और इतिहासः

हिस्ट्री(इतिहास) मूलतः ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है जॉच पड़ताल से ज्ञान प्राप्त करना या सीखना। सरल शब्दों में इतिहास मानव और समाज के अतीत के अनुभवों का बौद्धिक विश्लेषण और निर्वचन है। यह क्रमिक विकास का विवरण प्रस्तुत करने वाला मानव-समुदाय के विकास की कहानी है, यह मनुष्य के न केवल बौद्धिक, बल्कि आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक दशाओं के साथ ही उनके विकास, संगठन तथा पारस्पिरिक सम्बन्ध का भी वर्णन प्रस्तुत करता है, जहॉ तक राजनीति विज्ञान और इतिहास के सम्बन्ध का सवाल है, तो कहा जा सकता है कि इन शास्त्रों में काफी पुराना सम्बन्ध रहा है। यह भी कहा जा सकता है कि एक के अभाव में दूसरे का अध्ययन सम्भव नहीं है। कुछ विद्वानों जैसे सीले, बर्गेस आदि ने राजनीति विज्ञान और इतिहास के बीच पारस्परिक निर्भरता के सम्बन्ध में चर्चा की है।

सीले का कथन है कि, "राजनीति को यदि इतिहास के अध्ययन से परिष्कृत न किया जाये तो वह अशिष्ट बन जाती है और यदि इतिहास राजनीति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले तो वह कोरा साहित्य रह जाता है।"

लॉर्ड ब्राइस के कथनानुसार, "राजनीतिशास्त्र 'इतिहास' और 'राजनीति' के मध्य स्थित है। इतिहास से हम जो शिक्षा ग्रहण करते है, उसका राजनीतिक संस्थाओं को सुधारने के लिए उपयोग किया जाता है।"

स्टर्ले ने 'द स्टडी ऑफ हिस्ट्री' नामक अपनी पुस्तक में कहा है कि इतिहास की उपयोगिता इस बात में है कि मानवता और सभ्यताओं के पिछले अनुभवों से सीख लेकर मनुष्य अपने मन को अनुशासित करें। इस प्रकार के अनुशासन से मनुष्य अपने अस्तित्व को बेहतर ढंग से समझ सकता है और इसके फलस्वरूप अपने जीवन को खुशियों से भरपूर बना सकता है।

राजनीति विज्ञान के लिए इतिहास की सामग्री अनेक प्रकार से उपयोगी है, जिसे निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है-

1.राजनीतिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास को जानना आवश्यकः- सर्वप्रथम यह कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा कि राज्य एवं राजनीतिक संस्थाएँ इतिहास की देन है। प्राचीनकाल में राज्य का स्वरूप क्या था? वर्तमान समय में जो राज्य का स्वरूप है वह क्रमिक विकास का परिणाम कहा जा सकता है। प्राचीनकाल में सरकारों का स्वरूप क्या था और आज के दौर में क्या है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर

इतिहास के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है। गार्नर ने कहा है है कि, "इतिहास हमें ऐसी सामग्री प्रदान करता है जिसके द्वारा हम राजनीतिक संस्थाओं के विगत तथा वर्तमान स्वरूपों की 'तुलना' कर सकते हैं और इस तुलना के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते है।"

2.इतिहास राजनीति विज्ञान के भावी आदर्शों तथा सिद्धान्तों को निर्धारित करता हैः- इतिहास मानव की सफलताओं का संग्रह तो है ही, साथ ही उसकी विफलताओं की भी जानकारी देता है। यहॉ यह कहा जा सकता है कि इतिहास राजनीति विज्ञान का शिक्षक है। अतीत में शासकों द्वारा जो नीतियॉ अपनाई गई उसका क्या परिणाम रहा। कहीं अकबर की नीति की सफलता तो कहीं दूसरी ओर औरंगजेब की धार्मिक नीति की असफलता रानजीतिज्ञों को शिक्षा देती हैं कि लौकिक राज्य की सफलता निश्चित है। जबकि धार्मिक कट्टरता का दौर अधिक चलने वाला नही। यही कारण है कि इतिहास में जो अतीत की घटनाओं का जिक्र है उस पर राजनीतिज्ञ सतर्क रहते है। यही कारण है कि धार्मिक अत्याचारों से समाज में उत्पन्न संकटों को ध्यान में रखकर ही राजनीतिक विज्ञानियों द्वारा धर्म निरपेक्ष राज्य के सिद्धान्त को जोर सोर से वर्तमान में प्रसारित किया गया है। इसी प्रकार इतिहास ने बताया है कि जिन देशों में नागरिक सरकारें कुशल व सक्षम नहीं होतीं, जिन देशों में गरीबी मिटाने के प्रयास नहीं किये गये हैं, वहॉ बढ़ती हुई गरीबी और सामाजिक अत्याचार ने लोकतंत्रीय संस्थाओं का जीवन खतरे में डाल दिया है। इतिहास की इस शिक्षा की ओर यदि राजनीतिक नेताओं ने ध्यान नहीं दिया तो लोकतंत्र का ढाँचा लड़खड़ा कर टूट जायेगा। यहॉ इतिहास की कुछ ऐसी शिक्षाओं का उल्लेख आवश्यक हो जाता है, जो राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों को निरूपित करने में सजगता का संदेश देती हैः-

१. निरंकुश राजतंत्र एक अभिशाप है।

२. सुप्रसिद्ध विद्वान हरदयाल के शब्दों में, "साम्राज्यवाद के कारण जिन देशों की स्वतंत्रता छिन जाती है, उनका तो अधःपतन होता ही है, स्वयं साम्राज्यवादी देशों के लिए भी साम्राज्य-नीति हितकर नहीं है।" आधुनिक साम्राज्यवादी शक्तियों को एशिया व अफ्रीका के मुक्ति-आन्दोलनों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, ताकि संसार को व्यर्थ के रक्तपात से बचाया जा सके।

३. जिन देशों में नागरिक सरकारें कुशल व सक्षम नहीं होतीं, उन देशों की राजनीति में सैनिक हस्तक्षेप की सम्भावना बढ़ जाती हैं।

४. यदि समाज के किन्ही वर्गों को यत्नपूर्वक 'राजनीतिक सत्ता' से वंचित रखा जाता है तो ये वर्ग हिंसक साधनों से सत्ता हथियाने का प्रयत्न करते हैं।

3.इतिहास भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों के बीच एक सूत्र स्थापित करता हैः- इतिहास भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों के बीच एक सूत्र स्थापित करता है तथा राजनीतिक वैज्ञानिकों के विचार क्षितिज को विस्तृत बनाने का काम करता है। राजनीतिक विचारों और राजनीतिक दर्शन को इतिहास की संरचना में छिपी प्राचीन परम्पराओं के साथ बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है। राजनीतिक विचारों का इतिहास ही हमें रोजमर्रे की राजनीतिक गतिविधियों के 'मापदंड' या 'उपाय' प्रदान करता है। जब कभी राजनीतिक सत्ता का प्रश्न आएगा, मैक्यिवेली को नहीं भुलाया जा सकेगा, यदि मानव और समाज के बीच अन्योन्याश्रित 'सम्बन्ध' की बात उठेगी तो हॉब्स, लॉक और रूसो की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी; जब कभी समाज की विषमताओं और भौतिक आवश्यकताओं का सवाल आएगा, कार्ल मार्क्स के योगदान को भुलाया नहीं जा सकेगा। आज की वर्तमान व्यवस्था को निश्चित रूप से प्रभावित करने वाले ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। अमल रे और मोहित भट्टाचार्य के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "... हमें इतिहास बोध कराता है- ऐतिहासिक परिदृश्य प्रदान करता है। यह हमें सिखाता है कि घटनाएँ अपने आप में मात्र घटनाएँ नहीं होतीं, बल्कि वे अनंत क्रम की कड़ियॉ होती है।" इतिहास कई विकल्प प्रस्तुत करता है और राजनीति उनमें से सबसे सही विकल्प का चुनाव कर लेती है। इसी अर्थ में, आनुभविक विश्लेषण के लिए भी, इतिहास एक भव्य विश्लेषणात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। इसलिए वर्तमान प्रवृत्तियों और सम्बद्ध विषयों के विवेचन के लिए विभिन्न समाजों का ऐतिहासिक लेखा-जोखा लिया जाता है। यही भविष्य कालीन प्रवृत्तियों हेतु भी प्रयुक्त होता है।

इतिहास भी अपनी तरह से राजनीति और राजनीतिक विश्लेषण का ऋणी है। इतिहास लेखन में राजनीतिक विषय और संकल्पनात्मक ढाँचे इतिहासकार को काफी प्रभावित करते हैं। तभी सीले लिखता है कि, "इतिहास की शिक्षा के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप को सुधारने या परिष्कृत करने का प्रयास किया जाना चाहिए, वहीं वह यह भी कहता है कि इतिहास से यदि राजनीतिक घटनाओं को निकाल दिया जाये तो वह केवल साहित्य जगत की वस्तु बनकर रह जाता है? जैसे सामन्तवाद, राज्य के दैवी सिद्धान्त तथा राजा और धर्मसंघों के संघर्ष का अध्ययन किये बिना मध्ययुग के इतिहास का हमारा ज्ञान अपूर्ण रह जायेगा। इसी प्रकार यदि हम साम्राज्यवाद, राष्ट्रीयता, लोकतंत्रवाद और विभिन्न देशों के मुक्ति आन्दोलनों का अध्ययन न करें तो आधुनिक युग का इतिहास हमें निष्प्राण प्रतीत होगा। बीसवीं सदी के भारत के इतिहास का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विश्व शासन तंत्र इण्डियन नेशनल कांग्रेस, मुस्लिम लीग, साम्प्रदायिक राजनीति तथा भारतीय साम्यवादी दल के कार्यों, सन् 1919 तथा सन् 1935 के भारत शासन अधिनियमों, राष्ट्रवादी नेताओं के चमत्कारी नेतृत्व, राजनीतिक आन्दोलनों, दल-बदल की राजनीति, क्षेत्रीय राजनीतिक गतिविधियों और अन्य अनेक राजनीतिक घटनाओं का समुचित अध्ययन करें। इन राजनीतिक घटनाओं और राजनीतिक विचारधाओं ने इतिहास की गति को समय-समय पर नया मोड़ दिया है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान एवं इतिहास कभी-कभी दोनों एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं, लेकिन ज्यादातर ये दोनों दो स्वायत्त हैं। राजनीति विज्ञान और इतिहास के परस्पर घनिष्ठता को प्रकट करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि वर्तमान और भविष्य की समस्याओं पर केवल भूतकाल के परिणामों के आधार पर ही विचार न किया जाये। प्रत्येक समस्या पर विचार करते समय नयी परिस्थितियों और जनता के बदले मनोभावों को भी दृष्टिगत रखा जाय। तभी इतिहास, राजनीति विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगा। कार्ल फ्रेजरिक, डी0 ब्रोगन, आर्नोल्ड बैरण्ट और सारटोरी आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान के लिए इतिहास का समुचित ढंग से उपयोग किया है।

3.2.4 राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र:

अर्थशास्त्र का मुख्य सरोकार उन तत्वों के विश्लेषण से है जो भौतिक उत्पादन, वितरण और विनिमय की प्रणाली के अन्तर्गत मनुष्यों के सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं। इसमें उन तत्वों का पता भी लगाया जाता है जो निवेश अथवा आर्थिक संसाधनों के उपयोग से सम्बन्धित निर्णयों को प्रभावित करते हैं, जैसे कि ये तत्व पूँजी, श्रम और माल के उपयोग से सम्बन्धित निर्णयों को प्रभावित करते हैं। विस्तृत विश्लेषण करने पर पता चलता है कि ये निर्णय अनेक गैर-आर्थिक तत्वों से प्रभावित होते हैं, जैसे कि ये निर्णय सांस्कृतिक मूल्यों, इनसे जुड़े हुए व्यक्तियों के व्यक्तित्व, राजनीतिक आवश्यकताओं और सामाजिक स्थिति के विचार से भी बहुत प्रभावित होते हैं। किसी समुदाय का राजनीतिक परिवेश भी आर्थिक निर्णयों को दूर-दूर तक प्रभावित करता है।

प्राचीन समय में अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान के बीच के अंतरंग सम्बन्ध बहुत गहरे थे। इसी कारण प्लेटो ने न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए न्याय को एक ऐसे समन्वयवादी उत्कृष्ट तत्व के रूप में देखा, जो आर्थिक विषय सहित समाज के सभी महत्वपूर्ण हितों की रक्षा कर सके। अरस्तू ने अर्थशास्त्र को गृह प्रबन्ध की कला के रूप में देखा और राजनीति को अनिवार्यतः अर्थशास्त्र से अभिन्न और अविभाज्य अंग के रूप में देखा। भारत में कौटिल्य ने अर्थशास्त्र और राजनीति के श्रेष्ठतम तत्वों को मिलाकर अर्थशास्त्र की परिकल्पना की थी। अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में उसने व्यापार, वाणिज्य, कृषि, मुद्रा तथा कर-व्यवस्था आदि आर्थिक विषयों के साथ शासन, न्याय, युद्ध, शान्ति, कूटनीति जैसे राजनीतिक विषयों का भी विस्तार से विवेचन किया है। वस्तुत अर्थशास्त्र और राजनीति को एक साथ देखने की परम्परा ने आदम स्मिथ को, जो कि आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रणेता थे, बराबर प्रभावित किया। उनका 'वैल्थ ऑफ नेशन' जितनी अर्थशास्त्र की बात करता है, उतनी ही राजनीति विज्ञान की भी।

अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान के बीच अत्यधिक निर्भरता के कारण उन्नीसवीं सदी में राजनीतिक अर्थशास्त्र नाम से एक नये शास्त्र का जन्म हुआ। राजनीतिक अर्थशास्त्र को एक शास्त्र के रूप में विकसित करने में आदम स्मिथ, रिकार्डो, कार्ल मार्क्स और अन्य विद्वानों की भूमिका सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण रही। परन्तु, दोनों शास्त्रों की परस्पर निर्भरता के बावजूद अर्थशास्त्र और राजनीति के परस्पर संघर्षों को छिपाना सम्भव नहीं रहा। इसी चरण में अर्थशास्त्र को राजनीतिक विचारों और दर्शन के जबदस्त प्रभाव से मुक्त करने का निश्चय किया गया। फलतः 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसने धीरे-धीरे राजनीति विज्ञान से अपना सम्बन्ध तोड़ दिया और अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की प्रेरणा से वस्तुओं की कीमतों और बाजार की प्रवृत्तियों पर ज्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि आज के युग में विकासशील राष्ट्रों को विशेष रूप से गरीबी की विकट और विस्तृत समस्या का सामना करना पड़ रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि अर्थशास्त्र ने इस क्षेत्र में बहुत उन्नति की और मांग, पूर्ति, प्रतिस्पर्धा, निवेश, उपयोगिता, लागत, लाभ, आयोजन, विकास इत्यादि के बारे में बहुत महत्वपूर्ण नियम और सिद्धान्त स्थापित किए। परन्तु बाद के दशकों में यह भी अनुभव किया गया कि आर्थिक प्रणाली को केवल बाजार की शक्तियों और खुली स्पर्धा के सहारे छोड़ देने पर सामाजिक दृष्टि से विनाशकारी परिणाम निकलते है; आर्थिक विषमताएं बेतहाशा बढ़ जाती हैं, निर्धन और दीन-हीन वर्गों का बेहिसाब शोषण होने लगता हैं, सामजिक अन्याय का बोलबाला हो जाता है और समाज में तनाव और संघर्ष का वातावरण बन जाता है। इससे आर्थिक गतिविधियों के नियमन की आवश्यकता अनुभवन की गई और अर्थव्यवस्था को सार्वजनिक नियंत्रण में रखने के विचार को महत्व दिया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की परस्पर अभिरूचि को नया जीवन मिल गया। इस प्रवृत्ति ने वर्तमान युग में राजनीतिक अर्थशास्त्र को एक नए रूप में विकसित किया है।

इधर राजनीति सिद्धान्त के दृष्टिकोण में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। आज के राजनीति-सिद्धान्त का मुख्य सरोकार परस्पर विरोधी मांगों के समाधान से है। ये मांगें एक ही समुदाय के भीतर विभिन्न समूहों तथा वर्गों की ओर से रखी जा सकती हैं, या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्रों की ओर से रखी जा सकती है। ये मांगे तरह-तरह की होती है परन्तु दुर्लभ संसाधनों के बँटवारे की मांगें इनमें सबसे प्रमुख होती हैं। दूसरे शब्दों में, ये मांगें मुख्यतः आर्थिक मांगें होती हैं। कोई भी राजनीतिक प्रणाली तब तक अपने आपको नहीं सम्भाल सकती जब तक वह परस्पर विरोधी मांगों में सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता स्थापित करने की क्षमता का परिचय न दे सके। इसके लिए आर्थिक शक्तियों और तत्वों की गहरी समझ जरूरी होती है। चाहे विदेश-व्यापार का क्षेत्र हो, या देश के भीतर आर्थिक जीवन के नियमन का मामला हो- राज्य की कोई भी नीति या निर्णय तब तक सार्थक नहीं हो सकता जब तक उसके साथ जुड़े हुए आर्थिक प्रश्नों को भली-भांति समझकर सुलझा न लिया जाए। राज्य जब योजना निर्माण के क्षेत्र में कदम रखता है, या 'कल्याणकारी राज्य' 'सेवाधर्मी राज्य' या 'समाजवादी राज्य'

के रूप में नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा का दायित्व सम्भालता है और पूर्ण रोजगार रहन-सहन के उपयुक्त स्तर, उचित पोषण, स्वास्थ्य रक्षा, सार्वजनिक शिक्षा इत्यादि के कार्यक्रम बनाता है, तब अर्थशास्त्र की सहायता लेना अनिवार्य हो जाता है। आज के युग में विकासशील राष्ट्रों को विशेष रूप से गरीबी की विकट और विस्तृत समस्या का सामना करना पड़ रहा है। यहॉ यह सिद्ध हो जाता है कि राजनीति तक तक कृतकार्य नहीं हो सकती जब तक वह आर्थिक समस्या को प्रभावशाली ढंग से सुलझा नहीं सकती। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार भी सम्पूर्ण राजनीति आर्थिक शक्तियों से नियमित होती है। अतः चाहे हम उदारवादी दृष्टि से सोचें, या मार्क्सवादी दृष्टि से-अर्थशास्त्र का ज्ञान राजनीति के ज्ञान तथा व्यवहार के लिए आवश्यक सिद्ध होता है।

1.आर्थिक परिस्थितियॉ सरकार के स्वरूप को निर्धारित करती हैः- आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव सरकार के स्वरूप पर अवश्य पड़ता है। प्राचीन और मध्ययुगीन सरकारों का स्वरूप 'कुलीनतंत्रीय' था। उन दिनों राजनीतिक अधिकार सामन्ती वर्ग के हाथों में केन्द्रित थे। शासन का यह रूप जिसे हम 'कुलीनतंत्रीय' अथवा 'अभिजाततंत्र' कहते हैं, इसलिए विकसित हुआ था क्योंकि उस समय मशीनों का प्रचलन नहीं था। आज जो कार्य मशीनें करती हैं, उस युग में वही कार्य मनुष्य किया करते थे। अतः उस युग की अर्थव्यवस्था को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था कि थोड़े से धनी-मानी जमींदार बहुसंख्यक लोगों को अपना दास बनाकर रखें और उन पर राज्य करें किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामन्ती प्रथा समाप्त हो गयी। आधुनिक युग में लोकतंत्र के विकास का मुख्य कारण वह औद्योगिक क्रान्ति भी है जिसने दास-प्रथा का उन्मूलन किया है। इस प्रकार यह सत्य है कि आर्थिक परिस्थितियॉ सरकार के स्वरूप पर अवश्य ही महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं।

2.राजनीतिक क्रान्तियॉ, आर्थिक शक्तियों से प्रभावितः- प्रत्येक प्रमुख 'क्रान्ति' के पीछे आर्थिक शक्तियों का हाथ रहा है। अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम, फ्रांस की राज्य क्रान्ति, रूस व चीन की साम्यवादी क्रान्ति तथा राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलनों का एक मुख्य कारण आर्थिक असन्तोष ही था।

3.भौतिक साधनों का श्रेष्ठतम बँटवाराः- आजकल राजनीति विज्ञान में सामाजिक व आर्थिक न्याय, औद्योगिक लोकतंत्र, लाइसेंस-प्रणाली, उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण, राष्ट्रीय बचत तथा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों की विशेष चर्चा होने लगी है। इसी कारण राजनीतिक विचारकों का मत है कि राज्य को अपनी नीति इस प्रकार निर्धारित करनी चाहिए जिसमें सभी को जीविका के समान साधन उपलब्ध हो सकें, देश की भौतिक सम्पत्ति कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में केन्द्रित न होने पाये तथा आर्थिक विवशता के कारण नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हों।

4.आर्थिक नियोजन तथा बजट पद्धतिः- राजनीति विज्ञान में अर्थशास्त्र की और बहुत सी तकनीकों का समावेश होता चला जा रहा है। किन वस्तुओं का कितना उत्पादन किया जायेगा तथा वितरण का क्या ढंग होगा, इसका निर्णय राज्य द्वारा किया जाता है। 'नियोजन' एक ऐसी तकनीक है जो कम या अधिक मात्रा में अब सभी देशों में प्रयुक्त होने लगी है। सरकार बजट पद्धति का भी उपयोग करती है अर्थात् शासन के सभी विभाग आय व व्यय का ब्यौरा तैयार करके उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। यह भी एक विशुद्ध अर्थशास्त्रीय विधि है। आय-कर, सम्पत्ति-कर, उत्तराधिकार शुल्क तथा अन्य करों द्वारा आय की असमानता को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

'राजनीति' के लिए 'अर्थशास्त्र' बहुत उपयोगी है परन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आर्थिक गतिविधियों पर भी राजनीति विज्ञान का व्यापक प्रभाव पड़ता है। 'अर्थव्यवस्था' पर 'राजनीति विज्ञान' के प्रभाव की चर्चा निम्नांकित बिन्दुओं के अन्तर्गत की जा सकती है-

1.अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले कानूनः- उन्नीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का बोलबाला रहा कि "वस्तुओं को उनके हाल पर छोड़ दो" अर्थात् आर्थिक मामलों में राज्य किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करे किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इस सिद्धान्त का कोई मूल्य नहीं रह गया है। खाद्य पदार्थो में मिलावट रोकने हेतु कठोर कानून बनाये गये हैं तथा सूदखोरों पर भी सरकार विशेष नियंत्रण रखती है। यहॉ हम आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने वाले और भी बहुत से कानूनों की चर्चा करना चाहेंगे, जैसे- न्यूनतम मजदूरी विधेयक, कामगार मुआवजा एक्ट, अनिवार्य दुर्घटना बीमा योजना, तथा श्रमिकों के लिए अधिकतम कार्य-काल का निर्धारण। गत कुछ वर्षो से राजनेताओं का सम्पूर्ण ध्यान इस बात पर केन्द्रित रहा है कि जनता के जीवन-स्तर को उठाने और मंहगाई को नियंत्रण में रखने के लिए किन नीतियों का अनुसरण किया जाये या कैसे कानून बनाये जायें।

2.विदेश-व्यापार और विदेशी निवेश पर राज्य का कठोर नियंत्रण देखने को मिलता हैः- जहॉ तक विदेश व्यापार और विदेशी निवेश का प्रश्न है, उन पर तो राज्य का कठोर नियंत्रण स्थापित हो गया है। यातायात और संचार के साधनों का विकास हो जाने के कारण विदेश व्यापार में भी बहुत वृद्धि हुई है परन्तु ऐसा कोई राज्य नहीं है जो विदेश व्यापार पर नियंत्रण न रखता हो। विभिन्न देशों के बीच पूँजी का संचलन यानी किसी एक देश द्वारा दूसरे देशों में पूँजी निवेश करना भी सरकार की नीति पर ही निर्भर हो गया है।

3.राजनीतिक अस्थिरता, हिंसा और युद्धों का अर्थव्यवस्था पर प्रभावः- राजनीतिक हिंसा, आन्तरिक कलह और युद्धों का देश की अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक प्रगति बहुत सीमा तक इस बात पर निर्भर करती है कि देश में राजनीतिक स्थिरता है अथवा नहीं। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, नार्वे, स्वीडन और स्विट्जरलैण्ड जैसे देश राजनीतिक हिंसा से मुक्त रहे हैं। इन देशों में

सरकारें चुनावों के माध्यम से बदलती रही हैं। इससे वहॉ की अर्थव्यवस्था को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हो गया है। दूसरी ओर, एशिया अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के अधिकांश देश राजनीतिक अस्थिरता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जिन देशों में राजनीतिक स्थिरता है, वहॉ अपेक्षाकृत आर्थिक विकास अधिक हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक युग के जिन अर्थशास्त्रियों ने राजनीति विज्ञान पर गहरा प्रभाव डाला है, उनमें केनेथ ऐरो, ऐंथोनी डाउन्स, डन्कन ब्लैक और जी0 टूलोक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राजनीति विज्ञान के विद्वान अर्थशास्त्र की विधियों का खुलकर उपयोग करने लगे हैं।

3.2.5राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञानः

मनोविज्ञान मानव के मन और व्यवहार का विज्ञान है। मनोविज्ञान की सहायता से ही मानव की अभिप्रेरणाओं और खास कामों का लेखा-जोखा लिया जाता है। इसलिए, मानव को समझने के लिए मनोविश्लेषणात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है। यह माना जाता है कि मानव मन की खास कार्यशैली के कारण ही खास काम सम्पन्न होते हैं। मनावैज्ञानिक रूप से किसी व्यक्ति को जानकर ही आप उसे सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बेहतर समझ सकते हैं।

राजनीति विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान होने के कारण मनुष्य के अध्ययन से सम्बन्धित है। राजनीतिक संस्थाओं पर मानसिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक है। यही कारण है कि राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ज्ञातव्य है कि सबसे पहले मैकियावली ने राजनीतिक गतिविधियों के आधार पर मनोविज्ञान का महत्व प्रतिपादित किया और हॉब्स ने इसे वैज्ञानिक स्वरूप दिया। हॉब्स को राजनीति के मनोवैज्ञानिक उपागम का जनक माना जाता है। मनोविज्ञानोन्मुखी राजनीतिक विश्लेषण पर सर्वाधिक बल देने वाले फ्रांसीसी और अंग्रेज लेखकों में प्रमुख रहे टार्डे, डरखाइम, लेबोन, ग्राहम वैलास और मैकडोगल। राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में मनोविज्ञान के बढ़ते प्रभाव को ग्राहम वैलास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ भ्नउंद दंजनतम पद च्वसपजपबे में व्यक्त किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि मनुष्य अपने राजनीतिक व्यवहार में केवल विवेक के द्वारा प्रेरित नहीं होता, वह भावनाओं और आवेगों द्वारा भी प्रभावित होता है।

फ्रायड और दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानव व्यवहार का आधार उसके मन की अवचेतन प्रवृत्तियॉ हैं। इन प्रवृत्तियों का उद्गम उसकी दबी हुई इच्छाएं हैं। फ्रायड के अनुसार मनुष्य साधारणतः विवेक या बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कार्य नहीं करता। बुद्धि अवचेतन आवेगों की दासी है। यदि यह सच है तो राजनीति के विद्यार्थी को भी इन अवचेतन प्रेरणाओं

और मनोवृत्तियों को समझना आवश्यक हो जाएगा। इन्हें बिना समझे वह राजनीतिक जीवन का न तो यथार्थवादी विश्लेषण कर सकता है और न उसके आदर्शों के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकाल सकता है। इसी प्रकार टोटर ने अपनी पुस्तक (शान्ति और युद्ध के दौरान मानववृत्ति) में यह बताया है कि शान्ति एवं युद्ध दोनों ही स्थितियों में किस प्रकार राष्ट्रीय नेता जनता के मनोभावों का अध्ययन कर उससे लाभ उठा सकते हैं। लिप्पमैन ने अपने ग्रन्थ 'लोकमत' में सर्वसाधारण जनता के मत, लोगों की हठधर्मी और उनके विचारों का विश्लेषण किया है। गुन्नार मिर्डल की प्रसिद्ध पुस्तक 'अमेरिकी दुविधा' अमेरिका के लोगों की मनोवृत्ति को भली प्रकार स्पष्ट करती है।

राजनीति विज्ञान के लिए मनोविज्ञान की उपादेयता निम्न प्रकार स्पष्ट की जा सकती है:-

1.यह उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न शासन प्रणालियों का आधार जन-समाज की मनोवृत्ति ही है। प्रमुख फ्रांसीसी पत्रकार बौतमी ने अपने दो महान ग्रन्थों में इंग्लैण्ड और अमेरिका के लोगों की मनोवृत्ति का विवेचन करके यह बताने का प्रयत्न किया है कि इन दोनों देशों की राजनीतिक संस्थाओं में जो मुख्य भेद हैं, उनका प्रमुख कारण लोगों की मनोवृत्ति ही है। इंग्लैण्ड एक लोकतंत्रीय देश होते हुए भी आज तक सम्राट के अस्तित्व को बनाये हुए है। इसके मूल में अंग्रेजों की भावना व मनोवृत्ति है। सम्राट का पद वहॉ यद्यपि कुछ सीमा तक निरर्थक और सारहीन हो गया है, तथापि इंग्लैण्ड के लोगों की ऐसी धारणा बन गयी है कि "जब तक बकिंघम महल में राजा अथवा रानी विद्यमान हैं, तभी तक वे शान्ति की नींद ले सकते हैं।" इस प्रकार वहॉ राजपद की व्यावहारिक उपयोगिता उतनी नहीं है जितनी कि उसके पीछे जन-साधारण की भावना है।

2.राज्य को किसी नवीन नीति का निर्धारण अथवा किसी नये कानून को बनाते समय समाज की मनोवृत्ति का भली प्रकार अध्ययन कर लेना चाहिए अन्यथा जनता उस नीति या कानून का स्वागत नहीं करेगी। आधुनिक युग में तो जनमत का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। लोकतंत्र का आधार 'जनमत' है और जनमत बनाने के लिए अब विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रचार-साधनों का उपयोग किया जाने लगा है। प्रो0 गेटेल के शब्दों में, "राजनीतिक दलों की प्रकृति आजकल पर्याप्त सीमा तक मनोवैज्ञानिक बन गयी है।"

3.जन-सामान्य के आचरण तथा उत्तेजित भीड़ के मनोभावों को समझे बिना कोई व्यक्ति सफल राजनीतिज्ञ अथवा जननेता नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ- प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त जर्मनी की जनता में पराजय के कारण घोर निराशा तथा असन्तोष उत्पन्न हो गया था। हिटलर ने उसे पहचाना और उससे लाभ उठाया। जनता में उत्साह, साहस और सैनिक भावना का संचार करने के लिए हिटलर और उसके साथी कहा करते थे कि, "मनुष्य को शेर की तरह निर्भय और खूनी होना चाहिए। सच्चा जर्मन वह है जो अपनी बुद्धि से नहीं अपितु अपने रक्त से सोचे।" इस प्रकार महात्मा गाँधी की सफलता का मुख्य

कारण भी जनता की मनोवृत्ति का अध्ययन कर उसी के अनुरूप कार्य करना था। महात्मा गाँधी जानते थे कि भारत एक धर्म प्रधान देश है। इसीलिए उन्होंने धार्मिक प्रतीकों- प्रार्थना, उपवास, गौरक्षा, ब्रह्मचर्य, सत्याग्रह आदि का आश्रय लिया। गाँधीजी ने एक साधारण किसान की वेश-भूषा ग्रहण की और अपने संदेश को गाँव-गाँव तक पहुँचाया। इटली के महान देशभक्त मैजिनी की ही भाँति गाँधीजी ने भी अध्यात्मवाद का सहारा लिया और देशभक्ति को 'धर्म' व 'उपासना' का स्वरूप प्रदान किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कोई भी राजनीतिज्ञ मनोविज्ञान के अध्ययन की उपेक्षा नहीं कर सकता। लॉर्ड ब्राइस ने तो यहाँ तक कह डाला है कि, "मनोविज्ञान ही राजनीति विज्ञान का आधार है।"

लेकिन इन दोनों के बीच में कुछ अन्तर भी हैः-

1.प्रकृतिः- राजनीति विज्ञान एक आदर्शवादी विज्ञान है जो 'क्या था और क्या है?' के साथ ही 'क्या होना चाहिए?' का भी अध्ययन करता है, जबकि मनोविज्ञान का आदर्श से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

2.विषयः- राजनीति विज्ञान मनुष्य के राजनीतिक संगठनों तथा कार्यों का अध्ययन करता है, जबकि मनोविज्ञान मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं का भी अध्ययन करता है।

3.व्यवहारिक जीवन में महत्वः- मनोविज्ञान केवल मनुष्य की मनोवृत्तियों का अध्ययन करता है, जबकि राजनीति विज्ञान व्यवहारिक कार्यों का भी अध्ययन करता है।

अभ्यास प्रश्न

1.गुन्नार मिर्डल की प्रसिद्ध पुस्तक 'अमेरिकी दुविधा' है। सत्य असत्य/

2.टोटर की पुस्तक शान्ति और युद्ध के दौरान मानववृत्ति है। सत्यअसत्य/

3.लॉर्ड ब्राइस के कथनानुसार, "राजनीतिशास्त्र 'इतिहास' और 'राजनीति' के मध्य स्थित है। सत्यअसत्य/

4.स्टर्ले की पुस्तक 'द स्टडी ऑफ हिस्ट्री' है। सत्यअसत्य/

3.3 सारांश

समाज में मानव की विविध भूमिकाओं और आवश्यकताओं को समझने के लिए राजनीति विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। क्योंकि मानवीय गतिविधियॉ किसी एक शास्त्र की विषय सामग्री तक सीमित नहीं रह सकती। मानवीय गतिविधियों को स्पष्ट करने के लिए सभी सामाजिक विज्ञानों की पूरक भूमिका होती है। फलतः मानव और समाज के मूल तत्व को समझने के लिए किसी विशिष्ट सामाजिक विज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करना ही होता है। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सामाजिक विज्ञानों के बीच के अंतः सम्बन्धों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। इसी स्वाभाविक क्रम में, राजनीति विज्ञान ने इस प्रक्रिया में सहज ढंग से भाग लिया है और आज के परिप्रेक्ष्य में राजनीति विज्ञान की उपयोगिता विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों से पैदा माँगों को पूरा करने के लिए, अपनी निश्चित आवश्यकताओं के अनुरूप अन्य शास्त्रों से सहायता लेकर पूर्ण करने में है। इसलिए सम्बन्धित शाखाओं से सम्बन्धित सामाजिक ज्ञान को सबसे अच्छे ढंग से पेश करने के लिए सभी 'सामाजिक विज्ञान', अनिवार्यतः सहायक भूमिका अदा करते हैं। यह राजनीति विज्ञान ही है, जो राजनीतिक यथार्थ को साफ करने के लिए इस ज्ञान का उपयोग करता है।

3.4 शब्दावली

1.राजनीतिक अर्थशास्त्र: अध्ययन की वह शाखा जिसमें राजनीतिक विश्लेषण के लिए आर्थिक तत्वों की भूमिका पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है; आर्थिक प्रतिरूपों का प्रयोग किया जाता है; और आर्थिक जीवन पर राजनीतिक निर्णयों के प्रभाव की जॉच की जाती है। इसमें उन संकल्पनाओं का विस्तृत विवेचन किया जाता है जो मनुष्यों की राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की गतिविधियों पर समान रूप से लागू होती हैं, जैसे कि संसाधनों का आबंटन, मांगें, लागतें, उपयोगिता और इष्टतमकरण इत्यादि।

2.राजनीतिक समाज विज्ञान: अध्ययन की वह शाखा जिसमें राजनीतिक संस्थाओं, प्रक्रियाओं और विचारधाराओं, इत्यादि को सामाजिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं के संदर्भ में रखकर देखा और परखा जाता है। इसमें राजनीतिक प्रणाली को सामाजिक प्रणाली की एक उपप्रणाली के रूप में देखा जाता है और उनके परस्पर सम्बन्ध का अन्वेषण किया जाता है।

3.राजनीतिक मनोविज्ञान: अध्ययन की वह शाखा जिसमें व्यक्तित्व और उसके राजनीतिक व्यवहार के परस्पर सम्बन्ध का पता लगाया जाता है; राजनीतिक अभिवृत्तियों की समानताओं और भिन्नताओं का अन्वेषण किया जाता है; राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया और नेतृत्व की शैलियों का विश्लेषण किया जाता है, राजनीतिक प्रभाव और प्रचार के बारे में अनुसंधान किया जाता है।

4.राजनीतिक दर्शन: अध्ययन की वह शाखा जिसमें मुख्यतः राजनीति के नैतिक और तात्त्विक पक्षों पर विचार किया जाता है। इसमें राज्य और राजनीतिक जीवन के स्वरूप, राजनीतिक दायित्व के आधार और विभिन्न राजनीतिक प्रणालियों की गुणवत्ता की जॉच की जाती है और सार्वजनिक जीवन के लक्ष्य निर्धारित करने के लिए दर्शन और इतिहास की विधियों का प्रयोग किया जाता है।

3.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.सत्य २.सत्य ३.सत्य ४. सत्य

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.जैन, पुखराज- राजनीति विज्ञान, एस0बी0पी0जी0 पब्लिकेशन, आगरा

2.सिंहल, एस0सी0- राजनीतिक सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा

3आर्शीवादम, ए0डी0 तथा मिश्र, कृष्णकान्त- राजनीति विज्ञान, एस0 चॉद कम्पनी लि0, नई दिल्ली

4गाबा, ओमप्रकाश- राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा

5जौहरी, जे0सी0 एवं सीमा- आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिग पब्लिकेशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली

6वर्मा, एस0पी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी, विकास प्रकाशन, नई दिल्ली

3.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. दास,पी0जी0- मार्डन पालिटिकल थ्योरी,न्यू सेंण्ट्रल बुक एजेंसी,कलकत्तां

2. जैन,एम0पी0- पालिटिकल थ्योरी, आर्थस गिल्ड पब्लिकेशन, दिल्ली

3. संधु,ज्ञान सिंह- राजनीतिक सिद्धान्त, दिल्ली विश्वविधालय

4. वर्मा, एस0एल0- एडवांसड मार्डन पालिटिकल थ्योरी, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1.राजनीतिक मामलों में दर्शन का क्या महत्व है।

2.राजनीति विज्ञान का इतिहास से सम्बन्ध बताइए। राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए इतिहास की क्या उपयोगिता है?

3.राजनीति विज्ञान के विकास में समाजशास्त्र की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

4.राजनीति विज्ञान के अध्ययन में अर्थशास्त्र किस प्रकार उपयोगी है?

5.राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

6.राजनीति विज्ञान और भूगोल के सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

7.विश्व के मामलों में भौगोलिक राजनीति की भूमिका और प्रभाव का वर्णन करें।

इकाई 4 : राजनीति विज्ञान अध्ययन के उपागम

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 राजनीति विज्ञान के अध्ययन के उपागमः प्रमुख परम्परागत उपागम।
4.2.1 दार्शनिक उपागम
4.2.2 ऐतिहासिक उपागम
4.2.3 कानूनी उपागम
4.2.4 संस्थात्मक उपागम
4.2.5 प्रयोगात्मक उपागम
4.2.6 पर्यवेक्षात्मक उपागम
4.2.7 तुलनात्मक उपागम
4.3 सारांश
4.4 शब्दावली
4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

यह राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त का दूसरा खण्ड है। अब तक की इकाईयों के अध्ययन के बाद आप बता सकते हैं कि राजनीति विज्ञान का अर्थ क्या है? इसके क्षेत्र की परिधि में कौन-कौन से विषय आते हैं तथा अन्य विज्ञानों से इस का क्या सम्बन्ध है। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी का यह दायित्व बनता है कि वह इस क्षेत्र में अधिकाधिक विषय सामग्री जुटाने का प्रयास करें।

किसी भी विषय के लिए विषय वस्तु सामग्री की तलाश आवश्यक है। विषय वस्तु को खोजने की प्रक्रिया को ही पद्धति या उपागम के नाम से जाना जाता है। राजनीतिक विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है, इसलिए इसमें भौतिक विज्ञानों की भाँति मनचाहे ढंग से मनुष्य तथा राजनीतिक संस्थानों पर प्रयोग नहीं किया जा सकता और न ही यांत्रिक उपकरणों का प्रयोग किया जा सकता है। अतः उसके लिए उन पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त करना इसी प्रकार के आवश्यक है। जिनके द्वारा वह उपलब्ध सामग्री का चयन, वर्गीकरण तथा आकलन कर निष्कर्ष निकालने में सफल हो सके। जैसा कि ऐलवुड ने कहा है- जीव विज्ञान के लिए जो महत्व सूक्ष्मदर्शी यंत्र का है। ज्योतिष विज्ञान के लिए जो उपागम दूरदर्शक यंत्र का है, वही उपयोग और महत्व सामाजिक विज्ञानों के लिए उपागमों का है।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न पद्धतियों की व्याख्या की है। काम्टे ने राजनीतिक अनुसंधान की तीन पद्धतियों- पर्यवेक्षणात्मक, प्रयोगात्मक तथा तुलनात्मक मानी है। मिल ने चार पद्धतियों का उल्लेख किया है- 1. रासायनिक या प्रयोगात्मक 2. अमूर्त 3. भौतिक या निष्कर्षात्मक 4. ऐतिहासिक। मिल ने इनमें से प्रथम दो को त्रुटिपूर्ण और अन्तिम दो को उपयुक्त माना है। लार्ड ब्राइस ने पर्यवेक्षणात्मक पद्धति को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि शासन प्रणालियों और राजनीतिक संस्थाओं के कार्यों का अध्ययन बहुत निकट से ही किया जाना चाहिए।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

1. राजनीति विज्ञान के लिए किस प्रकार अध्ययन सामग्री जुटायी जाती है।
2. पारम्परिक दृष्टिकोण क्या है।
3. द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले राजनीतिक विचारकों ने किन-किन उपागमों को अपनाया था।

4.2 राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन के उपागमः प्रमुख परम्परागत उपागम

ईसा पूर्व छठी सदी से बीसवीं सदी में लगभग द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जिस राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रचलन रहा है उसे अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण कहा जाता है। परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण एवं विकास में अनेक राजनीतिक विचारकों का योगदान रहा है। यथा- प्लेटो, अरस्तु, सन्त ऑक्सटाइन, एक्विनास, लॉक, रूसो, मान्टेस्क्यू, कान्ट, हीगल तथा ग्रीन आदि राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्माण के लिए इन विचारकों ने दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास व विधि का सहारा लिया। अतः इनके द्वारा अपनायी गयी पद्धति को दार्शनिक,ऐतिहासिक, कानूनी तथा संस्थात्मक पद्धति के नाम से जाना जाता है।

4.2.1 दार्शनिक उपागम

यूनानी दार्शनिकों के युग से लेकर आधुनिक युग के विचारकों ने आदर्श राज्य की स्थापना पर काफी ध्यान दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने कल्पना का सहारा लिया है। राजनीतिक विज्ञान सिर्फ इस बात पर ही ध्यान नहीं देता कि राज्य कैसा है। वरन् उसे इसकी भी चिन्ता है कि राज्य कैसा होना चाहिए। यह उपागम राज्य के लक्ष्य अथवा उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ पूर्व निर्धारित धारणाओं को लेकर चलता है और इसके बाद यह निश्चित करता है कि उन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए किस प्रकार के कानून अधिक उपयुक्त होंगे और कैसी संस्थाएँ अधिक उचित होंगी। वर्तमान कानून तथा संस्थानों में क्या कमी है, उन कमियों को किस प्रकार की संस्थाओं द्वारा दूर किया जा सकता है। इस प्रकार यह पद्धति अपने प्रतिष्ठित नियमों के प्रकाश में विशेष अवस्थाओं की व्याख्या करती है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्लेटो, टॉमस मूर, रूसो, मिल आदि ने पद्धति को अपनाया। प्लेटो की रिपब्लिक और टामस मूर की यूटोपिया इसके अनुपम उदाहरण हैं। प्लेटो का रिपब्लिक के दार्शनिक राजा का सिद्धान्त आदर्शवाद पर आधारित विवेकसम्मत राजा की कल्पना है जो अपने सांसारिक सुख को त्यागकर राज्य की एकता के लिए पूरा जीवनन्यौछावर कर देता है। शासितों की सेवा में वह सच्चा सुख प्राप्त करता है। टॉमस मूर की स्वर्गिक राज्य की धारणा तथा रूसो की सामान्य इच्छा भी इसी प्रकार के मौलिक आदर्श हैं। यह पद्धति राजनीति को नैतिकता के समीप लाने का कार्य करती है। इसमें तर्क और विवेक का सहारा लिया जाता है।

इस पद्धति में मुख्य खतरा यह है कि यथार्थ से दूर है। प्लेटो का दार्शनिक राजा इस पृथ्वी पर सम्भव नहीं है। साथ **ही मूर की यूटोपिया तथा प्लेटो की रिपब्लिक की भाँति** राजनीति विज्ञान का विद्यार्थी कल्पनादर्शी तथा स्वप्नदर्शी बन जाता है। ऐसे में ऐतिहासिक तथ्यों से दूर रहकर खोखला आदर्शवादी बन जाने का खतरा बना रहता है।

4.2.2 ऐतिहासिक उपागम

राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए इतिहास का ठीक प्रकार से अध्ययन करना बहुत उपयोगी है। राजनीतिक संस्थाओं और प्रणालियों के जन्म, विकास और उत्थान के अध्ययन का महत्व इस बात में है कि हम इससे भविष्य के पथ प्रदर्शन के लिए निष्कर्ष निकाल सकते हैं। प्रत्येक राजनीतिक संस्थाओं के वर्तमान स्वरूप जानने के लिए हमें उसके अतीत का अध्ययन करना आवश्यक है। राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण नहीं किया जाता वरन् वे विकास का परिणाम होती हैं। अतः प्रत्येक राजनीतिक संस्था का एक अतीत होता है और उसके अतीत से परिचित होकर ही उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ऐतिहासिक पद्धति राजनीतिक संस्थाओं के विकास को समझने हेतु वैज्ञानिक शोध का आधार प्रस्तुत करती है। राज्य अपनेवर्तमान स्वरूप में दीर्घकालीन ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप आया है। राज्य के इस विकास क्रम में अतीत काल में कब कब तथा किन परिस्थितियों में क्या-क्या घटनाएँ घटी तथा उनके क्या कारण थे आदि ऐसी बातें हैं जो राज्य के वर्तमान तथा भावी स्वरूप को समझने तथा निर्धारित करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

बहुधा यह कहा जाता है कि संविधान बनाये नहीं जाते बल्कि विकसित होते हैं। इस तथ्य की सत्यता राज्य के संविधानों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती है। यह पद्धति हमें बतलाती है कि राजनीतिक घटनाएँ असम्बद्ध रूप से घटित नहीं होती वरन् एक न टूटने वाली श्रृंखला के रूप में आती हैं। यह महान राजनीतिक आन्दोलन और विचारों की खोज करती है और पूर्व ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं और विचारों की खोज करती है एवं वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं और विचारों की प्रामाणिकता का परीक्षण करने के योग्य बनाती है। इस सम्बन्ध में जिर्मन कहते हैं- यह भूत का सम्पर्क ही है जो मनुष्यों और समाजों को वर्तमान कार्यों के लिए तैयार करता है। वर्तमान जितना ही भौतिक चिन्ताओं और जटिलताओं के कारण तनावपूर्ण होता जायेगा, उतना ही भूत से प्रेरणा प्राप्त करने की आवश्यकता बढ़ती जायेगी।

यह भी कहा जाता है कि इतिहास की स्वयं पुनरावृत्ति होती है। भले ही यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक घटना चक्र की पुनरावृत्ति सदैव समान रूप से नहीं हुआ करती। परन्तु फिर भी अनेक परिस्थितियों में ऐसी पुनरावृत्ति होती ही है। ऐतिहासिक पद्धति की विशेषता दर्शाते हुए सर फ्रेडरिक पोलन नेकहा है- यह पद्धति इस बात की व्याख्या करने का प्रयास करती है कि संस्थाओं का रूप क्या है और कैसा बनता जा रहा है। ऐसा करने में वह उनके वर्तमान स्वरूप की व्याख्या करने की अपेक्षा इस बात पर अधिक जोर देती है कि उनका अतीत काल में क्या स्वरूप था और ये वर्तमान स्वरूप में किस प्रकार आयी।

ऐतिहासिक पद्धति की इस उपयोगिता के कारण ही अरस्तु के समय से इस पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। ऐतिहासिक पद्धति करने में विद्यार्थी को उपरी समानताओं और सादृश्यों के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। उसे अपने कल्पित विचारों का इतिहास द्वारा समर्थन ढूँढ निकालने के लोभ से बचना चाहिए। उसका दृष्टिकोण एकदम वैज्ञानिक एवं निष्पक्ष होना चाहिए। उसे अपने धर्म, दल या दर्शन से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न- 01

1. उपागम का उद्देश्य विषय के लिए विषयवस्तु एकत्रित करना है?
2. प्लेटो ने दार्शनिक पद्धति अपनायी- सत्य/असत्य
3. दार्शनिक पद्धति यथार्थ पर आधारित है। सत्य/असत्य

4.2.3 कानूनी उपागम

कानूनी दृष्टिकोण राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अति महत्वपूर्ण विषय रहा है। उसने राज्य, सम्प्रभुता, सरकार, न्याय, अधिकार, प्राकृतिक विधि, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आदि विषयों पर शताब्दियों तक विचार किया है। इस उपागम के अनुसार राजनीति विज्ञान को संविधान, कानूनी संहिता विधि द्वारा आदि के रूप में देखा जाता है। प्रायः कानूनी आधार पर ही राजनीतिक संस्थाओं को अन्य संस्थाओं से पृथक् किया जाता है। कानून का शासन व्यक्ति के शासन से उच्चतर है, यह दृष्टिकोण अरस्तू के समय से चला आ रहा है। आधुनिक युग में लोकतंत्र की एक प्रमुख शर्त के रूप में 'विधि के शासन' को माना जाता रहा है। कानून के सहारे ही समाजों में अन्धविश्वास खत्म होता है तथा रूढ़ियों में बदलाव लाया जाता है। राज्य के कानून सभी समुदायों के कानून से ऊपर हैं। यह धारणा राज्य की सम्प्रभुता को पुष्ट करती है। जनता की इच्छा या सामान्य इच्छा का कितना भी महत्व क्यों न हो, उसकी औपचारिक अभिव्यक्ति आवश्यक है। बेन्थन, जॉन आस्टिन आदि विधि समुदाय से सम्बद्ध चिन्तक कहे जाते हैं। फ्रांस, जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों में इस उपागम का शताब्दियों तक भारी प्रभाव रहा है। विधि का शासन न्यायपालिका की सर्वोच्चता, समानता की आवश्यकता, धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों में विश्वास, जगत में साश्वत नियमों में आस्था आदि इस उपागम की मौलिक मान्यताएँ रही हैं। सभी राजनीतिक विज्ञान के प्राध्यापक विधि संकायों के सदस्य थे। 'कानून के शासन' की धारणा ने इस उपागम को अत्यधिक बल प्रदान किया है।

4.2.4 संस्थात्मक उपागम

परम्परागत राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार के अध्ययन पर आधारित हैं। कानून की अभिव्यक्ति संस्थाओं के माध्यम से होती है। संस्थात्मक या संरचनात्मक उपागम अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। संविधानों का वर्गीकरण मसलन संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक, संघात्मक तथा एकात्मक संस्थाओं के स्वरूप के आधार पर ही किया गया है। संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध पर आधारित है। संघात्मक तथा एकात्मक केन्द्र तथा राज्य के सम्बन्ध पर आधारित है। महायुद्ध से पहले इसका विषय क्षेत्र राजनीतिक संस्थाओं के इर्द-गिर्द ही घूमता था। जिन प्रमुख संस्थाओं का इस विषय में अध्ययन किया जाता रहा है वे हैं- संविधान, सरकार, मंत्रिमण्डल, संसद, न्यायालय, स्थानीय संस्थाएँ, राजनैतिक दल, दबाव गुट, नागरिक सेवा, प्रशासनिक विभाग, शक्तिपृथक्करण संस्थाएँ एवं प्रविधियाँ आदि। यह उपागम संस्थात्मक मूल्यों, स्वरूप, प्रक्रिया, बनावट या संरचनाओं, कार्यों एवं अधिकारों, औपचारिक एवं अनौपचारिक रूपों, प्रकार, परिणाम, प्रभाव आदि का विवेचन करता है। राजनीति के इस उपागम का सुझाव है कि राजनीतिक संस्थाएँ सरकार की गतिविधियों के द्वारा दार्शनिक आदर्शों के व्यावहारिक रूप देती है। उदाहरण के लिए लोकतंत्र के मूल आदर्शों को प्राप्त करने के लिए निर्वाचित विधायिकाएँ तथा स्वतंत्र तथा निष्पक्ष न्यायालय जैसी संस्थाओं की आवश्यकता है। मान्टेस्क्यू ने शक्तिपृथक्करण सिद्धान्त को कार्यरूप देने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को एक-दूसरे से अलग करने का सुझाव दिया।

कानूनी तथा संस्थात्मक उपागम एक-दूसरे के पूरक हैं। औपचारिक अध्ययन में संस्थाओं के स्वरूप के साथ-साथ उनके कानूनी ढाँचे पर भी विचार किया जाता है। कानून समाज, राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय एवं राजनीति की एक आवश्यकता है। संस्थाएँ मूर्त तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस उपागम का बहुत समय तक उपयोग होता रहा। परन्तु धीरे-धीरे यह महसूस होने लगा कि यह उपागम मनुष्य तथा समाज को गहराई से समझाने में असमर्थहै। अतः व्यवहारवाद का आगमन हुआ जिसने राजनीति विज्ञान को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया।

अभ्यास प्रश्न- 02

1. लोकतंत्र की संरचना कानून के शासन पर आधारित है- सत्य/असत्य
2. राज्य की सम्प्रभुता का आशय है राज्य के कानून सर्वोपरि है- सत्य/असत्य
3. बेन्यन, जॉन आस्टिन ने कानूनी उपागम का प्रयोग किया है- सत्य/असत्य
4. संस्थात्मक उपागम राजनीतिक संस्थाओं से सम्बद्ध है- सत्य/असत्य

4.2.5 प्रयोगात्मक उपागम

राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय मानव होने के कारण इस विषय में प्रयोगों के लिए वैसा स्थान नहीं है जैसा कि पदार्थ विज्ञानों में। लेकिन फिर भी राजनीति विज्ञान में प्रयोग किये ही जाते हैं और इस विषय के अन्तर्गत किए जाने वाले प्रयोगों की एक विशिष्ट प्रकृति होती है। इसे लक्ष्य करते हुए गिलक्राइस्ट ने कहा है कि, "भौतिक शास्त्र और रसायन शास्त्र में जो प्रयोग विधि है वह यद्यपि राजनीति शास्त्र में पूरी तरह लागू नहीं हो सकती किन्तु फिर भी राजनीति शास्त्र में अपने विशिष्ट प्रकार के प्रयोगों के लिए काफी गुंजाइश है।"

शासन तथा प्रशासन के क्षेत्र में नई विधियों के निर्माण में प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग होता है। राजनीतिक घटनाएं, नई विधियों का निर्माण, नई राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना जैसे- भारत में पंचायती राज की व्यवस्था आदि इस शास्त्र के अध्ययन की प्रयोगात्मक पद्धतियाँ ही है। इन प्रयोगात्मक विधियों के निष्कर्ष तथा सफलताएं अन्य राज्यों के लए अनुकरणीय सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रतिपादन करती है। यदि प्रयोग शब्द को व्यापक अर्थों में लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान में निरन्तर रूप से ही प्रयोग होते रहते हैं। राजनीति वैज्ञानिक के लिए सम्पूर्ण विश्व एक प्रयोगशालय ही है और राजनीतिक क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन जो प्रतिदन होते हैं, वे राजनीति विज्ञान के प्रयोग ही हैं। काम्टे के शब्दों में, "राज्य के अन्तर्गत किया गया प्रत्येक परिवर्तन एक प्रयोग ही होता है।" इसी प्रकार ग्रिलक्राइस्ट ने कहा है कि, "शासन के ढाँचे में किया गया कोई भी परिवर्तन प्रत्येक नया कानून और प्रत्येक युद्ध राजनीति विज्ञान में एक प्रयोग ही होता है।" प्रो0 मरियम का तो विचार है कि राज्य के पास अन्य किसी भी संस्था की अपेक्षा प्रयोग के लिए बहुत सामग्री होती है। सेना, विद्यालय, सार्वजनिक सेवाएं और सार्वजनिक संस्थाओं की एक लम्बी कतार प्रत्यक्ष रूप से उसके नियत्रंण में होती है और इच्छानुसार प्रयोग के कार्य में लायी जा सकती है।

राजनीति के क्षेत्र में किये गये इस प्रकार के प्रयोगों के अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। 1919 के 'भारतीय शासन अधिनियम' के अन्तर्गत वैध शासन की स्थापना की गई थी, जिसकी असफलता देखकर 1955 के कानून द्वारा उसका अन्त कर दिया गया। इसी प्रकार 1959 में सर्वप्रथम भारतीय संघ के राजस्थान राज्य में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना को अपनाया गया, जिसकी सफलता को देखकर भारतीय संघ के अन्य राज्यों द्वारा भी इसे अपना लिया गया है। फ्रांस में जब संसदीय शासन के परिणाम स्वरूप निरन्तर राजनीतिक अस्थिरता रही तो इसमें अध्यक्षात्मक शासन के कुछ तत्व मिलाकर एक प्रयोग किया गया, जो बहुत अधिक सीमा तक सफल रहा।

प्रयोगात्मक पद्धति विशुद्ध रूप से प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन में प्रयुक्त होती है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन में इसका उपयोग मनचाहे ढंग से नहीं किया जा सकता। कभी-कभी इस पद्धति का

अनुसरण करने के लिए परिणाम भयावह हो सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि आप लोकतंत्र की कमियों को देखते हुए राज्य में अधिनायक तंत्र की स्थापना का प्रयोग किया जाय तो इससे राज्य की व्यवस्था में उथल-पुथल मच जायेगी। इसी प्रकार प्रयोग द्वारा कभी राज्य का संगठन एकात्मक कर दें और फिर संघात्मक, अथवा कभी संसदात्मक तथा कभी अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली प्रचलित करके प्रयोग करने लगें तो राज्य व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायेगी, संविधान में अस्थिरता बनी रहेगी और कानून के परिपालन की समस्या जटिल हो जायेगी। अतः राजनीति विज्ञान के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग उस भांति सम्भव नहीं है जिस भांति वह प्रकृति विज्ञानों में होता है। लार्ड ब्राइस के अनुसार, "जिन पदार्थो से रसायनशास्त्री का पाला पड़ता है वे सब सदैव एक से होते हैं, उनको तोला या मापा जा सकता है। जबकि मानवीय प्रकृति को केवल वर्णित किया जा सकता है। हम तापमान, नमी और हवा के दबाव को माप सकते हैं लेकिन एक भीड़ के भावों में कितनी गर्मी रही होगी वह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक संकटकाल में मंत्रिमण्डल के मत की सुनवाई होगी लेकिन कितनी यह कहना कठिन है। मत, संवेग और अन्य बातें जो राजनीति को प्रभावित करती हैं गणना करने योग्य नहीं है।

4.2.6 पर्यवेक्षात्मक उपागम

इस पद्धति का तात्पर्य यह है कि राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों का निरूपण तथा प्रतिपादन करने के लिए अध्ययनकर्ता को विभिन्न राज्यों की सरकारों तथा राजनीतिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली व उनके संगठन आदि के साथ सामीप्य स्थापित करके उनका पर्यवेक्षण करना चाहिए; उनके सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों की जनता के राजनीतिक आचरणों, भावनाओं आदि की विविधता को समझना चाहिए। यदि कोई राजनीतिक अध्ययनकर्ता स्थानीय स्वायत्त शासन का अध्ययन करना चाहता है तो उसे विभिन्न देशों की ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों की स्थानीय स्वायत्त शासन, संस्थाओं, पंचायतों, कम्यून, काउन्टी, जिला परिषद, सोवियत, नगरपालिका आदि के ज्ञान के लिए विभिन्न देशों में भ्रमण करना चाहिए। इन संस्थाओं की बैठकों की कार्यप्रणाली उनके द्वारा सम्पादित किए गये कार्यों, उनकी वित्तीय स्थिति आदि का पूर्ण ज्ञान यथास्थान करना चाहिए। तत्पश्चात् इनका अध्ययन नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए।

लार्ड ब्राइस, "सर्वप्रथम एक तथ्य को लीजिए, उसके बारे में आश्वस्त हो जाइये, उसे पूर्णतया स्पष्ट कर लीजिये, फिर उसे दूसरे तथ्यों से सम्बन्धित कीजिए। तत्पश्चात उस तथ्य का इन तथ्यों के साथ परीक्षण कीजिए, यह सोपान सबसे महत्वपूर्ण है। अन्ततः इसे अपने अध्ययन रूपी हार का मुख्य हीरा बनाईये।"

लावेस "राजनीति एक प्रयोगशाला विज्ञान नहीं है बल्कि एक पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है। राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविक कार्यविधि की प्रयोगशाला पुस्तकालय नहीं, वरन् राजनीतिक जीवन सम्बन्धी बाहरी विश्व है।"

इस पद्धति का जेम्स ब्राइस ने अपनी पुस्तक लिखते हुए किया। बैब दम्पत्ति (सिडनी और बैट्रिसवैब) ने रूस का भ्रमण किया और रूसी राजनीति, प्रशासन एवं आर्थिक संगठन को प्रत्यक्ष रूप में देखकर रचना की। इसी प्रकार जॉन गन्थर ने एशिया, अफ्रीका, और यूरोप के विभिन्न देशों में भ्रमण कर पुस्तकों के रूप में अपने पर्यवेक्षणात्मक अनुभवों को लेखबद्ध किया।

4.2.7 तुलनात्मक उपागम

यह पद्धति अति प्राचीन है। इसकी प्रक्रिया के अन्तर्गत अध्यनकर्ता राजनीतिक संगठनों, संस्थाओं, तथा व्यवस्थाओं का संकलन करके उनके निर्माण, कार्य पद्धतियों आदि का तुलनात्मक अध्ययन तथा परीक्षण करता है। तत्पश्चात् अपने निष्कर्ष निकालकर नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। यूनानी दार्शनिक अरस्तु ने अपने राजनीतिक अध्ययन हेतु तत्कालीन 158 राज्यों के संविधानों का अध्ययन करके आदर्श राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया था। अरस्तु ने इन संविधानों की तुलना के बाद क्रान्ति के कारणों की विवेचना की और सर्वोत्तम विधान के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले। इसी प्रकार मैकियावेली, जीन बोदाँ, माँटेस्क्यू, हेनरी मेन, डी रॉकविल, लार्ड ब्राइस आदि ने भी इस पद्धति का अनुसरण किया है।

माण्टेस्क्यू ने फ्रांसीसी संविधान की ब्रिटिश संविधान से तुलना करते हुए अपने शक्ति पृथक्करण के प्रसिद्ध सिद्धान्त की रचना की और ब्राइस ने भी पर्यवेक्षणात्मक पद्धति के साथ-साथ तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करते हुए प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक सामान्य परिस्थितियों का वर्णन किया है। डॉ. हरमन फाइनर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ आधुनिक सरकारों के सिद्धान्त व व्यवहार की रचना इस पद्धति के आधार पर ही की है। भारतीय संविधान के निर्माताओं को इस पद्धति से बहुत सहायता मिली थी। उन्होंने विभिन्न देशों की राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर अपने निष्कर्षों को भारतीय संविधान में संजो दिया। हमारे संविधान में अमेरिका के नमूने पर संघात्मक व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की तथा ब्रिटेन के नमनू पर संसदीय शासन की व्यवस्था की गई है। साथ ही नीति निर्देशक तत्व, संघ तथा एकक राज्यों के मध्य शक्ति-वितरण में अन्य अनेक राज्यों के संविधानों का अनुसरण इस भाँति किया गया है कि वे भारत की परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध हों।

तुलनात्मक पद्धति का अवलंबन करने वाले अध्ययनकर्ता को यह सावधानी बरतने की आवश्यकता है कि वह प्राचीन तथा वर्तमान कालीन जिन तथ्यों को तुलनात्मक अध्ययन हेतु संकलित करता है,

उनमें तत्सम्बन्धी समाजों तथा परिस्थितियों के साम्य तथा विविधता का ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा उसके निष्कर्षों, समस्त कालों, परिस्थितियों तथा समाजों में सही सिद्ध नहीं होंगे। कभी-कभी ऐसा सम्भव हो सकता है कि तुलनात्मक अध्ययन हेतु एकत्र की गई सामग्री के आधार पर जिन राज्यों का अध्ययन किया गया है वहाँ की जनता की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, भौगोलिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में पर्याप्त भिन्नता हो। परिणामस्वरूप उन सबके सम्बन्ध में समान निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा। उदाहरणार्थ, भारत तथा पाश्चात्य देशों के प्रजातंत्र के स्वरूप में समानता नहीं है। हमारा लोकतंत्र आर्थिक तथा सामाजिक न्याय पर आधारित है जबकि उनका लोकतंत्र मौलिक रूप से व्यक्तिवादी तथा पूँजीवादी है। यदि तुलना करते सम्बन्धित सामाजिक और आर्थिक वातावरण तथा मानव स्वभाव का ध्यान न रखा जाय तो तुलना के परिणामस्वरूप भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। मांटस्क्यू के साथ वस्तुतः ऐसा ही हुआ। उसके द्वारा इंग्लैण्ड के नागरिकों की स्वतंत्रता के कारण शक्ति विभाजन सिद्धान्त बतलाया गया, जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि इंग्लैण्ड में शक्ति विभाजन सिद्धान्त को अपनाया ही नहीं गया। इन्हीं कारणों से गार्नर इस प्रणाली की आलोचना करते हुए लिखते हैं- तुलनात्मक प्रणाली से व्यावहारिक रूप में गलती होने का भय है क्योंकि सामान्य नियमों की खोज करने का प्रयत्न करते हुए विभिन्न परिस्थितियों के भेद को भुला देने की भूल की जा सकती है।

अभ्यास प्रश्न- 03

1. अरस्तु ने कितने संविधानों का अध्ययन कर अपने निष्कर्ष निकाले?
2. मान्टेस्क्यू ने किन दो संविधानों में तुलना कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया?
3. हरमन फाइनर की पुस्तक का क्या नाम है? 4. लार्ड ब्राइस ने कौन सी पद्धति अपनायी?

4.3 सारांश

द्वितीय महायुद्ध से पहले राजनीति विज्ञान को परम्परागत राजनीति विज्ञान के रूप में जाना जाता है। परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण एवं विकास में अनेकों राजनीतिक विचारकों का योगदान रहा है। यथा- प्लेटो, अरस्तु, सिसरो, सन्त ऑगस्टाइन, एक्वीनास, लॉक, रूसो, मान्टेस्क्यू, कान्ट, हीगल, ग्रीन आदि। इन विचारकों ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण करने के लिए दार्शनिक, ऐतिहासिक,

कानूनी तथा संस्थात्मक पद्धति को अपनाया। ये पद्धतियाँ मुख्यतः राजनीतिक सिद्धान्तों तथा राजनीतिक संस्थाओं के इर्द-गिर्द घूमती रहती है। दार्शनिक पद्धति राजनीतिक चिन्तकों की मौलिक कल्पनाओं पर आधारित है। ऐतिहासिक पद्धति संस्थाओं के विकास को आधार बनाती है। कानूनी पद्धति कानून की दृष्टि से संस्थाओं के विकास को आधार बनाती है। कानूनी पद्धति कानून की दृष्टि से संस्थाओं का आकलन करती है। संरचनात्मक पद्धति यह मानकर चलती है कि राजनीति विज्ञान का विषय क्षेत्र विभिन्न प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करना है। तुलनात्मक उपागम संस्थाओं की तुलना पर आधारित है।

4.4 शब्दावली

1. उपागमः पद्धति, जिसकी सहायता से विषय सामग्री की तलाश की जा सकती हो।
2. परम्परागत राजनीति विज्ञानः द्वितीय महायुद्ध से पूर्व का राजनीति विज्ञान।
3. राजनीतिक मूल्यः नैतिकता पर आधारित,
4. सम्प्रभुताः राज्य का वह गुण, जो उसे अपने क्षेत्र में सर्वोच्चता प्रदान करता है।

4.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर - 01

1. सत्य 2. सत्य 3. असत्य

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर- 02

1. सत्य 2. सत्य 3. सत्य 4. सत्य

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर- 03 1.158 2.इंग्लैण्ड तथा फ्रांस 3.आधुनिक सरकारों का सिद्धान्त एवं व्यवहार

4.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. अनूप चन्द्र कपूर तथा डॉ. कृष्ण कान्त मिश्र, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, एस. चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2001

2. डॉ. कृष्ण कान्त मिश्र, राजनीति सिद्धान्त एवं शासन, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली 2001

3. डॉ. पुखराज जैन एवं डा. वी.एन. खन्ना, राजनीति विज्ञान, साहित्य भवन, आगरा, 2005

4. डॉ. एस. भटनागर, राजनीति शास्त्र, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1987

4.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डॉ. श्यामलाल वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1992

4.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक विज्ञानों में विषय सामग्री का संक्रमण किस माध्यम से होता है। दार्शनिक तथा ऐतिहासिक पद्धति की विवेचना कीजिए।

2. परम्परागत राजनीति विज्ञान की विभिन्न पद्धतियों का वर्णन कीजिये

इकाई 5 प्रमुख आधुनिक उपागम

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 राजनीतिक विज्ञान के प्रमुख आधुनिक उपागम
5.2.1 मार्क्सवादी उपागम
5.2.2 समाजशास्त्रीय उपागम
5.2.3 व्यवहारवादी उपागम
5.2.4 उत्तरव्यवहारवाद
5.3 सारांश
5.4 शब्दावली
5.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

अब तक जिन पद्धतियों का अध्ययन किया गया वे परम्परागत राजनीति विज्ञान से सम्बद्ध थी। प्रयोग और पर्यवेक्षण भी राजनीतिक संस्थाओं को ही दृष्टिकोण में रखकर किए गए थे। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद विषय क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन आया। अब इसका क्षेत्र राजनीतिक संस्थाओं तक सीमित न रहकर समाज के अन्दर चल रही क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं तक व्याप्त हो गया। अब उसमें सभी राज्य एवं अराज्य सम्बन्धी राजनीतिक संरचनाओं, प्रक्रियाओं तथा राजनीतिक संघर्षों का अध्ययन किया जाने लगा। अतः ऐसी पद्धतियॉ अस्तित्व में आई जिनका उद्देश्य समाज के अन्दर प्रवेश कर उसके अन्दर चल रही प्रक्रियाओं और संघर्षों का तथा राजनीतिक व्यवस्था में उनके प्रभाव का अध्ययन करना था।

प्रथम विश्व युद्ध तथा द्वितीय युद्ध के अन्तराल और उसके बाद वैश्विक घटनाओं में कई प्रकार के बदलाव आये। वैज्ञानिक आविष्कार, विश्व का विचारधाराओं के आधार पर दो गुटों में बंट जाना तथा तीसरे विश्व के कई देशों का स्वतंत्र होना ये महत्वपूर्ण घटनाएँ थी। इन घटनाओं ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में नए सिरे से सोचने को बाध्य किया। साथ ही तीसरे विश्व में हुए परिवर्तनों ने शोषक और शोषित वर्गों के सम्बन्धों की नवीन दृष्टिकोण से व्यवस्था की। रूस में बोल्शविक क्रान्ति ने राजनीतिक घटनाओं के लिए विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्धति प्रदान की। वहीं वैज्ञानिक आविष्कारों ने बाध्य किया कि ऐसे नियम व प्रमाणीकरण खोजे जाय जिससे सामाजिक विज्ञानों को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाय।

प्राकृतिक विज्ञनों से प्रेरणा लेकर सामाजिक विज्ञानों ने भी अपनी अध्ययन पद्धतियों, अध्ययन क्षेत्र एवं अध्ययन दृष्टिकोण में आधारभूत और गुणात्मक परिवर्तन अपनाया है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन को वैज्ञानिक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अपनायी।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

1. आधुनिक उपागम तथा परम्परागत उपागमों में अन्तर।
2. मार्क्सवादी उपागम के माध्यम से राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण।
3. राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति की भूमिका तथा प्रभाव।

5.2 राजनीतिक विज्ञान के प्रमुख आधुनिक उपागम

5.2.1 मार्क्सवादी उपागम

19वीं सदी में मार्क्सवाद के आने से राजनीति और राजनीतिक सम्बन्धों का विश्लेषण करने की एक नई पद्धति अस्तित्व में आई। कार्लमार्क्स आधुनिक युग का ऐसा दार्शनिक था जिसने तार्किक रूप से समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादन के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज की है। यद्यपि कार्लमार्क्स के पूर्व भी अनेक समाजवादी विचारकों ने अपनेविचार रखे; जैसे- इंग्लैण्ड के विचारक राबर्ट ओवन, सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा प्रूधो । इन विचारकों ने पूँजीवादी व्यवस्था में मौजूद विषमताओं को इंगित किया किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर नयी समाजवादी व्यवस्था के लिए कोई राजनीतिक या क्रान्तिकारी तरीके नहीं बताये। समाजवाद का क्रमबद्ध इतिहास सम्मत तथा वैज्ञानिक निरूपण मार्क्स के द्वारा ही किया गया। मार्क्स राजनीति को स्वतंत्र अस्तित्व देने के पक्ष में नहीं है। उसका मानना है कि आर्थिक क्रिया महत्वपूर्ण है और यही सभी संरचनाओं का निर्धारण करती है। मार्क्स ने समकालीन अर्थव्यवस्थ को आधार मानकर राज्य की विवेचना की। यूनान और रोम की राजनीति और संस्कृति को समझने के लिए दासता पर आधारित अर्थव्यवस्था को बुनियादी बनाया। मध्य युग की राजनीतिक प्रणाली का आधार सामंत शाही पर आधारित उत्पादन के तरीके और सम्बन्ध माना। इसी प्रकार उदारवादी प्रतिनिधि लोकतंत्र पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अभिव्यक्ति है। अंत में जब समाजवादी क्रान्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग की अधिनायकतंत्र स्थापित होता है तो यह समाजवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित होता है।

इस पद्धति को अपनाने वाले विद्यार्थी को आर्थिक व्यवस्था को आधार बनाकर अध्ययन करना है। कोई अर्थव्यवस्था किस प्रकार की राजनीतिक प्रणाली को प्रोत्साहित करती है। समाज में कौन से वर्ग हैं और वे किन आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, कौन वर्ग उत्पादन में साधनों के मालिक हैं। कौन वर्ग परिवर्तन की मांग करता है। कौन-सा वर्ग यथास्थितिवादी है, समाज में वर्तमान विचारधारा किन हितों का ध्यान रखती है। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर ही मार्क्सवादी आधार पर राजनीतिक स्थितियों का मूल्यांकन किया जा सकता है। मार्क्सवादी पद्धति ने स्वाभाविक विज्ञानों को इतना अधिक प्रभावित किया है कि 'मार्क्सवादी विचारकों' के नाम से सम्प्रदाय बन गए हैं।

इस पद्धति की आलोचना की जाती है कि यह एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित है। आर्थिक स्थितियाँ ही एकमात्र निर्धारक तत्व नहीं है। इतिहास के गंभीर परिवर्तनों के पीछे संयोग की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। इसके बावजूद समाज के निचले वर्ग का अध्ययन के लिए यह पद्धति महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। समाज में जब तक आर्थिक विषमता और शोषण की समस्याएँ मौजूद रहेंगी तब तक इस पद्धति की उपयोगिता बनी रहेगी।

5.2.2 समाजशास्त्रीय उपागम

प्लेटो और अरस्तु के समय से ही इस तथ्य को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाता रहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और राज्य उसकी इस सामाजिकता का परिणाम है। राजनीति और राजनीतिक संस्थाएँ समाज का ही अंग होती है। व्यक्ति और समूह पर सामाजिक तत्वों-संस्कृति, जाति, परम्पराएँ, वर्ग भे, धर्म, भाषा, परिस्थिति आदि का गहरा प्रभाव होता है। राजनीतिक इन्हीं के सहारे शक्ति और प्रभाव ग्रहण करती है। आजकल लोक कल्याणकारी राज्य के उदय हो जाने की वजह से राज्य तथा राजनीति समाज के प्रत्येक क्षेत्र में घुस गई है। समाज के सारे सवाल व सारे पहलू किसी न किसी रूप से राज्य तथा राजनीति से जुड़ गए हैं।

पिछले 20-25 वर्षों में राजनीति में व्यवहारवाद के विकास के साथ-साथ समाजशास्त्र का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव काफी बढ़ गया है। मानव का राजनैतिक व्यवहार समाज की परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित होता है। राजनैतिक व्यवहार को समझने के लिए नागरिकों का राजनैतिक समाजीकरण तथा समाज की राजनैतिक संस्कृति एवं परम्पराएँ जानना आवश्यक है। समाजशास्त्रीय उपागम समस्त समाज को अपनी विषय परिधि बनाता है तथा उसकी सम्पूर्ण प्रक्रियाओं का अन्वेषण करता है। वह समाज के अन्तर्गत सभी संस्थाओं, बलों, संगठित व असंगठित समूहों, नियमों, परम्पराओं, अपराधों आदि से अपना सम्बन्ध रखता है। आधुनिक युग में सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त, संरचनात्मक, प्रकार्यात्मक उपागम आदि समाजशास्त्र की ही देन है। कैटलिन ने तो स्पष्ट कहा है कि व्यापक रूप से राजनीति संगठित समाज का अध्ययन है। इसलिए उसे समाजशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता। वह राजनीति विज्ञान को यदि वह समाजशास्त्र से अलग है, बिना शरीर वाले मस्तिष्क के समान मानता है।

परन्तु राजविज्ञानी का अध्ययन वैज्ञानिक होते हुए भी समाजशास्त्र की तरह सर्वथा मूल्य निरपेक्ष नहीं होता। उसे केवल वैज्ञानिक अध्ययन करके कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत कर देने के साथ छुट्टी नहीं मिल जाती, अपितु उसे शाश्वत एवं व्यापक मूल्यों के बीच में जैसे प्रजातंत्र और तानाशाही के बीच चयन करना होता है। राजविज्ञानी के निष्कर्ष सत्यापनीय नहीं होते।वे आश्वस्त होकर राजनीतिज्ञों, प्रशासकों तथा नागरिकों को निश्चित एवं विश्वसनीय दिशाएँ नहीं दे सकते।

अभ्यास प्रश्न- 01

1. मार्क्सवादी अध्ययन में मुख्य निर्धारक तत्व क्या है?
2. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है? किसने कहा।
3. कैटलिन ने समाजशास्त्रीय उपागम का प्रयोग किया- सत्य/असत्य

5.2.3 व्यवहारवादी उपागम

व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम राजनीति तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण का एक विशेष तरीका है, जिसे द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिकी वैज्ञानिकों द्वारा विकसित किया गया। परम्परागवादी यूरोपियन विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को विकसित करते समय मुख्य बल ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विवेचना को दिया था। फलस्वरूप उसके ऊपर इतिहास एवं दर्शन का ही प्रभाव सर्वाधिक मात्रा में पाया जाता रहा। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त यह अनुभव किया जाने लगा कि राजनीति विज्ञान को सही अर्थों में 'विज्ञानत्व' प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि एक लम्बे समय से चली आ रही इस यथास्थिति का अन्त किया जाना चाहिए। फलतः राजनीति वैज्ञानिकों का ध्यान संस्थाओं और मूल्यों से हटकर मनुष्य के आचरण के ऊपर केन्द्रित होने लगा। राजनीतिक वैज्ञानिकों को अपनी विषय वस्तु के लिए इतिहास और दर्शन से सामग्री प्राप्त करने के स्थान पर समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र की ओर अभिमुख होने की आवश्यकता महसूस हुई। इतिहास और दर्शन के प्रभाव के अधीन राजनीति विज्ञान में या तो राजनीतिक संस्थाओं का औपचारिक रूप से अध्ययन किया जाता रहा था अथवा इन राजनीतिक मूल्यों की विवेचना की जाती रही जिनके ऊपर राजनीतिक संस्थाओं को आधारित किया जाना चाहिए। स्पष्टतः इस प्रकार के अध्ययन में मनुष्य के अध्ययन के लिए जिसके लिए संस्थाओं की रचना हुई है कोई स्थान नहीं था। व्यवहारवादी उपागम का उदय इसी संदर्भ में हुआ है। इस उपागम को विकसित करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान अमरीकी राजनीति वैज्ञानिकों का रहा है, जिनमें मेरियम, कैटलिन, ट्रमैन, युलाऊ आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

व्यवहारवाद अनुभवात्मक और क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्ति निष्ठ मूल्यों और कल्पनाओं आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यवहारवाद इस दृष्टि से परम्परावादियों के नितान्त विरुद्ध है कि वह राजविज्ञान को राज्य की कानूनी एवं दार्शनिक सीमाओं में बाँधने के लिए तैयार नहीं है। व्यवहारवाद के अनुसार राज्य के बाहर भी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की संस्थाएँ और सत्ताएँ है और इन सबको प्रेरित करने वाला मानवीय व्यवहार है, उसका अध्ययन अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

व्यवहार से मिलते-जुलते बहुत से शब्द हैं; जैसे- आचरण, कार्य, क्रिया आदि। 'व्यवहार' शब्द को मूल निरपेक्ष या तटस्थ माना गया है। व्यवहार को अपने अध्ययन, अवलोकन, व्याख्या, निष्कर्ष आदि का आधार मानने की प्रवृत्ति या दृष्टिकोण् को 'व्यवहारवाद' कहा जाता है। संक्षेप में व्यवहारवाद मानव व्यवहार के अवलोकन पर आधारित अध्ययन करने वाली विचारधारा या आन्दोलन है, अर्थात यह मनुष्य के व्यवहार को देखकर अध्ययन करने की प्रणाली है। एक दृष्टि से हम सभी व्यवहारवादी हैं। हम एक-दूसरे के व्यवहार को देखते व सोचते हैं तथा उसी के अनुरूप अपना व्यवहार करते हैं।

राजविज्ञान के इतिहास में व्यवहारवाद या व्यवहारपरक अध्ययन का बड़ा महत्व है। उसे एक महान क्रान्ति माना जाता है। व्यवहारवादी क्रान्ति ने राजविज्ञान के लक्ष्य, स्वरूप, विषय क्षेत्र, पद्धति विज्ञान आदि सभी को बदल दिया है। इसके प्रभाव से वह न केवल 'राजनीति विज्ञान' बन गया है अपितु अब यह राजनीति का विज्ञान भी बन रहा है।

यह बात नहीं है कि राजविज्ञान ने मानव व्यवहार की ओर ध्यान नहीं दिया हो और आज ही 'व्यवहारवादी' बना हो। प्राचीन काल से ही राजवेत्ता और शासक दोनों ही व्यवहारवादी रहे हैं और मानव के व्यवहार को देखकर काम करते आये हैं। प्लेटो, अरस्तु, चाणक्य, सिसरो, मैकियावली, हॉब्स तथा लॉक आदि सभी किसी ने किसी मात्रा में मानव व्यवहार का अवलोकन करके लिखा है। किन्तु प्राचीन काल में उन सभी में आदर्श, स्वेच्छा, कल्पना आदि काफी मात्रा में पायी जाती थी। वैरलसन के अनुसार व्यवहारवादी क्रान्ति का वैज्ञानिक लक्ष्य 'मानव व्यवहार के विषय में ऐसे सामान्यीकरण प्राप्त करना है जिन्हें निष्पक्ष और वस्तुपरक ढंग से एकत्रित आनुभाविक प्रमाणों से पुष्ट किया गया हो।' उसका सर्वोच्च लक्ष्य मानव व्यवहार को उसी प्रकार समझना व्याख्या करना तथा उसका पूर्वकथन करना है, जिस प्रकार से वैज्ञानिक लोग नैतिक या प्राणिशास्त्रीय तत्वों के विषय में करते हैं। व्यवहारवाद में व्यवहार को प्रेरित एवं संचालित करने वाले कारकों तथा सम्बद्ध तत्वों को भी शामिल किया जाता है।

सामान्यतया व्यवहारवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

5.2.3. 1. नियमितताएँ

राजनीति व्यवहार में खोज किए जाने योग्य नियमितताएँ या समानाएँ पाई जाती है। ये नियमिताएँ व्यवहारवादियों के लिए महत्वपूर्ण है। इन्हें बारम्बारताएँ समान्यताएँ आदि भी कहा जा सकता है। ये बार-बार घटित होने वाली गतिविधियों या क्रियाओं को बताती है। ऋतुविज्ञान में मौसम और ज्योतिष शास्त्र में तारों की गतिविधियों की तरह मानव के व्यवहार में पायी जाने वाली नियमित समानताओं को जान सकते हैं। सरकार के दमन अथवा लोकप्रिय नेता के आगमर पर जनता की गतिविधियों में पायी जानी नियमितताओं का उल्लेख किया जा सकता है। ऐसी नियमितताओं के संदर्भ में ही कानून, नियम, उपनियम आदि बनाये जाते हैं। ¬प्रजातंत्र में न्यायपालिका का स्वतंत्र होना आवश्यक है।

5.2.3 2. सत्यापन

नियमितताओं की खोज सामान्य व्यवहार के संदर्भ में होनी चाहिए। उन नियमितताओं पर आधारित निष्कर्षों का सत्यापन होना चाहिए। ऐसी सत्यापन विधि वैज्ञानिकता का आधार है। यदि उन नियमितताओं की जाँच या परीक्षण नहीं किया जा सकता है तो उनके आधार पर वैज्ञानिक सिद्धान्त

विकसित नहीं किये जा सकते। ¬प्राकृतिक विज्ञानों में यह कार्य दोहरा व पुनः प्रयोग करके किया जा सकता है। कोई नेता अब लोकप्रिय रहा अथवा नहीं, या एक पड़ोसी अब मित्र है कि नहीं इसकी जाँच की जा सकती है।

5.2.3. 3. प्राविधियाँ

व्यवहारवाद आनुभविक तरीकों, पद्धतियों और प्राविधियों पर बहुत जोर देता है। इसका अर्थ यह है कि तथ्यों, ऑकड़ों तथा नियमितताओं को प्राप्त करने के लिए मान्य शोध पद्धतियों एवं प्राविधियों की सहायता ली जानी चाहिए। जो कुछ सामग्री प्राप्त हो, उसकी जाँच होनी चाहिए कि वह कहाँ तक प्रमाणिक है। व्यवहारवादियों का मत है कि आधार सामग्री को प्राप्त करने एवं निर्वचन करने के साधनों को स्वयंसिद्ध या अन्तिम नहीं माना जा सकता है। उनको सावधानी से बार-बार शुद्ध या परीक्षित किये जाने की आवश्यकता है। उन्हें प्रमाणित किया जाना चाहिए ताकि व्यवहार का पर्यवेक्षण, लेखबद्ध तथा विश्लेषण के लिए परिशुद्ध साधनों को ढूंढा जा सके। परिशुद्धिकरण की प्रक्रिया विकासशील है। नये तथ्य प्राप्त होने पर पुरानी सामग्री को अप्रमाणित ठहराया जा सकता है।

5.2.3. 4. परिमाणन

व्यवहारवादी अध्ययन के विवरण तथा आधार सामग्री को लेखबद्ध करने में यथातथ्यता लाने के लिए मापन एवं परिमाणन की आवश्यकता पड़ती है। यह किया जाना चाहिए। इससे अध्ययन में सूक्ष्मता एवं परिशुद्धता आती है। तथ्यों को प्रमाणिक मानने तथा उनकी परस्पर तुलना करनेके लिए परिमाणन किया जाता है। यह परिमाणन गणितीय या सामाजमितीय विधियों से हो सकताहै।

5.2.3 5. मूल्य

व्यवहारवाद में राजवैज्ञानिक अपने मूल्यों, आदर्शों, भावनाओं आदि को दूर रखता है। अर्थात् वह मूल्यात्मक दृष्टि से तटस्थ या निरपेक्ष रहता है। उसकी दृष्टि से कोई भी वस्तु अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होती। वह मूल्यों से तथ्यों को पृथक रखता है।

5.2.3. 6. क्रमबद्धता

व्यवहारवाद क्रमबद्धता पर जोर देता है। इस क्रमबद्धता के मान्य चरण या क्रम है। अध्ययन, अवलोकन, तथ्य संग्रहण, सिद्धान्त, निर्माण, सत्यापन आदि सभी में क्रमबद्धता रहनी चाहिए। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात तथ्यों और सिद्धान्तों की निकटता है। बिना सिद्धान्त निर्देशन के शोध नगण्य तथा बिना तथ्यों के सिद्धान्त निरर्थक हो जाता है। सिद्धान्त और तथ्य एक-दूसरे से अपृथकनीय होते हैं।

5.2.3 7. विशुद्ध विज्ञान

व्यवहारवाद को पहले राजनीति का विशुद्ध विज्ञान विकसित करने का प्रयास करना चाहिए। उसे मौलिक और विशुद्ध शोध की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे समस्याओं के समाधान, विश्लेषण आदि उपयोगों की ओर बाद में सोचना चाहिए।

5.2.3. 8. एकीकरण

राजनीति विज्ञान सहित सभी सामाजिक विज्ञान समस्त मानव परिस्थितियों से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव राजविज्ञान को अन्य सभी विषयों से सम्बन्ध रखना चाहिए। राजविज्ञान को चाहिए कि वह अन्य अनुशासनों की सहायता से अपने आपको समृद्ध बनावे। अतः अन्तर अनुशासनात्मक व्यवहारवाद की विशेष देन मानी जाती है।

व्यवहारवाद ने राजविज्ञान को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। राजविज्ञान को वैज्ञानिक बनाने के लिए व्यवहारवाद ने इसे आधुनिक पद्धतियाँ और प्राविधियाँ दी है। साथ ही उसने राजविज्ञान को 'पूर्ण' बनाने के लिए अन्य विषयों से सम्बन्ध रखने की धारणा अन्तरनुशासनात्मकता या अन्तर्वेषयिकता दी है। राजविज्ञान को उसने इनकी सहायता से यह बताया है कि मानव की मूल प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ, मांगें और आवश्यकताएँ क्या है? वह विभिन्न राजनैतिक परिस्थितियों में क्या, कैसे और कब व्यवहार करता है?

व्यवहारवादियों ने व्यक्तित्व के व्यवहार पर पड़ने वाले प्रभावों को जानने के लिए साक्षात्कार, मुक्त प्रश्नावलियों, विषयवस्तु विश्लेषण, सांख्यिकी प्राविधियों आदि को अपनाने की ओर प्रवृत्त किया। इन सर्वेक्षणों, प्राविधियों एवं सत्यापन पद्धतियों ने अभिवृत्ति मापन प्रतिनिधित्व की समस्याओं की ओर ध्यान खींचा जिसका दृष्टान्त मतदान व्यवहार सम्बन्धी अध्ययन है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव परम्परागत रूप से किये जाने वाले राजनीतिक दलों, विधि निर्माण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, लोक प्रशासन आदि के अध्ययनों पर देखा जा सकता है। इसका प्रभाव मीडिया पर भी देखा जा सकता है। हर नेता का लोकप्रिय का ग्राफ, किसी भी नीति के प्रभाव का ग्राफ तथा किसी भी राष्ट्र शक्ति का मूल्यांकन करने के लिए वैज्ञानिकों द्वारा इस प्राविधि का प्रयोग किया जा रहा है।

5.2.3.9 व्यवहारवाद का मूल्यांकन

व्यवहारवाद एवं व्यवहारवादियों की अनेक दृष्टि से आलोचना की गई है। पहला, यह कहा जाता है कि उनके आचरण में विरोधाभास पाया जाता है। वे अपने आपको विशुद्ध एवं मूल्यनिरपेक्ष वैज्ञानिक मानते हैं, किन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि उनके भी अपने मूल्य हैं। क्रिश्चियन बे की तरह यह आलोचना ठीक है कि उनमें उदारवादी प्रजातंत्र के प्रति पूर्वाग्रह है। कोई भी ऐसा व्यवहारवादी

नहीं है जो उदारतंत्र में विश्वास न रखता हो, फिर भी वह अपने आपको मूल्य-निरपेक्ष मानता रहेगा। दूसरा, विशुद्ध वैज्ञानिक होने का दावा करने के बावजूद भी वे मानव व्यवहार का एक विश्वसनीय तथा सत्यापित विज्ञान नहीं खोज पाये हैं। तीसरा, सामाजिक विज्ञानों को प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति सिर्फ तथ्य तथा आकड़ों पर आधारित नहीं किया जा सकता। राजनीति विज्ञान में नैतिक प्रश्न हमेशा अन्तर्निहित रहता है। नैतिक मूल्य की अनदेखी नहीं की जा सकती। व्यक्ति को पशु या मशीन की तरह नहीं नापा जा सकता।

5.2.4 उत्तरव्यवहारवाद

व्यवहारवादियों की इन्हीं दुर्बलताओं के कारण उत्तरव्यवहारवाद का जन्म हुआ। डेविड ईस्टन, जिसने व्यवहारवाद की विशेषताओं का औपचारिक प्रतिपादन किया, उसी ने 1969 में उत्तर व्यवहारवाद की नींव रखी। उत्तरव्यवहारवाद व्यवहारवादियों के राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों की श्रेणी में नहीं रखना चाहता। यह व्यापक मूल्यों के संदर्भ में परिवर्तन का पक्षधर है। किन्तु इसे परम्परावाद का पुनरुत्थान नहीं मानना चाहिए। उत्तरव्यवहारवाद व्यवहारवाद की विशेषताओं को बनाये रखना चाहता है। ईस्टन ने कहा है, ''यह प्रतिक्रिया न होकर क्रान्ति है। इसमें यथास्थिति नहीं, वरन् नया स्वरूप उभर रहाहै। यह सुधार है, प्रति सुधार नहीं।'' इसे किसी एक विचारधारा या विचारवाद से संयुक्त करना गलत होगा। उत्तर व्यवहारवाद शैक्षिक तथा मूल्यात्मक महत्व को दिखाना चाहता है। उत्तरव्यवहारवाद में परम्परागततथा व्यवहारवादी दोनों की विशेषताएँ शामिल हैं। वह तथ्य और मूल्य दोनों को साथ लेकर चलता है। व्यवहारवाद तथा उत्तरव्यवहारवाद दोनों के प्रयासों से राजनीतिकेवल एक अध्ययन-अध्यापन विषय मात्र न रहकर समाज की वास्तविक समस्याओं के समाधान देने योग्य विषय हो गया है। व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को यदि वैज्ञानिक विश्लेषण के आयाम दिए हैं तो उत्तरव्यवहारवाद ने उसे समाज के लिए उपयोगी बना दिया है। अब दोनों क्रान्तियों के संदर्भ में वैज्ञानिक पद्धति एवं मूल्यों की समस्या पर विचार किया जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न- 02

1. व्यवहारद मूल्यों पर बल नहीं देता- सत्य/असत्य
2. अरस्तु, एक व्यवहारवादी विचारक है- सत्य/असत्य
3. व्यवहारावादी अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक नहीं है- सत्य/असत्य
4. कैटलिन के अनुसार राजनीति विज्ञान का सम्बद्ध शक्ति से है- सत्य/असत्य

5.3 सारांश

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन आया। अब यह सिर्फ राजनीतिक संस्थाओं तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण समाज की क्रियाओं प्रतिक्रियाओं तक फैल गया। इसकी प्रविधियों में भी बदलाव आया। मार्क्सवाद ने आर्थिक वर्गों के आधार पर राजनीतिक व्यवस्था का मूल्यांकन करनेका तरीका प्रदान कियसा। समाजशास्त्रीय उपागम ने राजनीति क्रियाओं को सम्पूर्ण समाज में आच्छादित बताया। राजनीति संस्थाओं को तभी समझा जा सकता है जब हम राजनीतत व्यवस्था के अंदरूनी ताने-बाने को समझे। व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। इन्होंने मानव व्यवहार में पायी जाने वाली सूक्ष्म समानताओं को खोज निकाला है। उत्तर व्यवहारवादियों ने व्यवहार में मूल्य का पुट उसे समाजोपयोगी बना दिया है।

5.4 शब्दावली

1. समकालीनः जो एक ही समय में साथ-साथ विद्यमान हो।
2. सामंतशाहीः समाज में सामतों यानि बड़े जमीदारों को विशेष अधिकार व प्रभाव।
3. सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतमः मार्क्स ने इस शब्द को इजाद किया है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में मार्क्स पूँजीवादी की समाप्ति के बाद एक ऐसे युग की कल्पना करता है जिसमें मजदूर यानि सर्वाहारा वर्ग की तानाशाही होगी।
4. सत्यापनः किसी भी तथ्य को बार-बार जॉच कर पुष्ट करना।
5. प्रविधियॉः वे तरीके जिनके माध्यम से मानव व्यवहार को नापा जाय।
6. परिमाणनः गणित के सहारे निष्कर्ष निकालना।
7. क्रमबद्धताः क्रम से काम करना।

5.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर- 01

1. आर्थिक तत्व 2. अरस्तु 3. सत्य

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर- 02

1. सत्य 2. असत्य 3. असत्य 4. सत्य

5.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. अनूप चन्द्र कपूर तथा डॉ. कृष्ण कान्त मिश्र, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, एस. चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2001

2. डॉ. कृष्ण कान्त मिश्र, राजनीति सिद्धान्त एवं शासन, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली 2001

3. डॉ. पुखराज जैन एवं डा. वी.एन. खन्ना, राजनीति विज्ञान, साहित्य भवन, आगरा, 2005

4. डॉ. एस. भटनागर, राजनीति शास्त्र, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1987

5.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. डॉ. श्यामलाल वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1992

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मार्क्सवादी उपागम का मूल्यांकन किजिए?

2. व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति ला दी है। स्पष्ट कीजिये?

3. उत्तरव्यवहारवाद क्या है। इससे व्यवहारवाद में क्या परिवर्तन आया?

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर 2

1. बोदां, हॉब्स, मान्टेस्कयू, ब्राइस, ब्लटंशली, जैलीनेक, फाइनर तथा लाक्सी

2. बक्ल, काम्टे, मेटलैण्ड, एमास, केटलिन, मोस्का, ब्रोग्रन, बर्क 3. हॉल्स 4. लासवेल

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. अनूप चन्द्र कपूर तथा डॉ. कृष्ण कान्त मिश्र, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, एस. चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2001

2. डॉ. कृष्ण कान्त मिश्र, राजनीति सिद्धान्त एवं शासन, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली 2001

3. डॉ. पुखराज जैन एवं डा. वी.एन. खन्ना, राजनीति विज्ञान, साहित्य भवन, आगरा, 2005

4. डॉ. एस. भटनागर, राजनीति शास्त्र, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1987

6.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5. डॉ. श्यामलाल वर्मा, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1992

6.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान के प्रकृति की विवेचना कीजिए.

२. राजनीति विज्ञान कला है या विज्ञान स्पष्ट कीजिये .

इकाई - 6 : राज्य अर्थ, प्रकृति क्षेत्र एवं तत्व

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 राज्य का अर्थ
6.3 राज्य की प्रकृति
6.4 राज्य का क्षेत्र
6.5 राज्य के तत्व
6.5.1 जनसंख्या
6.5.2 प्रदेश
6.5.3 शासन
6.5.4 प्रभुसत्ता या संप्रभुता
6.6 सारांश
6.7 शब्दावली
6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
6.11 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

राज्य राजनीति विज्ञान में एक वैज्ञानिक अर्थ रखने वाला शब्द है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक राजनीतिक चिंतन का केन्द्रीय प्रतिपाद्य विषय राज्य रहा है। अरस्तू की दृष्टि से व्यक्ति की कल्पना राज्य के अन्दर की जा सकती है। उसने कहा था कि राज्य के बाहर रहने वाला व्यक्ति पशु या देवता होगा, मानव नहीं हो सकता। इसी कारण उसने राज्य को स्वाभाविक संस्था माना था तथा अपने विचारों में केन्द्रीय स्थान राज्य को दिया था। गेटेल ने राजनीति विज्ञान को 'राज्य का विज्ञान' कहकर पुकारा था तथा जाने माने राजनीति शास्त्र के विद्वान गार्नर ने तो यहाँ तक कह दिया था कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्य के साथ प्रारम्भ होता है तथा राज्य के साथ ही समाप्त हो जाता है। सामान्य भाषा में प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार राज्य का प्रयोग सरकार समाज, समुदाय एवं राष्ट्र आदि के लिए करता है। ये सभी शब्द अपना-अपना निश्चित एवं स्पष्ट अर्थ रखते हैं परन्तु राज्य शब्द इनसे कुछ भिन्न अर्थ रखता है।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्न बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

1. राज्य का अर्थ क्या है?
2. एक राजनीतिक इकाई के रूप में राज्ष्य की प्रकृति क्या होती है।
3. राज्य के क्षेत्र क्या होते हैं?
4. राज्य के विभिन्न तत्व एवं उनकी विशेषतायें।
5. इकाई का परिचय एवं पाठ्य सामग्री।

6.2 राज्य का अर्थ:

राज्य राजनीति विज्ञान में एक वैज्ञानिक अर्थ रखने वाला शब्द है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक राजनीतिक चिंतन का केन्द्रीय प्रतिपाद्य विषय राज्य रहा है। अरस्तू की दृष्टि से व्यक्ति की कल्पना राज्य के अन्दर की जा सकती है। उसने कहा था कि राज्य के बाहर रहने वाला व्यक्ति पशु या देवता होगा, मानव नहीं हो सकता। इसी कारण उसने राज्य को स्वाभाविक संस्था माना था तथा अपने विचारों में केन्द्रीय स्थान राज्य को दिया था। गेटेल ने राजनीति विज्ञान को 'राज्य का विज्ञान' कहकर पुकारा था तथा जाने माने राजनीति शास्त्र के विद्वान गार्नर ने तो यहाँ तक कह दिया था कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्य के साथ प्रारम्भ होता है तथा राज्य के साथ ही समाप्त हो जाता है। सामान्य भाषा में प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार राज्य का प्रयोग सरकार समाज, समुदाय एवं राष्ट्र आदि के लिए करता है। ये सभी शब्द अपना-अपना निश्चित एवं स्पष्ट अर्थ रखते हैं परन्तु राज्य शब्द इनसे कुछ भिन्न अर्थ रखता है।

यदि हम बोलचाल की भाषा में बात करें तो राज्य शब्द के अन्तर्गत अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड, कनाडा, भारत जैसे राज्य आ जाते हैं। दूसरी ओर संघात्मक शासन की इकाईयों के लिए भी राज्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। अमेरिकी संघ शासन की इकाईयों न्यूयार्क, कैलीफोर्निया व भारत संघ की इकाईयों पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, केरल इत्यादि राज्य कहे जाते हैं परन्तु ये राज्य शब्द का सही प्रयोग नहीं है। वास्तव में राज्य के शाब्दि अर्थ तथा उसके राजनीतिक अर्थ में बहुत अन्तर है।

प्राचीन यूनान में राज्य शब्द के लिए पोलिस शब्द का प्रयोग किया जाता था जिसका अर्थ नगर राज्य होता है। उस काल के यूनान के इन छोटे-छोटे नगर राज्यों का स्वरूप आधुनिक काल के विशाल राज्यों जैसा नहीं था। वाद भौगोलिक खण्ड के लिए किया था। यहाँ पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि ग्रीक एवं रोमन विचारों में आधुनिक काल के राज्य का वर्णन नहीं मिलता। सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में आधुनिक राज्य के दृष्टिकोण का उदय हुआ। मै क्यावेली जैसे जाने माने राजनीतिक विचारक ने राज्य शब्द का समुचित प्रयोग किया। उसने अपने ग्रंथ 'दि प्रिंस' में लिखा है ''जहाँ व्यक्तियों पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है वह राज्य है।'' वास्तव में राज्य हमारे सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाता है तथा शान्ति स्थापित करता है। यह सामाजिक सहयोग का ऐसा वातावरण बनाता है जिसके माध्यम से विभिन्न सभ्याताओं एवं संस्कृतियों का विकास सम्भव हो सका है।

राज्य शब्द का व्यापक अर्थ समझने के लिए हमें कुछ परिभाषाओं की ओर ध्यान देना होगा।

राज्य की परिभाषायें:- राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से राज्य की परिभाषायें प्रस्तुत की है। प्राचीन तथा आधुनिक विचारकों ने अलग-अलग ढंग से राज्य की परिभाषायें दी हैं। यहाँ हमें दोनों प्रकार की परिभाषाओं का अध्ययन करना होगा।

प्राचीन विचारक:- राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने राज्य की उत्पत्ति के पूर्व अनेक समुदायों के संगठनों की कल्पना की थी। उसके अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसमें सामाजिक जीवन से ही सद्गुणों का विकास होता है। मनुष्य परिवारों में रहता था, परिवारों से कुलों तथा कुलों से ग्रामों का विकास हुआ। अन्ततः ग्रामों का संगठन राज्य के रूप में प्रकट हुआ। इस प्रकार राज्य एक सर्वोच्च समुदाय माना गया जिसमें परिवार कुल एवं ग्राम समाहित है। अतएव **अरस्तू** ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार दी है ''राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका लक्ष्य पूर्ण सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।'' प्रसिद्ध रोमन विचारक **सिसरों** के अनुसार ''राज्य एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है जिसका संगठन सामान्य अधिकारों तथा पारस्परिक लाभों की प्राप्ति के लिए किया जाता है।'' **ग्रोशियस** -राज्य को एक ऐसा स्वतंत्र मुनष्यों का पूर्ण समुदाय मानता है जो अधिकारों की सामान्य भावना तथा लाभों में पारस्परिक सहयोग द्वारा जुड़ा होता है।

प्राचीन विचारकों की परिभाषाओं से निष्कर्ष स्वरूप राज्य की दो विशेषतायें सामने आती हैं- (1) राज्य सभी समुदायों से उच्चतर समुदाय है। (2) सभी मनुष्य सम्मिलित रूप में उन लाभों को प्राप्त करते हैं जो केवल राज्य द्वारा प्राप्त होते हैं।

आधुनिक विचारक:- आधुनिक विचारकों ने राज्य की परिभाषा नये प्रकार से की है। उसमें राज्य को एक समुदाय की अपेक्षा संगठनात्मक इकाई के रुप में स्वीकार किया गया है जो निम्न परिभाषाओं में स्वतः स्पष्ट हो जायेगा-

बर्गेस के अनुसार ''राज्य एक संगठित इकाई के रुप में मानव जाति का विशिष्ट भाग है''।

बलंशली के मतानुसार- ''किसी निश्चित भू-भाग पर बसा हुआ राजनीतिक रूप में संगठित समाज राज्य कहलाता है।''

हालैंड के अनुसार- ''राज्य एक ऐसा विशाल जनसमुदाय है जो एक निश्चित भू-खण्ड में निवास करता है तथा जिसमें बहुमत की अथवा एक बड़े वर्ग की इच्छा, उसकी शक्ति के कारण, उसके विरोधियों को भी मान्य हो।''

हाल के शब्दों में- ''एक स्वतंत्र राज्य के ये लक्षण हैं कि उस राज्य की जनता अपने राजनीतिक आदर्शों के लिए स्थायी रूप से संगठित हो, उसके अधिकारों में निश्चित भू-खण्ड हो तथा वह बाह्य नियंत्रण से मुक्त हो।''

फिलीमोर के शब्दों में- ''मनुष्यों का ऐसा समुदाय राज्य कहलाता है जो किसी निश्चित भू-खण्ड पर स्थायी रुप से निवास करता हो तथा जो सामन्य कानूनों, अदालतो व रीति रिवाजों द्वारा एक व्यवस्थित समुदाय में संगठित हो तथा जो सुसंगठित सरकार द्वारा उस भू-भाग की सीमा में निवास करने वाले मनुष्य व अन्य सभी पदार्थों पर पूर्व नियन्त्रण, अधिकार व प्रभुत्व रखता हो तथा जो विश्व के किसी भी अन्य समाज से युद्ध करने, शान्ति करने तथा सब प्रकार के अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बनधों को बनाने का अधिकार रखता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य एक संगठित राजनीतिक इकाई है जिसके चार प्रमुख तत्व होते हैं- (1) जनसंख्या (2) निश्चित भू-भाग (3) शासन (4) प्रभुसत्ता।

परन्तु **राज्य की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा सम्भवतः गार्नर** द्वारा प्रस्तुत की गई है। इसका कारण यह है कि प्रस्तुत परिभाषा आधुनिक काल के लगभग सभी राज्यों को अपनी सीमा में बाँध सकने की क्षमता रखती है। इसके अतिरिक्त प्रचीन काल एवं मध्यकाल के विभिन्न प्रकार के राज्यों के लिये भी उपर्युक्त प्रतीत होती है। आज संसार में जहॉ एक ओर भारत, चीन अमेरिका, रूस, ब्राजील जैसे बडी जनसंख्या तथा भू-क्षेत्र वाले राज्य हैं, वही दूसरी ओर सैन मैरिनो, मालदीव, भूटान, बेन्जिनियम, लम्जेमवर्ग जैसे छोटे भू क्षेत्र एवं जनसंख्या वाले राज्य भी हैं। इस दृष्टि से गार्नर की परिभाषा सर्वथा महत्वपूर्ण है।'' राजनीति विज्ञान एवं सार्वजनिक कानून के विचार के रूप में राज्य मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है जो जनसंख्या में चाहे कम या अधिक हो परन्तु जो स्थायी रूप से किसी निश्चित भू-भाग पर रहता हो तथा जो किसी भी बाह्य शान्ति के नियंत्रण से पूर्व रूप से या लगभग स्वतंत्र हो तथा जिसमें एक ऐसी व्यवस्थित शासन व्यवस्था या सरकार हो जिसके आदेश का पालन करने के लिए उस भाग के सब निवासी प्रायः अभ्यस्त हों।''

6.3 राज्य की प्रकृति

राज्य की प्रकृति क्या है यह एक विचारणीय विषय है परन्तु इस सम्बन्ध में विभिन्न राजनीतिक विचारकों एवं राजनीति शास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद हैं। प्लेटो एवं अरस्तू जैसे आदर्शवादी विचारक राज्य को एक प्राकृतिक संस्था मानते हैं जिसका सम्बन्ध मानवीय विवेक से है। हाब्स, लोक जैसे समझौतावादियों ने राज्य को एक कृत्रिम यंत्र मानते हैं **मैकाइबर** राज्य को एक सामाजिक यथार्थ

मानते हैं, **एडमण्ड वर्क** जैसे इतिहासकार राज्य को ऐतिहासिक विकास की उपज मानते हैं, जबकि लास्की जैसे राजनीति वैज्ञानिक का मानना है कि यह शान्ति एवं सुरक्षा के लिए स्थापित एक संघ है।

इस दृष्टि से राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारे समक्ष कई सिद्धान्त हैं। कुछ सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने वाले हैं; जिनका अध्ययन हम आगे आने वाले अध्यायों में करेंगे, जबकि कुछ का सम्बन्ध उसकी प्रकृति से है। यहाँ हम राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

१.आदर्शवादी सिद्धान्त

आदर्शवादी सिद्धान्त राज्य को एक ऐसी प्राकृतिक संस्था के रूप में स्वीकार करता है जो अपने आप में सर्वोच्च मानव समुदाय है जिसके अन्तर्गत रहकर मनुष्य पूर्व एवं आत्म निर्भर जीवन व्यतीत कर सकता है। इसके अन्तर्गत राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानता है जिसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति राज्य के लिए बना है न कि राज्य व्यक्ति के लिए इसके समर्थकों में यूनानी विचारकों प्लेटो एवं अरस्तू का नाम इंग्लैण्ड के ग्रीन, ब्रेडले, ब्रोसाँके जैसे विचारकों का नाम जर्मनी के कार्ल जे फ्रेडरिक हीगल तथा फ्रांसीसी विचारक रूसो का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

२.वैधानिक सिद्धान्त

वैधानिक सिद्धान्त राज्य को कानून बनाने उसकी व्याख्या तथा प्रवर्तन करने वाली संस्था मानता है। जब तक राज्य स्वयं अधिकार प्रदान न करे, तब तक कोई अन्य अभिकरण कानून बनाने अथवा उसे लागू करने की शक्ति नहीं रखता। अतः राज्य का निजी व्यक्तित्व है, उसकी अपनी चेतना व अपनी इच्छा है। परन्तु इस सिद्धान्त के समर्थकों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

३.ऐतिहासिक

सर हेनर मैन तथा क्रैबे जैसे ऐतिहासिक विधिशास्त्रों का मानना है कि राज्य द्वारा निर्मित कानून उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि इतिहास द्वारा समर्थित रीति रिवाज पर आधारित कानून। रीति रिवाजों के माध्यम से निर्मित कानून राज्य के वैधानिक आधार को सशक्त करते हैं।

विश्लेषणात्मक:- जेरेम बेंघम एवं सर हेनरी आस्टिन जैसे विश्लेषणवादियों की मान्यता है कि कानून शब्द प्रभुसत्ताधारी के आदेश की ओर संकेत करता है। अतएव राज्य द्वारा निर्मित कानून ही बाध्यकारी माना जाता है राज्य द्वारा निर्मित अथवा वस्तु बाध्यकारी अथवा आदेशात्मक चरित्र नहीं रखती।

४.आंशिक सिद्धान्त:

यह सिद्धान्त प्राकृतिक एवं सामाजिक संरचनाओं में सादृश्य स्थापित करने वाले बहुत पुराने विचार पर आधारित है। प्लेटो ने राज्य को वृहद रूप में व्यक्ति माना था। रोमन काल में सिसरो ने राज्य तथा

व्यक्ति के मध्य सादृश्य स्थापित करते हुए राज्याध्यक्ष की तुलना उस आत्मा से की जो मानव शरीर अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। ब्लंशली जैसे विख्यात लेखक ने यह घोषणा की कि राज्य मानव शरीर का हूबहू रूप है। उसने इस बात पर बल दिया कि सामाजिक संरचना के रूप में राज्य कृत्रिम यंत्र के समान नहीं बल्कि राजीव आध्यात्मिक प्राणी की तरह है। वस्तुतः राज्य नागरिकों के समूह मात्र से कुछ अधिक है। परन्तु इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थक इंग्लैण्ड का हबर्टे स्पेंसर है, जिसने मानव शरीर एवं राज्य में सादृश्यता सोदाहरण प्रस्तुत की है। जिस प्रकार शरीर में भरण पोषण की संरचनायें (मुख, उदर इत्यादि) होती हैं उसी प्रकार राज्य में उत्पादन केन्द्र होते हैं। जिस प्रकार शरीर में संचार उपकरण (नसें, नाड़ी, धमनियाँ) होते हैं, उसी प्रकार राज्य में परिवहन प्रणाली (सड़के, रोलमार्ग इत्यादि) होती हैं।

५.मार्क्सवादी सिद्धान्त

राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य की प्रकृति के सन्दर्भ में अन्य सिद्धान्तों से भिन्न विचारधारा रखता है। यह सिद्धान्त राज्य को न तो मानवीय चेतना की उपज मानता है तथा न ही रक्त सम्बन्ध, सहमति अथवा धर्म पर आधारित संस्था राज्य वस्तुतः वर्गीय चेतना का परिणाम है। इसके अन्तर्गत राज्य दो वर्गों में विभक्त है- (1) बुर्जुआ (अमीर पूँजीपति वर्ग), (2) सर्वहारा (पूँजीविहीन विपन्न वर्ग)। राज्य की स्थापना अमीर वर्ग ने अपने अधिकारों की रक्षा तथा गरीब वर्ग के शोषण के लिए की है तथा इस दृष्टि से मानव इतिहास के अन्तर्गत राज्य का विकास वर्ग संघर्ष का ही परिणाम रहा है। राज्य में शोषण तथा अन्याय का अन्त करने का एक ही मार्ग है- राज्य का अन्त तथा वर्गविहीन, राज्य विहीन समाज की स्थापना करना। इसके लिए आवश्यकता यह है कि सर्वहारा वर्ग की एकता स्थापित करना तथा उसके नेतृत्व में क्रान्ति का मार्ग तैयार करना और उसके माध्यम से बुर्जुआ वर्ग का अन्त करके एक ऐसे समाज की ओर बढ़ना जहाँ किसी प्रकार का वर्ग विभाजन न हो। यह सिद्धान्त राज्य की अपरिहार्यता को अस्वीकार करता है।

6.4 राज्य का क्षेत्र

राज्य की प्रकृति का निर्धारण करने के उपरांत राज्य के क्षेत्र पर ध्यान देना आवश्यक है। राज्य के क्षेत्र का निर्धारण करने के उपरांज ही हम व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की अनिवार्यता का निर्धारण करने में सक्षम हो सकेंगे। इस सन्दर्भ में दो बातों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। प्रथम, राज्य का अन्य समानार्थी शब्दों जैसे सरकार राष्ट्र, समाज, प्रान्त से कुछ अलग क्षेत्र एवं वैधानिक स्तर है। द्वितीय, राज्य का कार्य क्षेत्र राज्य के ऐतिहासिक विकास के परिणाम स्वरूप क्रमशः विस्तृत होता गया है तथा इस दृष्टि से नगर राज्य से राष्ट्र राज्य की अवस्था तक राज्य के क्षेत्र में बहुआयामी परिवर्तन होते गये हैं। आधुनिक राज्य के क्षेत्र में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं जिसमें सभी व्यक्तियों को

रोजगार, अधिकतम आर्थिक समानता, विकलांग असक्षम तथा निर्बल वर्गों के जीवनयापन के लिए न्यूनतम् सुविधाओं की व्यवस्था करना सम्मिलित है।

राज्य द्वारा व्यक्तियों के विकास के लिए उन समस्त सुविधाओं की व्यवस्था की जाती है जो उनके व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक समझी जाती हैं। इस दृष्टि से शिक्षा तथा स्वास्थ्य की सुविधा का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इस हेतु राज्य अपने संसाधनों को व्यवस्थित करते हुए एक निश्चित स्तर तक निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करता है। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा स्वास्थ्य की आवश्यकता को देखते हुए निःशुल्क स्वास्थ्य सुविधाओं तथा चिकित्सालयों की व्यवस्था की जाती है।

राज्य द्वारा लोगों का न्यूनतम जीवन स्तर उठाने तथा सामान्य सुविधायें जुटाने का भी प्रयास किया जाता है। इसके अन्तर्गत कृषि व्यापार तथा विकास के कार्यों का नियमन एवं नियत्रंण किया जाता है। इसके अतिरिक्त राज्य के द्वारा परिवहन, संचार साधन बैंक, विद्युत कृषि के वैज्ञानिक साधनों, उद्योगों का संचालन सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा क्षेत्रों सिनेमा गृहों, रंगमंच, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि की व्यवस्था की जाती है।

राज्य के द्वारा अपने नागरिकों की राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों की सुरक्षा का काय भी सम्पन्न किया जाता है। आज के लोकतांत्रिक युग में राज्य के अपने नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति सम्मेलन संगठन इत्यादि की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। राज्य का यह भी प्रयास रहता है कि उसके नागरिकों को पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा एवं समानता प्रदान की जाये तथा धर्म जाति, वंश, रंग तथा सम्पत्ति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न किया जाये।

आज अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में राज्य का कार्य क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी काफी बढ़ गया है। राज्यों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग एवं सद्भावना का कार्य भी सम्पन्न किया जाता है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निर्धारित किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए यह एक आदर्श लक्ष्य माना गया है।

6.5 राज्य के तत्व

राज्य की परिभाषा प्रकृति एवं क्षेत्र की जानकारी के उपरांत हमारे समक्ष यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राज्य के प्रमुख निर्माणकारी तत्व क्या हैं, इनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है-

6.5.1 जनसंख्या

राज्य एक मानव संघ है। इस दृष्टि से राज्य का प्रथम निर्माणकारी तत्व जनसंख्या ही है। एक राज्य की जनसंख्या कितनी रखी जाये इसका कोई निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। **प्लेटो** ने अपनी पुस्तक 'दि लाज' में आदर्श राज्य के लिए जनसंख्या 5040 निर्धारित की थी जबकि **रूसो** ने यह संख्या १0,000

निर्धारित की थी। परन्तु वर्तमान समय में विश्व में जहाँ एक अरब की जनसंख्या से अधिक वाले भारत एवं चीन जैसे राज्य हैं तो दूसरी ओर सैन मैरिनो तथा मालदीव जैसे राज्य भी हैं जिनकी जनसंख्या कुछ हजार है। इस संदर्भ में **अरस्तू** का सुझाव ध्यान देने योग्य है कि राज्य की जनसंख्या न तो इतनी विशाल हो कि यह प्रशासनिक समस्या बन जाये तथा इतनी कम होनी चाहिए कि लोग शान्ति एवं सुरक्षा के साथ न रह सकें। राज्य की जनसंख्या इतनी अवश्य होनी चाहिये कि लोग सुखी एवं आत्मनिर्भर जीवन बिता सकें।

6.5.2 प्रदेश

राज्य का दूसरा आवश्यक तत्व प्रदेश है। निश्चित भू-भाग के बिना कोई राज्य नहीं बन सकता। घुमक्कड़ बाजारों या कबीलों के समूह को राज्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका कोई निश्चित प्रदेश नहीं होता। जनसंख्या की ही भांति राज्य की कोई मानक सीमा या क्षेत्र निश्चित नहीं किया जा सकता। प्रादेशिक आकार की दृष्टि से रूस, कनाडा, चीन जैसे बड़े राज्य भी आधुनिक विश्व में पाये जाते हैं तो किसी मालदीप, भूटान जैसे छोटे राज्य भी है। राज्य की जनसंख्या एवं क्षेत्रफल में पर्याप्त संतुलन का बने रहना परम आवश्यक है अन्यथा इससे राज्य की एकता अखण्डता एवं सामान्य व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा ।

6.5.3 शासन

शासन राज्य की आत्मा है। यह समाज की इच्छा को लागू करता है यदि राज्य को सभ्य जीवन की प्रथम शर्त माना गया है तो यह शासन के अस्तित्व के कारण ही है जो कानून एवं व्यवस्था की रक्षा करता है तथा उत्तम जीवन को सम्भव बनाता है। राज्य के शासन का गठन ऐसा होना चाहिए कि वह शांति तथा सुरक्षा की स्थितियों को बनाये रखने के लिए कानून लागू करे। यदि शासन नहीं होगा तो अराजकता उत्पन्न होगी तथा राज्य का अंत हो जायेगा

6.5.4 प्रभुसत्ता या संप्रभुता

संप्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति होती है जो उसे अन्य समूहों की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान प्रदान करती है। संप्रभुता के दो पक्ष हैं- आंतरिक एवं बाह्य। आंतरिक संप्रभुता का अर्थ यह है कि राज्य के भीतर कोई ऐसी संस्था या समूह नहीं हो सकता जो इसकी बराबरी का दावा करे। वाह्य संप्रभुता का अर्थ है कि राज्य किसी विदेशी नियंत्रण से सर्वथा मुक्त है। यह बात अलग है कि कोई किसी राष्ट्र मण्डल या संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता स्वीकार करके स्वेच्छापूर्वक कोई अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व स्वीकार कर ले। संप्रभुता का अस्तित्व कानून के रूप में प्रकट होता है। यही कारण है कि राज्य का

कानून सभी सम्बन्धित पक्षों के लिए अनिवार्य माना जाता है तथा उसका उल्लंघन होने पर दण्ड दिया जाता है।

अभ्यास प्रश्न

१.'दि लाज' पुस्तक के लेखक कौन है.

२.प्लेटो ने अपनी में आदर्श राज्य के लिए कितनी निर्धारित की.

३.रूसो ने राज्य के लिए संख्या ------- निर्धारित की थी ,

४.प्लेटो एवं अरस्तू जैसे आदर्शवादी विचारक राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानते हैं. सत्य/असत्य

५.किसने राजनीति विज्ञान को 'राज्य का विज्ञान' कहकर पुकारा था.

६.राजनीति शास्त्र के किस विद्वान ने कहा कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्य के साथ प्रारम्भ होता है तथा राज्य के साथ ही समाप्त हो जाता है.

७.राज्य की परिभाषा इस प्रकार किसने दी है ''राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका लक्ष्य पूर्ण सम्पन्न जीवन की प्राप्ति है।''

6.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हमें राज्य के अर्थ उसके प्रकृति और उसके क्षेत्र के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई। राज्य के अर्थ को जानने के क्रम में हमें यह जानकारी प्राप्त हुई कि इसके चार महत्वपूर्ण तत्व है तो इसके अस्तित्व के आधार है। जिसमे सर्वप्रथम भू-भाग आता है क्योंकिइसके बिना राज्य के मूल स्वरुप की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे क्रम में जनसंख्या आती है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योकि जनसंख्या विहिन भू- भाग जंगल या रेगिस्तान हो सकता है। राज्य नही। तीसरे; राज्यके तत्वों में सरकार ऐसा तत्व हैं जिसमें राज्य का मुख्य स्वरुप दिखाई देता है। राज्य की गतिशीलता स्पस्ट होती हैं। अन्ततः सवसे महत्वपूर्ण सम्प्रभुता तत्व हैं। जो इसे अन्य समुदायों से अलग करती है। जैसा कि उपर इस इकाई में हम अध्ययन कर चुकें कि सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च सत्ता है जिसका तात्पर्य है कि राज्य अपने आचरण में आन्तरिक और वाह्य सभी मामलो मे पूरी स्वतन्त्रता का उपभोग करती है।

6.7 शब्दावली

1. प्रतिपाद्य विषय - चिंतन का केन्द्रीय आधार।
2. नगर राज्य - नगर में ही राज्य का अस्तित्व
3. आंगिक सिद्धान्त - ऐसा सिद्धान्त जो शब्द को मानव शरीर के समान स्वीकार करता है।
4 बुर्जुआ वर्ग - सम्पन्न कुलीन एवं सम्पत्तिवान वर्ग।
5. सर्वहारा वर्ग - गरीब, शोषण का शिकार, सम्पत्ति विहीन वर्ग।
6. बंजारा समूह - ऐसा समूह जो भोजन एवं भरण पोषण के लिए स्थान-स्थान पर घूमता फिरता है।
7. कबीला - जाति समूह अथवा सांस्कृतिक समूह जो कुछ निश्चित मान्यताओं के आधार पर अपनी पहचान रखता है।

6.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.प्लेटो २. ५०४० ३.१०००० ४.असत्य ५. गेटेल ६. गार्नर ७.**अरस्तू**

6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5- अनूप चन्द्र कपूर - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त।

6-डॉ0 पंत, डॉ0 जैन एवं डॉ0 गुप्ता - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त।

डॉ0 आर0 सी0 अग्रवाल - राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त।

डॉ0 ओ0 पी0 गावा - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त।

6.10 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. J.W. Garner – Political Science and Government.

2. G. Gettel – Political Science

3. Appodorai – The Substance of Politics.

4 . Ashirvatham – Political Theory

6.11 निबंधात्मक प्रश्न

3. राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुए आंकिग एवं आदर्शवादी सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
4. राज्य की प्रकृति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
5. राज्य के अर्थ, क्षेत्र और प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिये।

इकाई – 8 :राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त - दैवी सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, विकासवादी सिद्धान्त, मार्क्सवादी सिद्धान्त

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त
7.2.1 दैवीय सिद्धान्त के प्रमुख तत्व
7.2.2 दैवीय सिद्धान्त की आलोचना
7.2.3 दैवीय सिद्धान्त की उपयोगिता
7.3 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त
7.3.1 थामस हाब्स का सामाजिक समझौता
7.3.2 लॉक का सामाजिक समझौता
7.3.3 जीन जैम्स रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त
7.3.4 सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना
7.3.5 सिद्धान्त की उपयोगिता
7.4 राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त
7.4.1 राज्य के विकास में सहायक तत्व
7.5 राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.9 सन्दर्भ ग्रंथ
7.10 सहायक / उपयोगी सामग्री
7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई ७ के अध्ययन के द्वारा हमें राज्य के अर्थ उसके प्रकृति और उसके क्षेत्र के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई। राज्य के अर्थ को जानने के क्रम में हमें यह जानकारी प्राप्त हुई कि इसके चार महत्वपूर्ण तत्व है तो इसके अस्तित्व के आधार है। जिसमे सर्वप्रथम भू-भाग आता है क्योंकिइसके बिना राज्य के मूल स्वरुप की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरे क्रम में जनसंख्या आती है जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योकि जनसंख्या विहिन भू- भाग जंगल या रेगिस्तान हो सकता है। राज्य नही। तीसरे; राज्यके तत्वों में सरकार ऐसा तत्व हैं जिसमें राज्य का मुख्य स्वरुप दिखाई देता है। राज्य की गतिशीलता स्पस्ट होती हैं। अन्ततः सवसे महत्वपूर्ण सम्प्रभुता तत्व हैं। जो इसे अन्य समुदायों से अलग करती है।

इस इकाई के अध्ययन के आधार पर हमें यह जानकारी प्राप्त हो सकेगी कि राज्य के उत्पत्ति के दैवीय और सामाजिक समझौता के सिद्धांत के बारे में जानकारी प्राप्त हो सकेगी .जिसमे हम यह देखेंगे कि दैवीय सिद्धांत को मानने वाले यह मानते है कि राज्य ,पृथ्बी पर इश्वर का प्रकट रूप है .और राजा इश्वर का प्रतिनिधि है .जब कि सामाजिक समझौता के सिद्धांत को मानने वाले यह मानते है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है ,जिसे मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाया।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने का उद्देश्य निम्नवत है। आप इसके द्वारा-

1. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामान्य बाते जान सकेगे।
2. राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर सकेगे।
3. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर सकेगे।
4. उपरोक्त दोनो ही सिद्धान्तो के निहितार्थो एंव मान्यताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेगे।
5. दोनो ही सिद्धान्तों के अर्न्तगत शासन के आधार एंव अधिकार का अध्ययन कर सकेंगे।
6. दोनो ही सिद्धान्तों के अर्न्तगत शासन एंव सामान्य जनता के अधिकारो का अध्ययन कर सकेंगे।
7. दोनो ही सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कर सकेंगे।
8. दोनो ही सिद्धान्तों की उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

7.2 राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह एक रहस्यपूर्ण तथा विवादों से घिरा हुआ विषय है। राजनीतिक चेतना के उदय से सम्बन्धित परिस्थितियों के विषय में हमे वास्तव में कोई ज्ञान नही है। चूँकि आधुनिक राज्य लम्बे विकास का परिणाम है, अतएव इसकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में इतिहास तथा समाजशास्त्र के अभिलेखो का अध्ययन करना आवश्यक माना जाता है। इस दृष्टि से राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सिद्धान्त उभरकर सामने आये है। प्रस्तुत इकाई में हम राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त तथा सामाजिक समझौता सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में दैवीय उत्पत्ति का सिद्धान्त सबसे प्रथम या पुराना सिद्धान्त है। यह राज्य को दैवीय निर्मित अथवा ईश्वरीय निर्मित संस्था मानता है। यह सिद्धान्त हमें बतलाता है कि ईश्वर राजा के रूप में अपने प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है, अतएव वह ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है आम जनता के प्रति नही। आम जनता का परम कर्तव्य यही है कि वह राजा की आज्ञाओं का पालन करे।

राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त का समर्थन विविध धर्मग्रंथों में भी किया गया है। हिन्दू, यहूदी, ईसाई, मुसलमान तथा विश्व के अन्य सभी धर्मो के लोग इस मत को मानते है कि राजनीतिक सत्ता ईश्वरीय वरदान है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम ईसाइयों के धर्म ग्रंथ "न्यू टेस्टामेंट" द्वारा किया गया था। ईसाई सन्तों ने घोषणा की थी, 'राजा के प्रति विद्रोह की भावना ही ईश्वर के प्रति विद्रोह है तथा जो ऐसा करेगा, उसे मृत्यु मिलेगी।'

यहूदी धर्म की पुस्तक" ओल्ड टेस्टामेंट" में भी राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है। सेंट आगस्टाइन तथा पोप ग्रेगरी ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। महाभारत, मनुस्मृति आदि प्राचीन भारतीय ग्रंथो में भी इसका समर्थन किया गया है। इसमें स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि राजा का निर्माण इन्द्र, मित्र, वरूण, यम आदि देवताओं के अंश को लेकर हुआ है तथा राजा मनुष्य के रूप में एक महत्वपूर्ण देवता है। भारत में कुछ शासकों जैसे राम एवं कृष्ण को ईश्वरीय प्रतिनिधि माना जाता है। चीन में सम्राट को स्वर्ग का पुत्र के रूप में माना गया। इसी प्रकार मिस्र एवं जापान में भी राजा सूर्य-पुत्र माना जाता है। मुस्लिम मत में भी इस्लामी राज्य का ध्येय धरती पर अल्लाह का शासन बनाये रखना है।

इंग्लैण्ड के शासक जेम्स प्रथम ने अपनी पुस्तक The True Law of Free Monarchies में सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा था, राजाओं को सच्चे अर्थ में देवता माना जाता है क्योंकि वे ईश्वरीय सत्ता के समान धरती पर शासन करता है। राजा लोक पृथ्वी पर ईश्वर की जीवित प्रतिमायें है।

7.2.1 दैवीय सिद्धान्त के प्रमुख तत्व:-

दैवीय सिद्धान्त के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं:-

1.राज्य ईश्वरीय संस्था है।

2.राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है।

3.ईश्वर के द्वारा ही राजा को शक्ति प्रदान की जाती है।

4.ईश्वर का प्रत्येक कार्य सृष्टि के हित में होता है इसलिए ईश्वर के प्रतिनिधि राजा के समस्त न्यायसंगत एवं जनहित में होते हैं।

5.राजसत्ता पैतृक होती है अर्थात् पिता के बाद पुत्र सत्ता का अधिकारी होता है।

6.राजा की आलोचना या निन्दा करना धर्म के विरूद्ध है।

7.2.2 दैवीय सिद्धान्त की आलोचना

दैवीय सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है-

1.दैवी सिद्धान्त पूर्व रूप से अनैतिहासिक एवं अवैज्ञानिक सिद्धान्त है। सम्पूर्ण मानव इतिहास में इस तथ्य का कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा की गई है। यह सिद्धान्त मानव संवेदनाओं, जिज्ञासाओं तथा आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। यह सिद्धान्त मानव अनुभव के विरूद्ध है, अतएव स्वीकार करने योग्य नहीं है।

2.इस सिद्धान्त को तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। सभी धार्मिक ग्रंथों में ईश्वर को प्रेम एवं करुणा का भण्डार बताया गया है परन्तु व्यवहार में अब तक अनेक शासक अन्यायी, अत्याचारी एवं क्रूर प्रकृति के हुए हैं। ऐसी परिस्थितियें में ऐसा शासक ईश्वर का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है? अतः तार्किक दृष्टि से यह सिद्धान्त अनुचित एवं अमान्य प्रतीत होता है।

3.यदि राजा को वास्तव में ईश्वर का प्रतिनिधि अथवा जीवित रूप माना जाये तो ऐसे शासक के निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी बनने का भय रहता है। इतिहास गवाह है कि ऐसे शासकों ने जनता को ईश्वरीय प्रकोप दिखाकर उनपर अनेक अत्याचार किये। अतः यह सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य नहीं है।

4.यह सिद्धान्त राज्य को पवित्र संस्था मानता है, अतएव इसके स्वरूप में परिवर्तन करना सम्भव नहीं माना जाता। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त रूढ़िवादी कहा जा सकता है क्योंकि परिवर्तनों के अभाव में राज्य मानव में राज्य मानव जीवन के लिए अनुपयोगी हो जायेगा।

5.आधुनिक लोकतांत्रिक युग में यह सिद्धान्त सर्वथा अप्रासंगिक है क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता स्वयं शासक का चुनाव करती है तथा गलत कार्य करने पर उसे हटा सकती है। परन्तु दैवीय सिद्धान्त इन मान्यताओं को अस्वीकार करता है क्योंकि वह गलत कार्य किये जाने पर भी राजा का विरोध करने का अधिकार जनता को नहीं प्रदान करता। अतः यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता।

6.यह सिद्धान्त आधुनिक संप्रभु राज्यों के लिए अमान्य है क्योंकि उसमें शासक किसी न किसी रूप में जनता से जुड़े होते हैं तथा धर्म को राजनीति से अलग करके देखा जाता है।

7.2.3 दैवीय सिद्धान्त की उपयोगिता:-

समस्त कमियों के बावजूद यह सिद्धान्त अनेक दृष्टि से उपयोगी भी है -

1.इस सिद्धान्त ने शासक जनता सम्बन्धों में उत्तरदायित्व की भावना को बढ़ाया। राजा एवं प्रजा दोनों को ही इसके अन्तर्गत कुछ निश्चित मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार करने की सीख मिली।

2.इस सिद्धान्त ने राजा को ईश्वरीय प्रतिनिधि बतलाकर जनता को राजभक्ति एवं आज्ञापालन का पाठ पढ़ाया जो आधुनिक राज्य का एक आवश्यक गुण माना जाता है।

3.जैसा कि प्रो0 गिलक्राइस्ट का मानना है यह सिद्धान्त गलत एवं विवकेशून्य भले ही हो, अराजकता का अन्त करने का श्रेय इसे ही जाता है।

4.यह सिद्धान्त इस तथ्य का भी प्रतिपादन करता है कि चूँकि राजा का ईश्वर के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व होता है, अतएव राजा को भी नैतिक मानदाण्डों का प्रयोग करते हुए शासन शक्ति का उचित रूप में प्रयोग करना चाहिये।

4. स्वमूल्याकंन होतु प्रश्न (भाग 1) -

दैवीय सिद्धान्त से जुड़ी हुई प्रमुख मान्यताओं का वर्णन कीजिये।

दैवीय सिद्धान्त के प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिये।

दैवीय सिद्धान्त की उपयोगिता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिये।

दैवीय सिद्धान्त की किन आधारों पर आलोचना की जाती है?

7.3 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त सामाजिक समझौता सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि राज्य ईश्वरीय संस्था न होकर एक मानव निर्मित कृत्रीम संस्था है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का निर्माण व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते द्वारा हुई। उसके पूर्व भी एक अवस्था थी जो प्राकृतिक अवस्था के नाम से जानी जाती है। अपनी आवश्यकता के लिए व्यक्ति ने प्राकृतिक अवस्था का त्यागकर समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की। इस समझौते से व्यक्तियों को सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए।

यह विचार काफी पुराना है कि शासक की शक्ति उसके तथा उसकी प्रजा के मध्य सम्पन्न किसी समझौते पर आधारित है। इसका वर्णन भारतीय ग्रंथों महाभारत के 'शान्तिपर्व' तथा कौटिल्य की पुस्तक अर्थशास्त्र में मिलता है जिसमें कहा गया है कि अराजकता की स्थिति से दुखी होकर मनुष्यों ने परस्पर समझौते द्वारा राज्य की स्थापना की। यूनान में सोफिस्ट विचारको के द्वारा भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया गया। इसी प्रकार इपीक्यूरियन तथा रोम के विचारको एंव विधि शात्रियो ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया था। रोम के विचारक तथा विधिशास्त्री (जैसे पालिबियस एंव सिसरो) जनता को राज्य की शक्ति का स्रोत मानते है। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थकमें हम बुकानन, एल्यूसियस ग्रोशियस, प्यूपेनडार्फ तथा स्पेनोजा के नाम का उल्लेख कर सकते है

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की रूपरेखा

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की स्पष्ट अभिव्यक्ति सत्रहवी शताब्दी में इंग्लैडं के हाब्स एंव लॉक तथा अठारहवी शताब्दी में फ्रांस के रूसो की त्रिमूर्ति ने प्रस्तुत की है। इन विचारको ने एक ऐसे युग की कल्पना की है जिसमें किसी प्रकार की कोई सत्ता नही थी तथा उस काल को उन्होने प्राकृतिक अवस्था का नाम दिया था जिसका अन्त एक सामाजिक समझौते द्वारा हुआ ।इस समझौते के अर्न्तगत लोगों ने अपने प्राकृतिक अधिकार समर्पित कर दिये ताकि स्थापित राजनीतिक सत्ता द्वारा उन्हें सामाजिक अधिकारों का रुप दिया जा सके। यद्यपि विभिन्न मुद्दों पर तीनों विचारकों के दृष्टिकोण भिन्न है परन्तु ये सभी मानव जाति की राज्य से पूर्व की अवस्था की कल्पना करते हैं। यहाँ पर हम हम तीनों ही विचारकों के विचारों का बारी-बारी से अध्ययन करेंगे ।

7.3.1 थामस हाब्स

थामस हाब्स इंग्लैडं के निवासी थे। उनके समय में राजतंत्र तथा प्रजातंत्र के समर्थको के मध्य गृह युद्ध चल रहा था। राजवशं से निकट सम्पर्क होने के नाते उनकी विचारधारा राजतंत्रवादी थी। अतएव उनका यह विश्वास था कि शक्तिशाली राजतंत्र के बिना देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था नही स्थापित हो सकती। हाब्स ने 1251 में प्रकाशित अपनी पुस्तक लेवियाथन (Leviathan) ने समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन करके निरंकुश राजतंत्र का समर्थन किया। हाब्स ने अपने सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है-

1.मानव स्वभाव

हाब्स ने मनुष्य के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मनुष्य की मनुष्य का शत्रु है। वह बर्बर, स्वार्थी, अहंकारी, आक्रामक एंव आत्माभिमानी, होता है। वह सदैव शन्ति से ही प्रेम करता है तथा शन्ति प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। यही कारण है कि मानव जीवन एकाकीपूर्ण, गंदा, निर्धनतापूर्ण तथा अल्पकालीन होता है।

2.प्राकृतिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन किसी भी प्रकार के नियंत्रण से मुक्त था जिमसें प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य को न्याय, अन्याय, उचित-अनुचित, अच्छे-बुरे अथवा सत्य-असत्य का कोई ज्ञान न था प्राकृतिक अवस्था 'शक्ति ही सत्य है' की धारणा पर आधारित थी। इसलिए प्राकृतिक अवस्था में शांति, व्यवस्था, सम्पत्ति, न्याय, उद्योग व्यापार आदि जैसी कोई व्यवस्था न थी। स्वयं हाब्स के शब्दों में जहाँ कोई व्यवसाय न था, कोई संस्कृति न थी, कोई विद्या न थी, कोई भवन निर्माण कला न थी तथा न कोई समाज था।

समझौते के कारण प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों का जीवन तथा उनकी सम्पत्त् सुरक्षित न थी। जीवन तथा सम्पत्ति की इस असुरक्षा तथा मृत्यु एवं संहार के भय ने व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे असहनीय प्राकृतिक अवस्था का अन्त करने के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज का निर्माण करें।

3.समझौते का स्वरूप -नवीन समाज का निर्माण करने के लिए सभी व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया। हाब्स के मतानुसार यह समझौता प्रत्येक व्यक्ति ने शेष व्यक्ति समूह से किया जिसमें प्रत्येक किसी व्यक्ति को अथवा सभा को अपने अधिकार एवं शान्ति का समर्पण करता हूँ जिससे कि वह हम पर शासन करे, परन्तु इसी शर्त पर कि तुम भी अपने अधिकार एवं शक्ति का समर्पण इसी रूप

में करो और इसकी आज्ञाओं को मानो इस समझौते में शासक कोई पक्ष नही है। तथा यह समझौता सामाजिक है, राजनीतिक नहीं। वह सत्ता इस समझौते का परिणाम है।

ऐसे समझौते के माध्यम से समाज, राज्य तथा शासन अस्तित्व में आ गया जो सभी के जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा से सम्बन्धित है।

4.राज्य का स्वरूप

हाब्स के समझौते के द्वारा एक ऐसे निरंकुश राजतंत्र की स्थापना की गई जिसका शासक सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न है तथा जिसका प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है। शासित वर्ग अथवा सामान्य जनता को शासक के विरूद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है।

7.3.2 लॉक के सामाजिक समझौत

मानव स्वभाव

लोक के अनुसार मुनष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसमें प्रेम सहानुभूति, सहयोग एवं करुणा की भावनायें विद्यमान थी। अतएव प्रत्येक मनुष्य अपने सद्गुणों का प्रदर्शन करके दूसरे व्यक्ति से अपना सम्पर्क बनाने के लिए कृत संकल्प था।

प्राकृतिक अवस्था

चूँकि मनुष्य एक सामाजिक एवं विचारशील प्राणी था, इसलिए लोक की प्राकृतिक अवस्था, हाब्स की भाँति संघर्ष-पूर्ण न होकर सदिच्छा, सहयोग एवं सुरक्षा की व्यवस्था थी। लोक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था नियत विहीन न थी। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे तथा प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का आदर करता था। ये प्राकृतिक अधिकार थे- (1) जीवन का अधिकार (2) स्वतंत्रता का अधिकार (3) सम्पत्ति का अधिकार।

समझौते का कारण

लॉक का मानना है कि समय बीतने के साथ इस आदर्श प्राकृतिक अवस्था में कुछ ऐसी कमियाँ उभर कर सामने आई कि व्यक्तियों के समक्ष असुविधायें आने लगी। इन असुविधाओं को दूर करने के लिए व्यक्तियेां ने प्राकृतिक अवस्था का त्याग करना उचित समझा । ये असुविधायें निम्नलिखित थीं-

१. नियमों का निर्माण करने की कोई स्पष्ट व्यवस्था न थी।

२. नियमों का पालन करवाने की कोई शक्ति नहीं थी।

३. इन नियमों की व्याख्या करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी।

समझौते का स्वरूप

हाब्स के सिद्धान्त के अनुसार राज्य का निर्माण करने के लिए केवल एक ही समझौता किया गया था, परन्तु लोक के समझौते की स्थिति विवादास्पद है। कुछ विद्वानों के अनुसार लोक ने दो समझौतों का वर्णन किया था जबकि अन्य विद्वान समझौता एक ही स्वीकार करते हैं जिसका स्वरूप द्विपक्षीय था। पहले समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त करके समाज की स्थापना की गयी। इस समझौते का लक्ष्य व्यक्तियों के जीवन स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करना था। पहले समझौते के उपरांत शासक एवं शासित के मध्य दूसरा समझौता सम्पन्न हुआ, जिसमें शासित वर्ग के द्वारा शासक को कानून बनाने, उनको लागू करने तथा उसकी व्याख्या करने का अधिकार दिया गया। परन्तु शासक के लिए यह अनिवार्य शर्त थी कि उसके द्वारा निर्मित कानून अनिवार्य रूप से प्राकृतिक नियमों के अनुकूल एवं अनुरूप होंगे तथा वे जनता के हित में निर्मित होंगे।

राज्य का स्वरूप

लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अन्तर्गत शासक एवं शासित के मध्य जो समझौता सम्पन्न हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि सरकार स्वयं एक लक्ष्य नहीं वरन् एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है तथा यह लक्ष्य है शांति तथा व्यवस्था स्थापित करना तथा जन कल्याण। लोक ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि यदि सरकार अपना उद्देश्य प्राप्त करनेमें अफल हो जाती है तो समाज को ऐसी सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार लॉक ऐसी शासन व्यवस्था का समर्थन करता है जिसमें वास्तविक एवं अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है तथा सरकार का अस्तित्व जनता की इच्छा पर निर्भर करता है।

7.3.3 जीन जैम्स रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

रूसो ने अपनी पुस्तक (The Social Contract 1362) में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। रूसो का सिद्धान्त हाब्स तथा लॉक के सिद्धान्त से एक तरफ अलग है दूसरी ओर उसमें दोनों के तत्व कहीं न कहीं विद्यमान दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त रूसो ने जिस प्रकार से अपने सिद्धान्त की व्याख्या की है वह लोकतंत्र का अग्रदूत बन जाता है। रूसों के द्वारा अपने सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

1.मानव स्वभाव

हाब्स ने मनुष्य को बुश एवं असभ्य तथा लोक ने उसे भला तथा सहयोग की भावना से प्रेरित बताया था, वहीं रूसो मनुष्य को परिस्थितियों के अधीन अच्छा अथवा गुरा दोनों ही बताता है। रूसो का

मत है कि 'मनुष्य मानवीय अच्छाई में बाधक बनती है।' यह बात उसकी इस धारणा से स्वतः और स्पष्ट हो जाती है जब वह इस बात का प्रतिपादन करता है कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है परन्तु वह सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ है।

2.प्राकृतिक अवस्था

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी जिसमें मनुष्य शान्ति एवं संतोषपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। उसे न तो किसी साथी की आवश्यकता थी तथा न किसी का अहित करने की उसकी इच्छा थी। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले बालक की भाँति सादगी तथा परमसुख का जीवन व्यतीत करता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य छल कपट रहित जीवन व्यतीत करता था, परन्तु इस प्राकृतिक अवस्था में विवके का अभाव था। यही कारण है कि रूसो प्राकृतिक अवस्था के व्यक्ति को आदर्श बर्बर (Noble Savage) की संज्ञा देता है।

3.समझौते का कारण

रूसो प्राकृतिक अवस्था का चित्रण आदर्श अवस्था के रूप में करता है परन्तु समय बीतने के उपरांत यही अवस्था कष्टमय होती चली गयी। कृषि के अविष्कार के कारण भूमि पर स्थायी अधिकार तथा इसके परिणामस्वरूप सम्पत्ति का उदय हुआ। यही से समाज में मेरे तेरे की भावना का विकास हुआ। जब व्यक्ति अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार की इच्छा रखने लगा तो इस अवस्था में संघर्ष की भावना पैदा होने लगी तथा मानव जीवन कष्टमय तथा अशांतिपूर्ण होता गया। सम्पत्ति के बारे में उसकी मान्यता यह है कि ''वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने एक भू-भाग को घेरकर कहा था कि यह मेरी भूमि है'' तथा जिसे अपने इस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गये। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में युद्ध संघर्ष एवं विनाश का वातावरण उपस्थित हो गया। अतएव इस अवस्था का अन्त करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौते द्वारा समाज की स्थापना का निश्चय किया।

4.समझौते का स्वरूप

प्राकृतिक अवस्था की असहनीय स्थिति का अन्त करनेके लिए सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए तथा उनके द्वारा अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया परन्तु यह समर्पण किसी विशेष व्यक्ति के लिए वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए किया गया। समझौते के परिणाम स्वरूप समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न हुई तथा सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अधीन माने गये। रूसो के शब्दों में ''समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के

सर्वोच्च निदेशक के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।'' यह अवस्था सभी पक्षों के लिए लाभपूर्ण सिद्ध हुई।

5.राज्य का स्वरूप :

रूसो के समझौते के द्वारा एक लोकतांत्रिक समाज की स्थापना होती है जिसके अन्तर्गत सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज में निहित होती है जिसका आधार सामान्य इच्छा है। यदि सरकार सामान्य इच्छा के विरूद्ध आचरण करती है तो जनता को ऐसी सरकार को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त होता है शासन का आधार लोकप्रिय सम्प्रभुता से जुड़ा होता है।

7.3.4 सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना

यद्यपि सामाजिक समझौता सिद्धान्त 13 वीं एवं 14 वीं सदी में काफी लोकप्रिय हुआ तथा हूकर ,मिल्टन , ग्रोशस, ब्लैकस्टोन, स्पिनोजा जैसे अनेक विचारकों ने इसका समर्थन किया परन्तु 14 वीं सदी के अन्त तथा 19 वीं सदी के राजनीतिक विचारकों ने इसकी कड़ी आलोचना प्रस्तुत की। ह्यूम ,सर हेनरी मेन ,ब्लंशली, बेंथम सर फ्रेडरिक पोलक तथा एडमण्ड वर्क जैसे विचारकों ने इस समझौते को 'सत्य से परे' 'कपोल कल्पित' एवं 'तर्कहीन' घोषित किया। इस सिद्धान्त की विभिन्न आधारों पर आलोचना की जाती है जो इस प्रकार है-

1.ऐतिहासिक आधार

ऐतिहासिक आधार पर इस समझौते की आलोचना इस प्रकार की गई है-

१.ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक समझौता सिद्धान्त कल्पनिक प्रतीत होता है क्योंकि इतिहास में इस बात का कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता कि आदिम मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की हो।

२.समाजिक समझौता सिद्धान्त मानव इतिहास को प्राकृतिक अवस्था तथा सामाजिक अवस्था इस प्रकार के दो कालों में बाँट देता है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल विभाजन नितान्त असत्य है। इतिहास में हमें कहीं भी ऐसी अवस्था का प्रमाण नहीं मिलता जब मानव संगठन विहीन अवस्था में रहता है।

३.इतिहास के अनुसार राज्य तथा इसी प्रकार की मानवीय संस्थाओं का विकास हुआ है, निर्माण नहीं। ला-फर ने कहा है कि परिवार की भाँति ही राज्य समाज के लिए आवश्यक है और वह समझौते का नहीं वरन् मानवीय प्रकृति का परिणाम है।

2.दार्शनिक आधार

इस समझौते की आलोचना के दार्शनिक आधार इस प्रकार हैं:-

१.इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को एक ऐसे संगठन के रूप में चिन्हित किया गया है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो, परन्तु राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं होती वरन् अनिवार्य होती है। व्यक्ति उसी प्रकार राज्य के सदस्य होते हैं जैसे परिवार के क्योंकि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है।

२.मनुष्य तथा राज्य के सम्बन्धों की व्याख्या समझौते के आधार पर किया जाना अनुचित है क्योंकि मनुष्य एवं राज्य का सम्बन्ध मानव की प्रकृति पर आधारित है।

३.यह सिद्धान्त राज्य को कृत्रीम तथा मानवीय कृति मानता है जबकि राज्य मानव स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक संस्था है। यह मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है।

४.समझौता सिद्धान्त राज्य को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताकर क्रांति एवं अराजकता को प्रोत्साहित करता है और नागरिकों के व्यवस्थित जीवन के लिए चुनौती प्रस्तुत करता है।

५.जान लॉक के मतानुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है क्योंकि अधिकारों का उदय समाज में ही होता है तथा एक राज्य के अन्तर्गत रहकर ही अधिकरों का उपभोग किया जा सकता है।

3.तार्किक आधार

यह सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्तियों में एकाएक ही राजनीतिक चेतना का उदय कैसे हो गया। वास्तविकता यह है कि राजनीतिक चेतना सामाजिक जीवन में उत्पन्न होती है। सामाजिक जीवन के अभाव में राजनीकि चेतना का उदय सम्भव नहीं है।

4.वैधानिक आधार

वैधानिक आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना के आधार पर निम्नलिखित है -

१.प्राकृतिक अवस्था में किये गये किसी भी समझौते का वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है क्योंकि किसी भी समझौते की स्वीकृति का आधार राज्य की शक्ति होती है। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में राज्य का अस्तित्व न होने के कारण सामाजिक समझौते के पीछे इस प्रकार की शक्ति न थी।

२.कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगों के मध्य होता है, उन्हीं पर लागू होता है अतः किसी अज्ञात समय में अज्ञात व्यक्तियों द्वारा किया गाय समझौता उसके बाद के समय एवं वर्तमान लोगों पर लागू हो, यह कानूनी दृष्टि से अमान्य है।

7.3.5 सिद्धान्त की उपयोगिता

समस्त आलोचनाओं के बावजूद सामाजिक समझौता उपयोगी माना गया है और इसके प्रमुख कारण हैं-

१.इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का खण्डन किया गाय जिसके अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया था और जिसने राजा को निरंकुश बनाया था।

२.इस सिद्धान्त ने यह प्रमाणित कर दिया कि राजा की शक्ति या व्यक्तिगत इच्छा नहीं बल्कि जनसहमति ही राज्य का आधार है।

३.इस सिद्धान्त से सम्प्रभुता के सिद्धान्त का विकास हुआ। हाब्स ने 'वैधानिक सम्प्रभुता' लोक ने 'राजनीतिक प्रभुता' तथा रूसो ने 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

7.4 राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जिनमें दैवी सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, पितृसत्तात्मक एंव मातृसत्तात्मक सिद्धान्त प्रमुख है। इन सिद्धान्तों से प्रायः यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य का निर्माण एक निश्चित समय पर किया गया या किसी एक तत्व का इसके पीछे योगदान रहा है। गहराई से देखने पर यह अनुभव होता है कि राज्य का निर्माण नहीं किया गया। यह तो निरन्तर विकास का परिणाम है। डा0 गार्नर का यह कथन सर्वथा उपयोगी है कि ''राज्य का न तो ईश्वर की सृष्टि है, न ही वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।''

राज्य विकास का परिणाम है तथा राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त द्वारा ही की गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास लम्बे समय से चला आ रहा है तथा आदिकालीन समाज से क्रमिक विकास करते करते इसने वर्तमान राष्ट्रीय स्वरूप को प्राप्त किया है।

7.5 राज्य के विकास में सहायक तत्व:

यह बताना कि कब एंव किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया, अत्यधिक कठिन है। गेटेल के अनुसार ''अन्य सामाजिक संस्था की भॉति ही राज्य का उदय अनेक स्रोतों से तथा अनेक प्रकार की स्थितियों के अधीन हुआ और वह लगभग अदृश्य रूप से उभरा है।'' प्रकृति परिस्थिति तथा स्वभाव के भेदों के कारण विभिन्न समयों, अवस्थाओं एंव स्थानों में राज्यों के विकास का क्रम भी विभिन्न रहा है और उसके अर्न्तगत निम्न तत्वों का योगदान प्रमुख रूप से रहा है- (1) रक्त सम्बन्ध (2) मानव की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियॉ (3) धर्म (4) शक्ति (5) आर्थिक गतिविधियॉ (6) राजनीतिक चेतना।

1.रक्त सम्बन्ध - यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सामाजिक संगठन का प्राचीनतम् रूप रक्त सम्ब्न्ध पर आधारित था तथा रक्त सम्बन्ध एकता का प्रथम तथा दृढ़तम बन्धन रहा है। आंग्ल भाषा की कहावत है कि- खून पानी से गाढ़ा होता है । इसके अन्तर्गत पुरूष नारी तथा बच्चों से युक्त परिवार संगठित जीवन की प्रथम इकाई बना। हर परिवार का मुख्या होता था और उसे परिवार के सदस्यों पर किसी न किसी प्रकार से नियंत्रण प्राप्त था। मूल परिवारों में से कई परिवार विकसित हुए जिसके परिणाम स्वरूप एक नई इकाई जाति, कबीला या कुटुम्ब का जन्म हुआ। परिवार के मुख्या की ही भाँति बड़ी इकाई कबीले का भी एक मुखिया बन गया। परिवारों से कबीला तथा कबीले से अन्ततः राज्य बन गये। हेनरी मेन ने उचित ही कहा है, ''प्राथमिक संवर्ग परिवार है। परिवारेां का योग कुलों या घरानों का गठन करता है। घरानों के योग से कबीला बनता है। कबीलों के योग से राज्य बनता है।'' मैकाइबर के अनुसार - ''जैसे-जैसे पीढ़ियों के विकास के साथ संवर्ग विशाल होता गया, रक्त सम्बन्धें का भाव और अधिकार पुष्ट होता गया। रक्त सम्बन्ध ने समाज का निर्माण किया है तथा समाज ने आगे चलकर राज्य का निर्माण किया है।''

2.मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है तथा समूह में रहने की मानव की प्रवृत्ति ने ही राज्य को जन्म दिया है। समाज में साथ-साथ रहते हुए जब विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव तथा स्वार्थगत भेदों के कारण विभिन्न प्रकार के विवाद उत्पन्न हुए तो इन विवादों को दूर करने के लिए एक सम्प्रभुता सम्पन्न राजनीतिक संस्था की आवश्यकता समझी गयी तथा राज्य का उदय हुआ। इस प्रकार राज्य को बहुत अधिक सीमा तक मानव की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम कहा जा सकता है। इस सम्बनध में जॉन मार्ले ने उचित ही कहा है ''राज्य के विकास का वास्तविक आधार मनुष्य के जीवन में विद्यमान अन्तर्जात प्रवृत्ति रही है।''

3.धर्म

रक्त सम्बन्ध की भाँति ही धर्म का राज्य की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुतः प्रारम्भिक समाज में रक्त सम्बन्ध एवं धर्म एक ही वस्तु के दो पहलू थे तथा दोनों की परिवार तथा कबीलों को परस्पर जोड़ने का कार्य साथ ही करते थे। विल्सन के अनुसार ''प्रारम्भिक समाज में धर्म समान रक्त का प्रतीक, उसकी एकता, पवित्रता तथा दायित्व की अभिव्यक्ति था।'' गेटेल ने तो यहाँ तक लिखा है कि रक्त सम्बन्ध तथा धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे तथा समूह की एकता एवं उनके कर्तव्यों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।

वस्तुतः धर्म का उदय परिवारों एवं कबीलों में रहने वाले लोगों की जीवन शैली में से हुआ। प्रारम्भिक समाज में धर्म के दो रूप प्रचलित थे पितृ पूजा तथा प्राकृतिक शक्तियों की पूजा। व्यक्ति अपने परिवार के वृद्ध व्यक्तियों के मृत हो जाने पर भी उनके प्रति ऋद्धा रखते थे तथा उनका विचार था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा शेष रहती है, अतः इस आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने पितृ पूजा आरम्भ कर दी। धर्म के इस बहुप्रचलित रूप ने परिवारों को एकता के सूत्र में बाँधा। जो एक ही वंश या रक्त से सम्बन्धित होते थे, उनके कुल देवता या पूर्वज भी एक ही हुआ करते थे।

उस समय धर्म का एक दूसरा प्रचलित रूप प्राकृतिक शक्तियों की पूजा थी। प्रारम्भिक समाज में बुद्धि के विकास के अभाव में व्यक्ति प्राकृतिक परिवर्तनों को समझने में असमर्थ थे। उन्होंने बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक, वायु की गति तथा वस्तुओं के परिवर्तन में ईश्वर की शक्ति का अनुभव किया तथा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु उनके लिए देवता बन गई। व्यकित पृथ्वी सूर्य, अग्नि, इन्द्र तथा वरुण की उपासना करने लगे तथा एक ही शक्ति के उपासकों में परस्पर घनिष्ठ मैत्री भाव उत्पन्न हुआ जो राज्य का आधार बना।

प्रारम्भिक समाज में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देचता या भूत-प्रेत समझा जाता था तथा जब कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर देता था कि वह प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित रख सकता है, तब उसे समाज में असाधारण शक्ति तथा सम्मान प्राप्त हो जाता था तथा अनेक बार वे तांत्रिक कहे जाने वाले व्यक्ति राजा बन जाते थे। यूनानी नरार राज्य में ऐसा ही हुआ था। धर्म ने एक से अधिक रूप में राज्य के विकास में अपना योगदान दिया है।

4.शक्ति

राज्य संस्था के विकास में शक्ति या युद्ध का स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण रहा है। जैक्स के अनुसार ''युद्ध ने सम्राट को जन्म दिया'' अन्य मनुष्यों पर आधिपत्य स्थापित करने तथा संघर्ष एवं आक्रमण की प्रवृत्ति भी मानव की मूल प्रवृत्तियों में से एक है। मानवीय विकास के प्रारम्भिक काल में ये प्रवृत्तियाँ

बहुत अधिक सक्रिय थीं। कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति ने निजी सम्पत्ति की धारणा को बढ़ावा दिया। ऐसी स्थिति में निवास स्थान तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए युद्ध होने लगे। लोग सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता रखने वाले शक्तिशाली व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार करने लगे। इस नेता की अधीनता में एक कबीला दूसरे कबीले पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा में संलग्न रहा तथा संघर्ष की इस प्रक्रिया में विजयी कबीले का सैनिक सरदार राजा बन बैठा। बलपूर्वक शक्ति ने प्रभुसत्ता का रूप धारण किया तथा शासक के प्रति भक्ति एवं निष्ठा की भावना का जन्म हुआ।

आत्म रक्षा तथा विस्तारवादी प्रवृत्ति ने भी राज्य के विकास में अपना योगदान दिया है। उदाहरण स्वरूप, अमेरिका के कई उपनिवेश ब्रिटिश सम्राट जार्ज तृतीय के विरूद्ध संगठित हो गये तथा उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी क्योंकि उन्हें अंग्रेजों के आक्रमण तथा शोषण का खतरा था। प्राचीनकाल में विजयों के द्वारा छोटे राज्यों से बड़े राज्यों तथा बड़े से विशाल साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन इसी प्रकार हुआ। भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के शासक नन्द को परास्त करके अपने विशाल साम्राज्य की नींव रखी तथा धीरे-धीरे उसका विस्तार किया। इसी प्रकार यूरोप में भी रोम के सम्राटों ने दूर-दूर के प्रदेशों को जीतकर रोम साम्राज्य का निर्माण किया जिसका कालान्तर में पतन भी हो गया। मैकाइबर का कहना सर्वथा सत्य है कि राज्य का उदय शक्ति के द्वारा नहीं हुआ है यद्यपि शक्ति ने राज्य विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

5.आर्थिक गतिविधियाँ

आर्थिक गतिविधियों ने भी राज्य की उत्पत्ति एवं विकास में अपना योगदान दिया है। सबसे पहले मनुष्य शिकार के द्वारा अपना जीवनयापन करता था, तदोपरान्त पशुपालन की अवस्था आ गई। शिकार अवस्था में धनवान एवं निर्धन का भेद न था, परन्तु पशुपालन अवस्था में यह भेद उभरकर सामने आ गया। जिसमें पास अधिक पशु होते थे, वह धनवान समझा जाता था तथा जिसके पास कम होते थे या बिलकुल नहीं होते थे वह निर्धन समझा जाता था। पशुपालन के युग में मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ गई तथा धीरे-धीरे कृषि का रिवाज आरम्भ हुआ। कृषि के आरम्भ होने से मनुष्य का एक स्थान से दूसरे पर भोजन की तलाश में घूमना फिरना बन्द हो गया तथा वह एक स्थान पर बस गया। इस प्रकार से ग्रामों तथा नगरों की उत्पत्ति हुई। कृषि के आरम्भ होने से उद्योगों एवं व्यापार की भी उन्नति हुई तथा सम्पत्ति की परम्परा ने जन्म लिया। सम्पत्ति के कारण अनेक वर्ग उत्पन्न हुए तथा उनमें संघर्ष बढ़ा। अतः इन संघर्षों को नियंत्रित करने के लिए कानून की आवश्यकता महसूस हुई। गेटेल के अनुसार, ''आर्थिक सेवायें, जिनके द्वारा मनुष्य ने मौलिक अपेक्षाओं की संतुष्टि की तथा बाद में सम्पत्ति एवं धन का संचय किया, राज्य निर्माण में आवश्यक तत्व रही है।''

प्लेटो, मैकियावेली हाब्स, लोक, आडम स्मिथ तथा मांटेस्क्यू जैसे विचारकों ने भी राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में आर्थिक तत्वों के योग को स्वीकार किया है। आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने तो इस विचार को प्रकट करते हुए लिखा है कि, ''राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है।''

6.राजनीतिक चेतना

राज्य की स्थापना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान राजनीतिक चेतना का माना जाता है। जब लोगों ने यह अनुभव करना आरम्भ किया कि वे किसी जंगली संगठित होकर ही कर सकते हैं तो उनमें राजनीतिक संगठन की भावना उत्पन्न हुई तथा उसी के परिणाम स्वरूप राज्य का जन्म हुआ। जनसंख्या वृद्धि मानव जाति सम्बन्धों को नियमित करने तथा सम्पत्ति का वृद्धि के साथ भी राज्य की आवश्यकता अनुभव की गई। इसके अतिरिक्त शान्ति-व्यवस्था की स्थापना तथा आर्थिक उन्नति के लिए भी राज्य की अनिवार्यता बढ़ती गई। यह आवश्यकता इसलिए और भी बढ़ जाती थी क्योंकि एक समुदाय के दूसरे समुदाय पर आक्रमण से रक्षा की आवश्यकता अनुभव की गई। इस आवश्यकता की पूर्ति केवल एक अच्छा योद्धा तथा कुशल नेता ही कर सकता था। यही नेता आगे चलकर राजा बन गया। गिलक्राइस्ट के अनुसार, ''राज्य निर्माण के सभी तत्वों की तह में, जिनमें रक्त सम्बन्ध एवं धर्म भी सम्मिलित है, राजनीतिक चेतना है, जो सबसे प्रमुख तत है।'' अतएव यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि राजनीतिक चेतना ही मनुष्य को राज्य के रूप में संगठित करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में अनेक तत्वों ने अपना योगदान दिया है, जिनमें रक्त सम्बन्ध धर्म, शक्ति सामाजिक प्रवृत्ति, आर्थिक गतिविधियों तथा राजनीतिक चेतना महत्वपूर्ण है। इन सभी तत्वों ने राज्य के विकास में अपना अभीष्ट योगदान दिया है इस सन्दर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने सिद्धान्त उभरकर सामने आये हैं उनमें यही सिद्धान्त सबसे वास्तविक तथा सर्वमान्य प्रतीत होता है।

7.5 राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का जन्म दाता महान विचारक कार्ल मार्क्स माना जाता है। मार्क्स के विचार राज्य की उत्पत्ति के संदर्भ में अन्य सिद्धान्तों से अलग प्रतीत होते हैं। मार्क्स राज्य को प्राकृतिक एवं अनिवार्य संस्था नहीं मानता है। मार्क्स के अनुसार राज्य की उत्पत्ति न तो किसी नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हुई है तथा न मनुष्यों की इच्छा की पूर्ति के लिए। राज्य एक वर्गीय संस्था है जो एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के दमन एवं शोषण के लिए स्थापित की जाती है। दूसरे शब्दों में राज्य धनी व्यक्तियों के हाथ में ऐसा खिलौना है जिसके माध्यम से निर्धनों का शोषण किया जात है।

मार्क्स ने राज्य की उत्पत्ति की विस्तृत व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है। उसकी रूचि वस्तुतः राज्य के स्वरूप में थी। 1447 में जब मार्क्स ने अपनी पुस्तक ब्वउउनदपज डंदपमिजव लिखी तो उसका आरम्भ इस वाक्य से होता था, ''आज तक के सम्पूर्ण समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। यद्यपि इस वाक्य में ऐसा कोई संकेत नहीं है कि वर्तमान समाज से पहले कोई ऐसा भी समाज था जहाँ वर्ग संघर्ष विद्यमान न था। बाद में अनेक वैज्ञानिकों तथा इतिहासकारों ने कुछ ऐसे आदिम समुदायों का पता लगाया जो साझा सम्पत्ति के आधार पर संगठित थे। इन समुदायों के विघटन के कारण ही समाज परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया और यहीं से राज्य की नींव पड़ी। मार्क्स के निकटतम सहयोगी फ्रेडरिक एंजेल्स ने भी लिखा है कि राज्य कोई प्राकृतिक संस्था नहीं है बल्कि मानव इतिहास के एक विशेष मोड़ पर राज्य की उत्पत्ति हुई अर्थात् राज्य की उत्पत्ति वर्ग विभाजन एवं वर्ग संघर्ष का अनिवार्य परिणाम है। इस संदर्भ में निम्न बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

1.राज्य की उत्पत्ति का आधार वर्ग विभाजन

मार्क्स की धारणा के अनुसार राज्य एक वर्गीय संस्था है। चूँकि राज्य का उदय इस वर्ग विभाजन एवं संघर्ष के परिणाम स्वरूप हुआ है अतएव वह एक अस्वाभाविक संस्था है। आदिम साम्यवादी अवस्था में समाज के सदस्यों के मध्य हितों का कोई संघर्ष न था, अतएव राज्य का अस्तित्व न था। परन्तु दास प्रथा के युग में स्थिति बदल गई। इस युग में भू-स्वामियों के हाथ में भूमि, सम्पत्ति तथा उत्पादन के सभी साधन थे तथा वे दासों का शोषण करते थे। स्वामी वर्ग के सदस्यों की संख्या बहुत कम थी तथा बहुसंख्यक समाज के विरूद्ध अपनी स्थिति बनाये रखने के लिये इनको शक्ति का सहारा लेना पड़ा। इनके द्वारा सेना, पुलिस, न्यायालय तथा जेल इत्यादि की व्यवस्था की गई। इन संस्थाओं पर उन लोगों का अधिकार था जो शोषण वर्ग के समर्थक थे तथा यही से राज्य संस्था का सूत्रपात हुआ।

2.राज्य तथा शासन शोषण के यंत्र

राज्य का उदय वर्ग भेदके कारण हुआ तथा राज्य संस्था सदैव ही शोषक वर्ग के सहायक के रूप में कार्य करती रही है। दासता के युग में स्वामी दासों का सामन्त युग में सामन्त किसानों का तथा औद्योगिक युग में पूँजीपति मजदूरों का शोषण करते रहे हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में भी लोकतंत्र मात्र दिखावा की ही वस्तु होता है तथा राज्य की वास्तविक शक्ति पूँजीपति वर्ग अथवा उसके समर्थकों के हाथों में रहती है। इन राज्यों में भी कानूनों का निर्माण पूँजीपतियों के सम्पत्ति सम्बन्धी तथा अन्य हितों की रक्षा करने के लिए ही किया जाता है। इस प्रकार राज्य वर्गीय हितों का पोषण करने वाली संस्था है जिसका लक्ष्य शोषक वर्ग के हितों की रक्षा करना तथा उसे शोषित वर्ग के ज्यादा से ज्यादा शोषण की ओर बढ़ाना है।

3.राज्य के स्थान पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

मार्क्स राज्य को अस्वाभाविक एवं अनावश्यक संस्था मानता है तथा उसके अन्त के लिए साम्यवादी क्रान्ति की बात करता है जिसके अन्तर्गत मजदूर वर्ग या शोषित वर्ग के द्वारा शोषक वर्ग के विरूद्ध संगठित विद्रोह किया जायेगा। परन्तु वह यह भी स्वीकार करता है कि साम्यवादी क्रांति के प्रथम चरण में ही राज्य का अन्त सम्भव या उचित नहीं है। पूँजीवाद के अन्त के बाद भी राज्य कुछ समय तक बना रहेगा तथा इस काल में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी। इस काल में राज्य की शक्ति का प्रयोग सर्वहारा वर्ग के द्वारा पूँजीपतियों के विरोध को कुचलने तथा पूँजीवाद के बचे हुए तत्वों को समाप्त करने के लिए किया जायेगा।

मार्क्स ने साम्यवादी घोषणा-पत्र में कहा है कि अन्तरिम काल में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही सरकार द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति और पैतृक अधिकारों की समाप्ति, यातायात तथा संचार के साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा पूँजीपतियों की जमा पूँजी को समाप्त करने के लिए कठोर कदम उठाये जाने चाहिये। मार्क्स सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को ही वास्तविक लोकतंत्र मानता था जो बहुसंख्यकों के हितों के लिए कार्य करती है।

4.राज्यविहीन व वर्गविहीन समाज की स्थापना का आदर्श

मार्क्स राज्य को वर्ग संघर्ष से उपजी अस्थायी संस्था मानता हैं। अतः उसका विचार था कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के उपरांत जब विरोधी वर्गों का अन्त हो जायेगा तो राज्य सत्ता का भी अन्त हो जायेगा तथा राजयविहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना हो सकेगी।

मार्क्स के अनुसार ऐसे आदर्श समाज में धर्म, जाति, रंग तथा धन के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जायेगा तथा प्रत्येक को अधिक से अधिक न्याय प्राप्त हो सकेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ निश्चित समय के लिए आवश्यक रूप से श्रम करना पड़ेगा तथा उत्पादन सामाजिक आवश्यकताओं के अधीन होगा। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं तथा योग्यता के अनुसार वस्तुएँ व पारिश्रमिक प्राप्त होगा तथा जो व्यक्ति कार्य करने योग्य नहीं होंगे, उनके लिए सामाजिक सहायता की व्यवस्था की जायेगी।

5.राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रयवाद का समर्थन

राज्य सम्बन्धी धारणा के प्रसंग में ही मार्क्स राष्ट्रवाद की धारणा को अस्वीकार करता है तथा अन्तर्राष्ट्रावाद का समर्थन करता है। उसका मानना है कि मजदूरों का कोई देश नहीं होता। इसी कारण वह विश्व स्तर पर मजदूर एकता का सर्मथन करता हैं। मार्क्स का विश्वास था कि जब व्यक्ति द्वारा व्यक्ति

का शोषण समाप्त हो जायेगा जो एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण का भी अन्त हो जायेगा। ऐसे में युद्धों का अन्त होगा तथा विश्व शांति की स्थापना हो सकेगी।

अभ्यास प्रश्न

१.सामाजिक समझौता सिद्धान्त १९ वीं एवं २० वीं सदी में लोकप्रिय हुआ असत्य/ सत्य.

२ .प्राकृतिक अवस्था के मनुष्य को आदर्श बर्बर किसने कहा है.

३.सामाजिक समझौता सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक कौन हैं?

४.सोशल कांट्रेक्ट पुस्तक का लेखक कौन है.

५ .लोकप्रिय संप्रभुता के लिए.किसे जाना जाता है

यह किसका कथन है , ''राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है।''

साम्यवादी घोषणापत्र- के लेखक कौन है?

यह किसका कथन है -''जैसेजैसे पीढ़ियों के विकास के साथ संवर्ग विशाल होता गया-, रक्त सम्बन्धें का भाव और अधिकार पुष्ट होता गया। रक्त सम्बन्ध ने समाज का निर्माण किया है तथा समाज ने आगे चलकर राज्य का निर्माण किया है।''

यह किसका कथन है ''युद्ध ने सम्राट को जन्म दिया''

यह किसका कथन है''राज्य का न तो ईश्वर की सृष्टि है, न ही वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।''

?

7.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत हम यह जान सके है कि राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांतों में दैवीय और सामाजिक समझौता का सिद्धांत कितना महत्वपूर्ण है . जहां राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त ने

राजा को ईश्वरीय प्रतिनिधि बतलाकर जनता को राजभक्ति एवं आज्ञापालन का पाठ पढ़ाया जो आधुनिक राज्य का एक आवश्यक गुण माना जाता है।

तो सामाजिक समझौता का सिद्धांत के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का खण्डन किया गया जिसके अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया था और जिसने राजा को निरंकुश बनाया था । इस सिद्धान्त ने यह प्रमाणित कर दिया कि राजा की शक्ति या व्यक्तिगत इच्छा नहीं बल्कि जनसहमति ही राज्य का आधार है।

राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है जो स्वीकार करता है कि राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं। इसमें अनेक तत्वों का योगदान रहा है जिनमें रक्त सम्बन्ध, मानव की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ, धर्म, शक्ति ,आर्थिक गतिविधियाँ और राजनीतिक चेतना।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में एक अलग धारणा भी है जो राज्य को एक प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था नहीं है। राज्य का निर्माण भी शोषण के यंत्र के रूप में किया गया है। राज्य की उत्पत्ति का आधार वर्ग विभाजन है। आदिम साम्यवाद का युग र्व विभेद पर आधारित न था। सम्पत्ति के उदय के उपरांत वर्ग विभाजन को बढ़ावा मिला। राज्य की उत्पत्ति से ही शोषक एवं शोषित के सम्बन्धों को बढ़ावा मिला । राज्य तथा शासन शोषण के यंत्र हैं। सामन्तवादी तथा पूँजीवादी युग में किसानों एवं मजदूरों का शोषण। कानून निर्माण, सेना, पुलिस, न्यायालय इत्यादि का प्रयोग शोषक वर्ग के हितों में राज्य की समाप्ति के लए श्रमिक वर्ग की एकता तथा क्रान्ति को बढ़ावा, राज्य का अन्त एकबारगी न होकर धीरे-धीरे होगा। अन्तरिम काल में सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। इस अवस्था में बचे खुचे पूँजीवादी तत्वों की समाप्ति. राज्य विहीन तथा वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ना। प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीविका के उपार्जन के लिए श्रम अनिवार्य। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता योग्यता के अनुसार समाज के उत्पादों की प्राप्ति हो सकेगी ।राज्य के साथ-साथ राष्ट्रवाद का विरोध तथा अन्तर्राष्ट्रवाद में विश्वास अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार मजदूर वर्ग की एकता। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से ही विश्व में सहयोग भाई चारे तथा शांति की भावना को बढ़ावा।

7.7 शब्दावली

१.प्राकृतिक अवस्था - राज्य एवं समाज के पूर्व की काल्पनिक अवस्था।

२. Commonwealth - राज्य समाज शासन का सम्बन्धित रूप

३. प्राकृतिक अधिकार - ऐसे अधिकार जो मानव को स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं या होने चाहिए।

४. आदर्श बर्बर - भला इंसान परन्तु सभ्यता एवं संस्कृति से दूर

५. सामान्य इच्छा - समाज एवं राज्य के हित में संचालित सामान्य धारणा जो किसी प्रकार की दुर्भावना से प्रेरित नहीं होती।

६. राजनीतिक चेतना - राज्य से जुड़ने वाली भावना जिसमें कुछ अधिकार शामिल हैं।

७. लोकप्रिय संप्रभुता - ऐसी संप्रभुता जो जनसहमति पर आधारित हो।

.स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति - मानव का वह गुण जो उसे एकाकी जीवन नहीं व्यतीत करने देता तथा अन्य व्यक्तियों से सहयोग करने तथा सम्पर्क करने के लिए प्रेरित करता है।

2.राजनीतिक चेतना - मानव की वह प्रवृत्ति जो उसे राज्य के साथ जोड़ती है।

3.वर्ग संघर्ष - ऐसी भावना या अवस्था जो दो वर्गों या समुदायें के मध्य संघर्ष की स्थिति पैदा करती है।

4.वर्गीय संस्था - ऐसी संसथा जो किसी वर्ग अथवा समुदाय विशेष के हितों से जुड़ी प्रतीत होती है।

5.सर्वहारा वर्ग - ऐसा वर्ग जो सम्पत्ति या धन से अपने को अलग पाता है। उसेक पास मात्र श्रम करने की शक्ति होती है।

6.राज्यविहीन एवं वर्गविहीन समाज - ऐसी अवस्था जहाँ राज्य की सत्ता या वर्ग का कोई अस्तित्व न हो।

7.राष्ट्रवाद - वह भावना जो राष्ट्र को एक सांस्कृतिक संघ के रूप में परिभाषित करते हुए उससे आम व्यक्ति की भावना को जोड़ती है।

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.असत्य २.रूसो ३.हाब्स ,लाक ,रूसो ४.रूसो ५.रूसो, .कार्ल मार्क्स २.कार्ल मार्क्स ३.मैकाइबर ४.जैक्स ५.डा0 गार्नर

7.9 सन्दर्भ ग्रंथ

१. डॉ0 ओ0 पी0 गावा: राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त

२. डॉ0 इकबाल नारायण: राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त

३. डॉ0 जे0 सी0 जौहरी: आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त।

3. डॉ0 ओ0 पी0 गावा - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त

4. डॉ0 जे0सी0 जौहरी - आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

5. डॉ0 पन्त, जैन एवं गुप्ता - राजनीति शास्त्र के मूल आधार

7.10 सहायक /उपयोगी सामग्री

(i) J. W. Garner : Political Science and Government.

(ii) E. Ashirvtham : Political Theory

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

१. सामाजिक समझौता सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं, इसके प्रमुख पक्ष क्या हैं?

२. हॉब्स द्वारा वर्णित सामाजिक समझौता सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

३. लॉक का समझौता सिद्धान्त हाब्स के सिद्धान्त से किस प्रकार भिन्न है?

४. रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की क्या महत्ता है?

५. सामाजिक समझौता सिद्धान्त की किन आधारों पर आलोचना की जाती है

१. राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

२. मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य की प्रकृति के बारे में क्या धारणा रखता है?

३. वर्ग संघर्ष सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।

४. मार्क्सवाद राज्य के विकल्प के बारे में क्या सोचता है?

इकाई 8 राज्य के कार्य के सिद्धान्त उदारवादी, समाजवादी, मार्क्सवादी

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 राज्य के कार्यों के उदारवादी सिद्धान्त
8.2.1 उदारवाद के मूल सिद्धान्त
8.2.2 उदारवादी राज्य के उद्देश्य एवं कार्य
8.2.2.1 परम्परागत उदारवाद
8.2.2.2आधुनिक लोकतांत्रिक उदारवाद
8.2.3 उदारवाद की आलोचना

8.2.4 उदारवाद का प्रभाव-महत्व
8.3 राज्य के कार्यों के समाजवादी सिद्धान्त
8.3.1समाजवादी धारणा के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र
8.3.2 समाजवाद की आलोचना
8.3.3 समाजवाद की उपयोगिता
8.4 राज्य के कार्यों के मार्क्सवादी सिद्धान्त
8.4.1 मार्क्सवादी राज्य के कार्य
8.4.2मार्क्सवादी राज्य की आलोचना
8.5 सारांश
8.6 शब्दावली
8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.8 सन्दर्भ ग्रंथ
8.9 सहायक / उपयोगी सामग्री
8.10 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

इकाई 7 में हमने देखा कि राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त है जो स्वीकार करता है कि राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं। इसमें अनेक तत्वों का योगदान रहा है जिनमें रक्त सम्बन्ध, मानव की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियाँ, धर्म, शक्ति ,आर्थिक गतिविधियाँ और राजनीतिक चेतना।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में एक अलग मार्क्सवादी धारणा भी है जो राज्य को एक प्राकृतिक एवं नैतिक संस्था नहीं मानता है। राज्य का निर्माण भी शोषण के यंत्र के रूप में किया गया है। राज्य की उत्पत्ति का आधार वर्ग विभाजन है। आदिम साम्यवाद का युग र्व विभेद पर आधारित न था।

मार्क्सवाद की आलोचना राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में राजनीति शास्त्र का अध्ययन क्षेत्र काफी विवादास्पद रहा है। राज्य अपने आप में साध्य है अथवा मानव हित एंव कल्याण का साधन मात्र, इसके साथ ही साथ राज्य केउद्देश्यों के सम्बन्ध में भी भिन्न प्रकार की धारणायें है। इन समस्त बातों का अध्ययन करने के लिए हमारे समक्ष राज्य के कार्यों के तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं- उदारवादी, समाजवादी एवं मार्क्सवादी। इन तीनों सिद्धान्तों का हम बारी-बारी से अध्ययन करेंगे।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप जान सकेंगे।

1. राज्य साध्य है अथवा साधन
2. राज्य के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं?
3. राज्य के कार्यों के बारे में उदारवादी दृष्टिकोण एवं मूल मान्यतायें
4. राज्यों के कार्यों के बारे में समाजवादी दृष्टिकोण एवं मूल मान्यतायें
5. राज्य के कार्यों के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण एवं मूल मान्यतायें
6. आधुनिक राज्य का उचित कार्यक्षेत्र

8.2 राज्य के कार्यों के उदारवादी सिद्धान्त

उदारवादी विचारधारा एक निश्चित एवं क्रमबद्ध विचारधारा नहीं है। वास्तव में यह कोई एक दर्शन नहीं वरन् अधिक विचारों का सम्मिश्रण है। यह एक जीवन दृष्टि, जीवन क्रम तथा मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति है जिसके अन्तर्गत अनेक मान्यतायें आदर्श एवं समस्यायें हैं। ऐसी स्थिति में उदारवाद की व्याख्या स्वाभाविक रूप से एक कठिन कार्य हो जाता है। विभिन्न विद्वानों के विचार इस सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न हैं। कुछ लोग उदारवाद को व्यक्तिवाद का पर्यायवाची मानते हैं परन्तु जार्ज एच0 सोबाइन जैसे विद्वान दोनों में भेद मानते हैं। इसी प्रकार उदारवाद को लोकतंत्र के साथ भी जोड़कर देखा जाता है। कुछ विद्वान उदारवाद को लोकतंत्र एवं व्यक्तिवाद से जोड़कर देखते हैं। परन्तु उदारवाद मात्र केवल यही नहीं है। व्यक्ति राज्य पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर अब तक दो प्रकार की विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है। पहली विचारधारा के अनुसार राज्य समस्त मानवीय जीवन का केन्द्र तथा अपने आप में साध्य है परन्तु दूसरी विचारधारा व्यक्ति को ही साध्य मानती है। उदारवाद दूसरी विचारधारा से सम्बन्धित है। इसके लिए हमें उदारवाद के मूल सिद्धान्तों को समझना होगा। इसके उपरांत ही हम राज्य के उदारवादी कार्य क्षेत्र का अध्ययन करेंगे।

8.2.1 उदारवाद के मूल सिद्धान्त

उदारवाद के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं:-

१.मानव विवेक में विश्वास - उदारवादी विचारधारा मानव विवेक एवं बुद्धि में विश्वास रखती है। मानव विवेक में विश्वास रखकर ही मानव को आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हो सकता है। उदारवादी मानते हैं कि भावना पर विवेक को प्रधानता दी जानी चाहिये जिससे मनुष्य अपने व्यापक हितों के सन्दर्भ में उचित निर्णय ले सके।

२. इतिहास एवं परम्पराओं का विरोध - चूँकि उदारवाद मानवीय विवेक में विश्वास करता है, वह किसी भी ऐसे विचार, संस्था या सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है जो बुद्धि संगत न हो। उदारवादियों का मानना है कि यदि प्रगति के लिए इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध किया जाना आवश्यक है, तो उसे अवश्य किया जाना चाहिये। यही कारण है कि इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी उदारवादियों ने उपयोगिता के नाम पर पहले से चली आ रही व्यवस्था तथा परम्पराओं का खण्डन किया।

३ .मानवीय स्वतंत्रता की धारणा में विश्वास - उदारवादी विचारधारा मानवीय स्वतंत्रता की धारणा में विश्वास करती है। स्वतंत्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के जीवन पर किसी स्वेच्छाचारी सत्ता का

नियंत्रण न हो तथा ऐसा वातावरण हो कि व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सके। वास्तव में स्वतंत्रता मानव का जन्म सिद्ध अधिकार है।

४ .व्यक्ति साध्य तथा समाज एवं राज्य साधन - उदारवादियों का मूल आधार व्यक्ति है औ वे व्यक्ति को साध्य मानकर ही आगे बढ़ते हैं। समाज तथा राज्य तो साधन मात्र है तथा उनका महत्व उस सीमा तक है जहाँ तक वे इस लक्ष्य की पूर्ति में सहायक होते हैं।

५ .समाज एवं राज्य कृत्रीम संगठन - उदारवादी समाज एवं राज्य को प्राकृतिक नहीं वरन् कृत्रीम मानते हैं तथा उनका विचार है कि इनका निर्माण व्यक्तियों के द्वारा अपनी कुछ विशेष आवश्यकताओं केा पूरा करने के लिए ही किया गया। व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है, समाज तथा राज्य का संगठन उनके द्वारा अपनी निश्चित योजना के अनुसार किया गया है तथा व्यक्ति अपनी सुविधानुसार समाज तथा राज्य के संगठन में संशोधन परिवर्तन कर सकता है।

६ .व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास - उदारवादियों का विश्वास व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों में होता है जो जन्मजात मथा अनुल्लघंनीय होते हैं। लॉक का कथन है कि इन अधिकारों का सृजन किसी मानवीय संस्था समाज या राज्य द्वारा नहीं किया गया है, वरन् ये तो इन संस्थाओं के अस्तित्व के पूर्व से विद्यमान रहे हैं। प्रमुख प्राकृतिक अधिकार जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति का अधिकार है।

७ .धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श - उदारवाद धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श में विश्वास करता है जिसके अनुसार राज्य का कोई धर्म नहीं होना चाहिये, राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिये तथा धर्म के आधार पर अपने नागरिकों से किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाना चाहिये। आधुनिक सम्प्रभु राज्यों की प्रमुख विशेषता धर्म निरपेक्षता की मानी जाती है।

८ .शासन की स्वेच्छाचारिता का विरोध तथा कानून के शासन पर बल - उदारवाद अपनी प्रकृति से ही शासन की स्वेच्छाचारिता का विरोध करता है तथा इस बात पर बल देता है कि शासन में व्यक्ति की नहीं वरन् कानून की प्रधानता होनी चाहिये शासक वर्ग भी इन कानूनों को मानने के लिए उतनी ही सीमा तक बाध्य होना जितनी सीमा तक शासित वर्ग। यदि शासक वर्ग मानमानी करता है और शासक जनता के हितों का ध्यान नहीं रखता तो ऐसी स्थिति में जनता को शासन के विरूद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। उदारवादी शासन में परिवर्तन शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों द्वारा किया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में 1288 की इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रांति महत्वपूर्ण है।

९ .लोकतंत्र का समर्थन - लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का विचार उदारवादियेां की एक महत्वपूर्ण सोच है। वे इस बात पर बल देते हैं कि व्यकित के अधिकारों की रक्षा का सर्वोच्च उपाय यही हो

सकता है कि शासन की शक्ति स्वयं जनता के हितों मे हो तथा शासन शक्ति का दुरूपयोग किसी व्यक्ति अथवा वर्ग द्वारा न किया जा सके।

१० .अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विश्व शान्ति में विश्वास - उदारवाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की निरंकुशता को स्वीकार नहीं करता और विश्व शान्ति एवं बन्धुत्व की भावना को बढ़ावा देने की बात करता है। उदारवाद के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को शनैः शनैः शान्तिपूर्वक प्रगति करना चाहिये तथा अन्य राज्यों को भी इसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। राज्यों को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को स्वीकार कर लिया जाना चाहिये।

8.2.2 उदारवादी राज्य के उद्देश्य एवं कार्य-राज्य के उद्देश्यों एवं कार्यों के सम्बन्ध में उदारवादियों का सदैव एक ही दृष्टिकोण नहीं रहा है तथा इस सम्बन्ध में उनकी विचारधारा परिस्थितियों के अनुसार विकसित होती रहती है। इस सम्बन्ध में उदारवाद के दो प्रमुख रूप हैं- (1) परम्परागत (2) आधुनिक लोकतांत्रिक उदारवाद

8.2.2.1 परम्परागत उदारवाद

मूल रूप से उदारवाद का जन्म स्वेच्छाचारी शासन तथा व्यवस्था के विरूद्ध एक स्वतंत्रता आन्दोलन के रूप में हुआ तथा परम्परागत उदारवाद का मूल तत्व स्वतंत्रता की रहा। जॉन लॉक तथा जॉन स्टुअर्ट मिल को इस परम्परागत उदारवाद का प्रतिनिधि माना जाता है। प्रो0 हाबहाऊस ने अपने 'उदारवाद' शीर्षक ग्रंथ में परम्परागत उदारवाद के नौ मूल सिद्धान्त बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं -

1.नागरिक स्वतंत्रता - नागरिक स्वतंत्रता शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करती है तथा इसका कथन है कि व्यक्तियों पर व्यक्तियों को नहीं वरन् कानूनों का प्रभुत्व प्राप्त होना चाहिये। नागरिक स्वतंत्रता के द्वारा हर प्रकार की स्वेच्छाचारिता का विरोध किया जाता है तथा इस बात पर दिया जाता है कि व्यक्तियों को अपना इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

2.वित्तीय स्वतंत्रता - मध्य युग में निरंकुश शासकों द्वारा अनेक बार जनता पर मानमाने कर लगा दिये जाते थे। नागरिक चेतना के उदय के साथ इस बात पर बल दिया गया कि नागरिकों पर उनके प्रतिनिधियों की इच्छा के बिना कोई कर न लगाया जाय अर्थात् उत्तरदायी शासन को बढ़ावा दिया जाय। इंग्लैण्ड में यही बात जनता के मध्य उठी थी जिसका नारा था 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं'। अन्ततः यही नारा 1288 को रक्तहीन क्रांति का उत्तरदायी आधार बना।

३.व्यक्तिगत स्वतंत्रता - उदारवादियों के द्वारा सदैव ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अधिक बल दिया गया है। व्यक्तियों के जीवन एवं रहन-सहन में राज्य या समाज के अन्य व्यक्तियों द्वारा उस समय तक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिये जब तक कि सामाजिक हित की दृष्टि से इस प्रकार का हस्तक्षेप

आवश्यक न हो गया हो। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अन्तर्गत विचार एवं भाषण की स्वतंत्रता, रहन-सहन की स्वतंत्रता विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

4.सामाजिक स्वतंत्रता - उदारवादी चिंतन में सामाजिक स्वतंत्रता का भी विशेष महत्व रहा है। सामाजिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि जन्म, सम्पत्ति, वर्ण, जाति, लिंग इत्यादि के आधार पर व्यक्तियों में कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये। समाज के सभी व्यक्तियों केा विकास के लिए समान तथा पर्याप्त अवसर प्रदान किये जाने चाहिये क्योंकि इसके अभाव में स्वतंत्रता सम्भव नहीं है।

5.आर्थिक स्वतंत्रता - परम्परागत उदारवाद के सन्दर्भ में आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन तथा उनके द्वारा उद्योग तथा व्यापार में राज्य के द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिये। उदारवादियों की मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य के द्वारा अहस्तक्षेप की नीति अपनायी जानी चाहिये जिससे कि हर व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता का अनुभव कर सके। व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में संविदा की स्वतंत्रता तथा आर्थिक उन्नति के लिए संघ एवं समुदाय बनाने की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये।

6.पारिवारिक स्वतंत्रता - सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के पारिवारिक मामले में

7.जातीय एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता - उदारवादी विचारक राष्ट्रों के आत्म निर्णय तथा भौगोलिक एवं प्रशासनीक दोनों क्षेत्रों में स्वशासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वे जातीय समानता का भी समर्थन करते थे। परन्तु कुछ उदारवादी विचारकों द्वारा किया गया जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता का समर्थन यूरोपीय राष्ट्रों एवं गोरी जातियों तक ही सीमित रहा है।

8.अन्तर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता - उदारवाद एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरूद्ध बल प्रयो का विरोधी है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सहयोग का समर्थक है। आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में राज्यों के द्वारा परस्पर अधिकाधिक समीप आने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

9.राजनीतिक स्वतंत्रता - हाबहाऊस के अनुसार उदारवाद की सबसे बड़ी विशेषता राजनीतिक स्वतंत्रता है जो व्यक्तियों को राज्य के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर प्रदान करती है। इसके अन्तर्गत नागरिकों को अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार, राजनीतिक क्रियाकलापों की जानकारी प्राप्त करने तथा स्वतंत्र वाद-विवाद का अधिकार सम्मिलित है।

परम्परागत उदारवाद व्यक्तिवाद के निकट का दर्शन माना जाता है।

8.2.2.2 आधुनिक लोकतांत्रिक उदारवाद

19वीं सदी के मध्य तक उदारवाद परम्परागत रूप में प्रचलित रहा परन्तु उसके उपरांत बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उदारवाद के स्वरूप में परिवर्तन आ गया। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यह अनुभव किया गया कि परम्परावादी उदारवादियों की आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति अपनाने के परिणाम निर्धन एवं श्रमिक के लिए घातक सिद्ध हुए तथा यह भी सिद्ध हो गया कि निर्धन साधनहीन जनता अपने हितों की रक्षा करने में असमर्थ है। ऐसी परिस्थितियों में नव-उदारवादियों ने यह अनुभव किया कि राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप किया जाना चाहियें तथा जनता के हितों के सभी सम्भव कार्यों - विद्यालयों की व्यवस्था पेंशन, बेकारी, बीमा योजना इत्यादि को सरकारी क्षेत्र के अधीन लाया जाये। यहीं से आधुनिक उदारवाद का जन्म हुआ।

थामस हिल ग्रीन को आधुनिक उदारवाद का प्रतिनिधि विचारक कहा जा सकता है। वह एक आदर्शवादी विचारक होने के साथ-साथ उदारवादी इसलिए है क्योंकि राज्य को कभी एक साध्य नहीं माना है। ग्रीन के मतानुसार राज्य एक साध्य की प्राप्ति का साधन मात्र है तथा साध्य है राज्य में रहने वाले व्यक्तियों का पूर्ण नैतिक विकास। ग्रीन बार-बार इस बात पर बल देता है कि संस्थाओं का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए होता है, व्यक्तियों का अस्तित्व संस्थाओं के लिए नहीं।

इस प्रकार ग्रीन एक उदारवादी है परन्तु वह वैसा परम्परावादी उदारवादी नहीं है जो राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हुए सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में उसके हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। ग्रीन राज्य को एक आवश्यक बुराई मानने के स्थान पर उसे एक नैतिक संगठन मानता है। राज्य यद्यपि व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से नैतिक नहीं बना सकता परन्तु उसके द्वारा नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर उनके नैतिक विकास में सहायता पहुँचायी जा सकती है। इस दृष्टि से राज्य के द्वारा अज्ञानता, नशाखोरी, भुखमरी इत्यादि बाधाओं को दूर किया जा सकता है तथा ऐसे कानूनों का निर्माण किया जा सकता है जो श्रमिक वर्ग के हितों की अधिकाधिक रक्षा करे तथा समस्त जनता को स्वास्थ्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में अधिकाधिक सुविधायें प्रदान करें। ग्रीन ने राज्य द्वारा सद्जीवन के मार्ग की सभी बाधाओं को दूर करते हुए बीसवीं सदी के लोककल्याणकारी राज्य की नींव डाली।

वास्तव में ग्रीन ने उदारवाद को नया आधार दिया, उसे बदलती हुई परिस्थितियों में जनहित तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनुकूल बनाया तथा राज्य के कार्यों को नई सोच एवं दिशा प्रदान की।

8.2.3 उदारवाद की आलोचना

उदारवाद की विचारधारा को निम्न आधार पर आलोचना का शिकार होना पड़ा है-

1.उदारवाद की प्रथम कमी यह है कि इसके द्वारा इतिहास एवं परम्पराओं को उचित महत्व नहीं प्रदान किया गया है। आज का जीवन बहुत कुछ सीमा तक भूतकालीन परिस्थितियों का ही परिणाम है तथा भूतकाल से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर लेना न तो सम्भव है तथा न ही वांछनीय।

2.उदारवाद में मानवीय बुद्धि को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया है। वास्तव में मानवीय घटना चक्र के निर्धारण में बुद्धि की अपेक्षा ईश्वरीय इच्छा और संयोग का अधिक योगदान है।

3.उदारवादी राज्य को एक कृत्रिम संस्था तथा समझौते का परिणाम मानते हैं। परन्तु राज्य न तो किसी समझौते का परिणाम है तथा न ही कोई व्यावसायिक भागेदारी है जिसको इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। वास्तव में यह उच्चतम मानवीय गुणों के विकास तथा महानतम आदर्शों की प्राप्ति में क्रियाशील एक शाश्वत संस्था है। आदर्शवादी एवं फासीवादी विचारको के अनुसार उदारवादी जिस प्रकार व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता देने की बात करते हैं, वह मानव जीवन को पूर्ण अराजकता में बदल देगी। अतएव मानव जीवन की स्वतंत्रता को सीमित किया जाना नितान्त आवश्यक है।

8.2.4 उदारवाद का प्रभाव-महत्व

उदारवादी दर्शन में कमियां अवश्य है परन्तु 19वीं सदी के यूरोप तथा अमेरिका में उदारवादी दर्शन सर्वाधिक प्रभावशाली था तथा इस दर्शन ने राष्ट्रों के इतिहास को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इसने औद्योगिक विकास को तथा आर्थिक प्रगति को बढ़ावा दिया। इसने मुक्त-व्यापार पर बल दिया जिसके परिणामस्वरूप इन देशों के निवासियों ने आर्थिक क्षेत्र में प्रगति की। इसी के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता, समानता, धर्मनिरपेक्षता तथा लोकतंत्र की भावना को बढ़ावा मिला। यदि परम्परागत उदारवाद पूंजीवाद का सहायक दर्शन रहा है, तो आज का उदारवाद समाजवाद के निकट है। वास्तव में उदारवाद को लोकतंत्र राष्ट्रीय स्वाधीनता एवं आर्थिक प्रगति का दर्शन कहा जा सकता है।

1.4 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न:-

1. डदारवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये।
2. परम्परागत उदारवाद आधुनिक उदारवाद से किस प्रकार भिन्न है?
3. उदारवाद की आलोचना किन कारणों से की जा सकती है।

8.3 राज्य के कार्यों के समाजवादी सिद्धान्त

14वीं सदी के उत्तरार्ध तथा 19वीं सदी के प्रारम्भ में व्यक्तिवादी विचारधारा अत्यन्त लोकप्रिय थी, परन्तु इस विचारधारा को अपनाने का सामाजिक, आर्थिक एवं औद्योगिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव

पड़ा। इसके परिणामस्वरूप् समाजवाद का जन्म हुआ। आधुनिक समय में समाजवाद बहुत अधिक लोकप्रिय है तथा प्रत्येक देश द्वारा किसी न किसी रूप में इसे ग्रहण करने का प्रयास किया जा रहा है। यही कारण है कि उसका रूप् बहुत अस्पष्ट हो गया है। सी0 ई0 एम0 जोड के अनुसार, ''समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसका आकार बिगड़ गया है क्योंकि हर कोई उसे धारण करने का प्रयत्न करता है।''

समाजवाद का अंग्रेजी पयार्यवाची शब्द Socialism से लिया गया है जिसका अर्थ है समाज। वास्तव में समाजवाद व्यक्तिवाद के विरूद्ध समाज को केन्द्रीय मानने वाली विचारधारा है। समाजवाद का उद्देश्य समानता की स्थापना करना है। समाजवाद के अनुसार समानता की स्थापना के लिए स्वतंत्र प्रतियोगिता का अन्त किया जाना चाहिये। राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अधिक से अधिक कार्य किये जान चाहिए, उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होना चाहिये तथा उत्पादन व्यवस्था का संचालन भी वर्गों के सामूहिक हितों को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिये। यद्यपि समाजवाद की परिभाषा करना कठिन है फिर भी विद्वानों द्वारा निम्न प्रकार से समाजवाद को परिभाषित किया गया है-

एनसाइक्लोपीडिया बिटेनिका के अनुसार ''समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतंत्रात्मक सत्ता के आधार पर उत्पादन तथा वितरण की वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर एक श्रेष्ठ व्यवस्था स्थापित करना है।''

मैक्डोनाल्ड के शब्दों में ''सामान्य शब्दों में समाजवाद की इससे अच्छी परिभाषा नहीं दी जा सकती है कि वह समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों को संगठित एवं उन पर मानवीय शक्ति का नियंत्रण स्थापित करना चाहता है।''

भारतीय समाजवादी विचारक जय प्रकाश नारायण के अनुसार ''समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गविहीन समाज होगा जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय सम्पत्ति होगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उनकी प्रगति योग्यतानुकूल होगी तथा सभी लोग सबके हित के लिए जीवित रहेंगे।''

8.3.1समाजवादी धारणा के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापकतम होना चाहिये। इस विचारधारा के अनुसार राज्य के द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए जो व्यक्ति तथा समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हो क्योंकि व्यक्ति व समाज की उन्नति के लिए किये जाने वाले कार्यों की सीमा नहीं है, अतः सामाजिक जीवन के प्रायः सभी कार्य राज्य के अन्तर्गत आ जाते है। मार्नर के शब्दों में ''इस

सिद्धान्त के समर्थक व्यक्तिवादियों की भांति राज्य पर अविश्वास करके एवं उसे बुराई मानकर उसके कार्यक्षेत्र को कम से कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एवं निश्चित रूप से लाभप्रद मानते हैं तथा चाहते हैं कि राज्य के कार्य जनता के सामान्य आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि करें।'' इस संबंध में निम्न बातेंमहत्वपूर्ण है-

1. उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण

व्यक्तिवादी व्यवस्था में पूँजीवादी द्वारा लाभ की दृष्टि से ही सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था का संचालन किया जाता है। लाभ का बहुत बड़ा अंश पूंजीपति द्वारा अपने ही पास रख लिया जाता है तथा श्रमिक को कम से कम वेतन दिया जाता है। व्यक्तिवादी या पूंजीवादी व्यवस्था की इन बुराइयों को दूर करने का एक ही मार्ग है कि उत्पादनों के साधनों पर सामूहिक नियंत्रण स्थापित किया जाये तथा समाजवाद इसी बात का प्रतिपादन करता है।

2. समाजवादी व्यवस्था न्याय पर आधारित

न्याय की यह मांग है कि भूमि तथा उत्पादन के अन्य प्राकृतिक साधनों पर किसी एक वर्ग का आधिपत्य न होकर सम्पूर्ण समाज का नियंत्रण होना चाहिए और इन साधनों का उपयोग सभी व्यक्तियों के लाभ की दृष्टि से किया जाना चाहिए। वास्तव में समाजवादी व्यवस्था सभी व्यक्तियों की आधारभूत समानता तथा न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है।

3. आंगिक एकता पर बल

व्यक्तिवाद व्यक्ति तथा समाज का चित्रण दो ऐसी पृथक इकाईयों के रूप में करता है जिनके हित परस्पर विरोधी हो, परन्तु समाजवादियों की धारणा है कि व्यक्ति तथा समाज के मध्य उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जिस प्रकार का शरीर तथा शरीर के अंगों में पाया जाता है। अतएव व्यक्ति तथा समाज के संबंध परस्पर विरोधी नहीं हो सकते हैं।

4. संघर्ष के स्थान पर सहयोग की स्थापना:-

व्यक्तिवाद आन्तरिक क्षेत्र के संघर्ष तथा बाहरी क्षेत्र में युद्ध को जन्म देता है परन्तु समाजवाद दोनों ही क्षेत्रों में संघर्ष के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त को बढ़ावा देता है।

5. लोकतंत्र के अनुरूप

लोकतंत्रीय व्यवस्था समानता के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व तथा गंभीर आर्थिक विषमता के अन्त के बिना यह समानता मात्र एक दिखावा बन कर रह जाती है। आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी मार्ग को अपनाकर ही समानता स्थापित की जा सकती है।

6. स्वाभाविक सोच

समाजवाद पूंजीवाद की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। प्रकृति जल तथा वायु प्रदान करने में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती अतएव यह सर्वथा उचित है कि भूमि तथा खनिज पदार्थों पर भी सबका समान नियंत्रण हो।

8.3.2 समाजवाद की आलोचना

पूँजीवाद के अन्त के लिए समाजवाद ने एक उचित मार्ग दिखाया है। इसके बावजूद समाजवाद दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि उसकी निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है।

1. उत्पादन क्षमता में कमी

कोई भी मानव व्यक्तिगत लाभ की भावना से ही नियमित श्रम करता है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन कार्य राज्य के हाथ में आ जाने तथा सभी व्यक्तियों का पारश्रमिक निश्चित होने के कारण कार्य के लिए आधारभूत प्रेरणा का अभाव हो जाता है। इससे राज्य की उत्पादन क्षमता में कमी आ जाती है जिसका प्रभाव समाज की आर्थिक उन्नति पर पड़ता है।

2. नौकरशाही का विकास

समाजवादी व्यवस्था में राजकीय नियंत्रण होने के कारण उसका प्रबंध सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जायेगा। सरकारी अधिकारियों के हाथ में शक्ति आ जाने का स्वाभाविक परिणाम नौकरशाही का विकास होगा। काम की गति मंद हो जायेगी, कार्य में विलम्ब होगा तथा धूसखोरी एवं भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलेगा।

3. राज्य की कुशलता में कमी

समाजवादी व्यवस्था में राज्य के अधिकतम व्यापक कार्यक्षेत्र के कारण राज्य की कार्य कुशलता में भी कमी आ जायेगी। समाजवादी व्यवस्था में सार्वजनिक निर्माण संबंधी उत्पादन वितरण तथा श्रमिक विधान संबंधी सभी कार्य राज्य द्वारा होंगे। ऐसी अवस्था में राज्य की कार्य क्षमता प्रभावित होगी तथा अन्ततः राज्य के अस्तित्व के लिए घातक होगी।

4. मनुष्य का नैतिक पतन

समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सभी कार्यों को करने की शक्ति राज्य के हाथ में आ जाने से आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास, साहस तथा आरम्भक के नैतिक गुणों का अन्त हो जायेगा। यह एक स्वाभाविक सी बात है कि मनुष्य उसी सीमा तक विकास के लिए उन्मुख रहते हैं जिस सीमा तक उन्हें

अपनी प्रतिभा के विकास हेतु क्षेत्र प्राप्त रहता है। समाजवादी व्यवस्था में उसे अपने विकास की नवीन दिशायें प्राप्त न होने के कारण वह हतप्रभ हो जायेगा तथा उसका नैतिक पतन हो जायेगा।

5. व्यक्तिवादी स्वतंत्रता का अन्त

समाजवाद में राज्य के कार्य एवं शक्तियों इतनी बढ़ जाती है कि उसे व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अन्त हो जाता है।

6. खर्चीली व्यवस्था

समाजवादी व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक खर्चीली होगी। सरकार द्वारा अधिक कार्य करने से कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि होगी परन्तु कार्यकुशलता में कमी बनी रहेगी।

7. समाजवाद लूट का प्रतीक

समाजवाद को अन्यायपूर्ण कहते हुए आलोचकों का मानना है कि धनिक वर्ग अपने विवके तथा परिश्रम के कारण ही धनवान बन सका है तथा धनिकों से उनका धन छीनकर निर्धनों में वितरित करने की बात न्यायपूर्ण नहीं कही जा सकती है। डेविडसन ''समाजवाद को एक संगठित एवं व्यवस्थित लुटेरापन मानता है।''

8.3.3 समाजवाद की उपयोगिता

यद्यपि समाजवाद की इस प्रकार की आलोचनायें की जाती है परन्तु वर्तमान समय में इस प्रकार की आलोचनाओं का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रहा है। व्यवहार में राजकीय नियंत्रण से न तो उनकी उत्पादन क्षमता में ही कोई कमी हुई है और न ही व्यक्ति के नैतिक स्तर का पतन हुआ है। वास्तविकता यह है कि आधुनिक राज्यों के लिए समाजवादी व्यवस्था एक लोकप्रिय माडल के रूप में उभर कर आई है तथा अधिकांश राज्य इस दिशा में प्रयत्नशील है।

स्वमूल्यांकन के लिए प्रश्न (भाग-2)

1. उदारवाद तथा समाजवाद के मध्य भेद कीजिए?
2. राज्य के समाजवादी कार्यों की व्याख्या कीजिए?
3. ''समाजवादी राज्य का आधार कमजोर है'' इसकी व्याख्या कीजिए?

8.4 राज्य के कार्यों के मार्क्सवादी सिद्धान्त

राज्य के कार्यों के मार्क्सवादी सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए हमें मार्क्स के राज्य सम्बन्धी विचारों का पुनरावलोकन करना होगा। हम लोगों ने पिछले अध्याय में राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी मार्क्स के विचारों का अध्ययन किया उससे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि राज्य न तो मानवीय चेतना की उपज है न लोगों की सहमति पर आधारित कृत्रिम संगठन है न यह रक्त संबंध, धर्म बल एवं सहमति आदि तत्वों से प्रभावित बहुत लम्बे विकास का परिणाम मात्र है तथा न ही यह सकारात्मक भलाई का उपकरण है। वास्तव में राज्य एक ऐसा संगठन है जो वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का पोषण करने वाला है। मार्क्स के अनुयायी लेनिन की यह मान्यता है कि ''परस्पर विरोधी वर्गों वाले समाज में राज्य एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व बनाये रखने के लिए एक राजनीतिक उपकरण है।'' इस दृष्टि से राज्य के कार्यों का संबंध जीवन के भौतिक साधनों की उत्पादन प्रक्रिया से जोड़कर देखा जा सकता है जहां प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग राज्य की शक्तियों का प्रयोग स्वहित में करता है तथा सामाजिक उत्पादनों का निर्धारण उत्पादक शक्तियों द्वारा राज्य के गैर सम्पन्न व्यक्तियों के शोषण द्वारा किया जाता है।

आदिमकालीन साम्यवादी व्यवस्था में राज्य न था, न ही उत्पादन के साधन थे और न ही वर्ग संघर्ष था। परन्तु उत्पादन के नये साधनों (जैसे पशुपालन प्रणाली, खेती तथा उद्योगों के विकास) के आविष्कार द्वारा महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक विभाजन विकसित हुए। इसके साथ ही निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का उदय हुआ जिसने सम्पन्न वर्ग के द्वारा गैर सम्पन्न वर्ग के शोषण का मार्ग खोल दिया। पहला शोषणयुक्त राज्य वह था जिसमें दास रखने की परंपरा सामने आई। इसके उपरांत सामंती राज्य आया जो कृषि प्रणाली पर आधारित था। औद्योगिक प्रणाली के विकास के उपरांत पूंजीवाद राज्य स्थापित हुआ। यद्यपि इन तीनों प्रकार के एक ही प्रकार के कार्य थे- लोगों को दवाये रखना तथा श्रमिकों द्वारा अपने को शोषण से मुक्त कराने के प्रत्येक प्रयास को कुचल देना।

8.4.1 मार्क्सवादी राज्य के कार्य

मार्क्सवादी राज्य के कार्य निम्नलिखित हैं-

1. राज्य शक्ति का प्रतीक

जंगली जनजातियों के समाज में रहने वाले सशस्त्र लोगों के प्रत्यक्ष संगठन से भिन्न, यह एक सार्वजनिक शक्ति है जो सामान्य जनता से संबंधित नहीं है। इसका प्रयोग एक विशिष्ट वर्ग द्वारा किया जाता है। एक स्थायी प्रशासनिक सेवा, सशस्त्र लोगों के लिए विशिष्ट दल (सेना, पुलिस, गुप्तचर दल) राज्य के दण्डकारी सूचना देने वाले, अंग (बंदी गृह, नजरबंदी, गृह तथा कैद में रखने के अन्य स्थान) सब उसी सार्वजनिक शक्ति के अनिवार्य तत्व हैं।

2. राज्य द्वारा करारोपण:-

राज्य के द्वारा अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए जनता पर करारोपण किया जाता है। राज्य के खर्च का वहन करने के लिए समाज के अधिकाधिक संसाधनों का उपयोग किया जाता है। समाज पर बढ़ता कर भार इस बात का प्रतीक है कि संपन्न वर्ग अपनी सुख सुविधाओं के लिए गैर सम्पन्न वर्ग का शोषण करना चाहता है।

3. प्रादेशिक आधार पर विभाजन:-

राज्य की जनता रक्त सम्बन्धों के आधार पर नहीं बल्कि प्रादेशिक आधार पर विभाजित होती है। राज्य का प्रादेशिक आधार पर विभाजन संबंधों के विकास के आधार पर होता है। राज्य के द्वारा अपने हितों को ध्यान में रखकर एक निश्चित क्षेत्र में आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा इस प्रकार दिया जाता है जिससे कि सत्ताधारी वर्ग के द्वारा गैर सम्पन्न वर्ग का शोषण किया जा सके। देश के भीतर राज्य की यही गतिविधि रहती है। राज्य के बाहर भी यह वर्ग अपने उन पडोसियों पर दबाव डालकर, जो अपनी रक्षा करने में सक्षम नहीं है, अपने हितों की बढ़ोत्तरी करता जाता है। इसी के सहारे वह अपने पड़ोसी राज्यों पर कब्जा भी करता जाता है। इस प्रकार राज्य की शक्ति बढ़ती जाती है। अतएव राज्य आर्थिक आधार पर बना राजनीति ढांचा है। यह आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग की सत्ता का संगठन है जो राज्य के माध्यम से राजनीतिक सर्वोच्चता भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार राज्य का मूल तत्व शासक वर्ग का संगठन है जिसका लक्ष्य उसके मौलिक हितों की रक्षा करना है तथा सबसे बढ़कर, सम्पत्ति का ऐसा रूप् है जिसका यह वर्ग प्रतिनिधित्व करता है।

अतः मार्क्सवादियों का मानना है कि राज्य का अस्तित्व अनादि काल से नहीं है। आर्थिक विकास की अवस्था में समाज के विभाजन के परिणामस्वरूप राज्य का जन्म हुआ। उत्पादन के विकास के दौर में ऐसी अवस्था आ जायेगी जब न तो वर्गों और न ही राज्य का अस्तित्व रह जायेगा। राज्य का पतन हो जायेगा तथा उत्पादकों के स्वतंत्र एवं समान सहयोग पर आधारित वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज का गठन होगा।

8.4.2 मार्क्सवादी की आलोचना

राज्य के कार्यों की मार्क्सवादी धारणा की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है-

1. राज्य शोषण एवं दमन का उपकरण मात्र नहीं-

यह कहना गलत है कि राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण एवं दमन का उपकरण मात्र है। यह जनकल्याण का अभिकरण है तथा जैसा कि अरस्तू का मानना है इसका अन्तिम लक्ष्य नागरिकों के लिए उत्तम जीवन संभव बनना है।

2. राजनीतिक ढ़ांचा शोषण पर आधारित नहीं:-

शोषण के यथार्थ को संपूर्ण राजनीतिक ढ़ांचे के निर्माण एवं रक्षण का एकमात्र निर्णायक तत्व नहीं मानना चाहिए। छोटों पर बड़ों का प्राधिकार शोषण नहीं था परन्तु इसने राज्य के निर्माण में भूमिका निभाई। इसी प्रकार राज्य के निर्माण में न्याय तथा सामाजिक क्रियाकलापों की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। जिसके बिना राज्य का निर्माण असंभव था।

3. राज्य दमन का उपकरण नहीं-

राज्य को दमन का उपकरण मानना गलत होगा। यह सत्य है कि अपने शत्रुओं से निवटने तथा नियम कानूनों को लागू करने के लिए राज्य बल एवं दमन का प्रयोग करता है परन्तु केवल बल एवं दमन से राज्य की जनता को आज्ञापालन के लिए बाध्य करना असंभव है। राज्य को सशक्त बनाने में परम्पराओं मान्यताओं रीति रिवाजों की भी भूमिका होती है।

अभ्यास प्रश्न

१ .'उदारवाद' पुस्तक के लेखक कौन है?

२.इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रांति किस सन में हुई थी?

३.राज्य को वर्गीय संस्था के रूप में कौन स्वीकार करते हैं ?

४. ''समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसका आकार बिगड़ गया है क्योंकि हर कोई उसे धारण करने का प्रयत्न करता है।'' किसका कथन है?

५.समाजवाद का अंग्रेजी पयार्यवाची शब्द क्या है?

8.5 सारांश

राज्यों के कार्यों का उदारवादी सिद्धान्त व्यक्ति को साध्य मानकर राज्य को साधन मानता है । आधुनिक लोकतांत्रिक उदारवाद राज्य के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप को मान्यता देते हुए जनता के हित

में विद्यालयों की व्यवस्था, मद्य निषेध, वृद्धावस्था पेंशन, बेकारी या बीमा योजना थामस हिल ग्रीन आधुनिक उदारवाद का प्रतिनिधि जो राज्य को एक नैतिक संगठन मानता है।

समाजवादी राज्य की एक लोकप्रिय धारणा जिसका अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया। राज्य के द्वारा प्रतियोगिता का अन्त करके आर्थिक क्षेत्र में अधिकाधिक कार्यों को सम्पन्न करने का समर्थन । समाजवादी घटक के अनुसार राज्य का कार्य क्षेत्र - राज्य के व्यापकतम् कार्यक्षेत्र का समर्थन ।आधुनिक राज्यों के लिए समाजवाद के कुछ पक्ष लोकप्रिय हुए हैं.

राज्य के कार्यों का मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य को वर्गीय संस्था के रूप में स्वीकार करना जिसका लक्ष्य सम्पन्न वर्ग के हितों का पोषण तथा गैर सम्पन्न वर्ग का शोषण करना है आदिकालीन समाज में वर्ग विभाजन एवं संघर्ष की भावना नहीं।

8.6 शब्दावली

1. Laissez faire --खुली प्रतियोगिता को बढ़ावा, अहस्तक्षेप का सिद्धान्त
2. शाश्वत- वास्तविक रूप में
3. आंगिक एकता- एकता को मानव शरीर के अंगों की एकता के रूप में वर्णित करना।
4. वर्ग विहीन समाज- ऐसा समाज जहां पर किसी प्रकार का सामाजिक भेद न हो।
5. करारोपण- राज्य के द्वारा कर लगाना
6. आदिम साम्यवाद- राज्य के उदय के पूर्वास्था जहां किसी भी प्रकार का वर्ग विभाजन न था।

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.प्रो0 हाबहाऊस २.1288 ३.मार्क्सवादी सिद्धान्त ४. सी0 ई0 एम0 जोड ५.Socialism

8.8 संदर्भ-ग्रन्थ सूची

3. डॉ0 ओ0 पी0 गावा - राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त
4. डॉ0 जे0सी0 जौहरी - आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त
5. डॉ0 पन्त, जैन एवं गुप्ता - राजनीति शास्त्र के मूल आधार

8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

J. W. Garner : Political Science and Government , 2. E. Ashirvtham : Political Theory

8.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. राज्य के कार्यों के मार्क्सवादी सिद्धान्त का वर्णन कीजिए?
2. राज्य के उदारवादी सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए ?

इकाई 9. सम्प्रभुता की संकल्पना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 सम्प्रभुता का अर्थ
9.2.1 सम्प्रभुता की परिभाषाएं
9.2.2 संम्प्रभुता का विकास
9.2.3संम्प्रभुता के पहलू
9.2.3.1 आन्तरिक सम्प्रभुता
9.2.3.2 वाह्य सम्प्रभुता
9.2.4 सम्प्रभुता के लक्षण
9.2.5 सम्प्रभुता के विविध रूप
9.2.5.1 नाममात्र की सम्प्रभुता और वास्तविक सम्प्रभुता
9.2.5.2 विधिक व राजनीतिक सम्प्रभुता
9.2.5.3 विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता
9.2.5.4 लौकिक सम्प्रभुता
9.2.6 सम्प्रभुता का अधिवास
9.2.6 1 सम्प्रभुता का अधिवास राज्य में है।
9.2.6 2 सम्प्रभुता का अधिवास जनता मे है।
9.2.6 3 सविधान बनाने तथा उसमें संषोधन करने वाली संस्था में है।
9.2.6 4 सम्प्रभुता का निवास विधि निर्माण करने वाली समस्त संस्थाओं के योग में है
9.3 सारांश
9.4 शब्दावली
9.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.8निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

आमतौर पर यह माना जाता है कि राज्य लोगो को शान्ति व सद्जीवन प्रदान करता है। जिससे लोग सुख व समृद्वि प्राप्त कर सकें। इसके लिए प्रत्येक राज्य का अपना एक संविधान होता है। जिसमें नागरिकों के अधिकारों के साथ-साथ राज्य के कर्तव्यों का उल्लेख होता है। जिसका सम्मान किया जाना सरकार के लिए आवष्यक होता है। यदि राज्य के प्राधिकारी नागरिकों के अधिकारो का अतिक्रमण करते है तो नागरिक उनकी सुरक्षा के लिए न्यायालय की शरण लेता है और न्यायालय अधिकारों की रक्षा करता है। ऐसा इसलिए क्योंकि हमें ज्ञात है कि यह हमारा मौलिक अधिकार है। जिसके कारण सरकार हमारे हित में कार्य करने के लिए बाध्य है। प्रष्न यह उठता है कि राज्य किस प्राधिकार से ऐसा करता है ? वह शक्ति क्या है ? उसकी प्रकृति क्या है ? उसके आधार क्या है ? वह वर्तमान विवादग्रस्त समाजिक समस्याओं का समाधान कैसे करता है ? क्या ये सारी शक्तियां राज्य के पास होनी चाहिए ? इन सभी समस्याओं ;प्रष्नोद्ध का समाधान तब तक नही हो सकता जब तक कि राज्य की सर्वोच्चता ;सर्वोच्च शक्तिद्ध को स्वीकार न कर लिया जाय। राज्य की यह सर्वोच्च शक्ति ही आधुनिक युग में सम्प्रभुता के नाम से सम्बोधित की जाती है। सम्प्रभुता के कारण ही राज्य कानूनों का निर्माण व उनका पालन करवाता है इसी के बल वह सुकरात को जहर पीने के लिए बाध्य कर सकता है तथा कानूनो का पालन न करने वालों को वह जेल के मजबूत सीखचों में बन्द करके अपनी सम्प्रभुता का एहसास करा सकता है।

आधुनिक युग में राज्य के चार आवष्यक तत्व माने जातें है निष्चित - भूभाग, जनसंख्या ,सरकार और सम्प्रभुता। इनमें सम्प्रभुता सबसे महत्वपूर्ण है। जिसे राज्य शक्ति का प्राण या आत्मा कहा जा सकता है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का अस्तित्व सम्भव नही होता है उसी प्रकार सम्प्रभुता के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती है। सी0एल0 ओएसे ; ने लिखा है कि ‘‘प्रभुसत्ता कों राज्य से कदापि अलग नही किया सकता यदि राज्य को इससे बचिंत कर दिया जाय तो राज्य कदापि नही रहेगा और जिसके पास यह सत्ता होगी , वही राज्य का स्वामी होगा क्योंकि उसके पास सार्वभौम सत्ता (सर्वोच्च सत्ता) होगी। प्रभुसत्ता ही वह शक्ति है जो राज्य के अस्तित्व को बनाये रखती है। अतः निःसन्देह अपने मूर्त रूप में राज्य व प्रभुसत्ता पर्यायवाची है। प्रभुसत्ता प्राधिकार का सर्वोच्च शिखर है। जिसके माध्यम से राज्य की रचना होती है और वह बना रहता है।

सम्प्रभुता ही राज्य को समाज के अन्य समुदायों यथा सामाजिक, आर्थिक,धार्मिक, सांस्कृतिक ,व्यावसायिक आदि से पृथक करती है। लास्की के शब्दों में ‘‘सम्प्रभुता के कारण ही राज्य अन्य सभी प्रकार के समुदायों से भिन्न है।’’इससे स्पष्ट है कि सम्प्रभुता राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भौतिक तत्व है। इसलिए विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय हमारे लिए सम्प्रभुता का

विस्तृत और सुस्पष्ट अध्ययन आवष्यक हो जाता है। यह राज्य का मूल आधार है अतः हम सम्प्रभुता के माध्यम से राज्य और राज्य के माध्यम से राजनीतिक सिद्धान्त से भली भॉति परिचित हो सकते हैं जो हमारे अध्ययन विषय का मूल उद्देष्य है।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य सम्प्रभुता के बारे में जानकारी प्राप्त करना है। इसका अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेगें कि:

1.राज्य के चार आवश्यक तत्वों - जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार और सम्प्रभुता में सबसे महत्वपूर्ण आवश्यक तत्व कौन है .

2.सम्प्रभुता का अस्तित्व राज्य में क्यों आवश्यक है .

3.इस अवधारणा का विकास कैसे हुआ.

4.सम्प्रभुता के लक्षण क्या है .

5.इसके विविध रूप कौन-कौन से है .

6.राज्य में इसका निवास कहा है .

9.2 सम्प्रभुता का अर्थ

सम्प्रभुता शब्द आंग्ल भाषा के सावरनिटी शब्द का हिन्दी अनुवाद है । जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द सुपरएनस् ; से हुई है। जिसका अर्थ है 'सर्वोच्च शक्ति ; इस प्रकार समाज की सर्वोच्च शक्ति को ही सम्प्रभुता कहा जाता है अर्थात यह वह सत्ता है जिसके ऊपर अन्य कोई सत्ता नही होती है। प्रत्येक समाज में विभिन्न प्रकार के वर्ग, संस्थाएं,समुदाय तथा शक्तियां होती है। इन सब में जो सर्वोच्च शक्ति रखता है उसे ही सम्प्रभु सत्ताधारी कहा जाता है। वर्तमान समय में यह शक्ति आवष्यक रूप से राज्य के पास होती है। जिसके आधार पर वह अन्य समुदायों, संस्थाओं तथा सामान्य जनता से अपने आदेषों का पालन कराता है। राज्य की इच्छा (आदेश) कानून के रूप में व्यक्त होते है। यदि कोई इसका का उल्लघंन करता है तो राज्य उसे कठोर से कठोर दण्ड दे सकता है। इस सर्वोच्च सत्ता को ही सम्प्रभुता, राज्य की सर्वोच्च इच्छा, या कानून के रूप में सम्बोधित किया जाता है अर्थात ये तीनो शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं।

9.2.1 सम्प्रभुता की परिभाषाएं

जीन बोदां '' सम्प्रभुता नागरिक व प्रजाननों के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का कोई बन्धन नही होता है। ''

''ग्रोषियस -सम्प्रभुता उस व्यक्ति की सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कार्य किसी अन्य के अधीन नही होते और जिसकी इच्छा का उल्लंघन न किया जा सके। ''

''बर्गेष----सम्प्रभुता सभी व्यक्तियों तथा संस्थाओं पर मौलिक , निरंकुश तथा असीमित शक्ति है। ''

''ब्लैकस्टोन --सम्प्रभुता वह सर्वोच्च अनिवार्य व अनियन्त्रित सत्ता है जिसमें सर्वाच्च विधित शक्ति होती है।

जेलीनेक -'' सम्प्रभुता राज्य का गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या किसी बाहरी शक्ति के आदेषों से बाध्य नही है।''

''विलोबी--सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।''

''ड्यूग्वी --सम्प्रभुता राज्य की शासन शक्ति या आज्ञा देने की शक्ति है, वह राष्ट्र की इच्छा है जिसका संगठन राज्य के रूप में हुआ है उसे राज्य की सीमा के भीतर सब व्यक्तियों को आदेष देने का अधिकार है। ''

पोलॉक '' सम्प्रभुता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी है न किसी दूसरे के द्वारा दी गयी है न ही ऐसे नियम के अधीन है जिन्हे वह स्वंय बदल सके और न ही पृथ्वी पर किसी अन्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी है। ''

वुडरो विल्सन '' वह शक्ति जो सदा क्रियाशील रहकर कानून बनाती है और उनका पालन कराती है प्रभुसता कहलाती है।''

क्रेनेनवर्ग'' सम्प्रभुता राज्य का एक प्राकृतिक गुण है जिससे वह अपनी इच्छा दूसरों पर विना किसी शर्त के लागू कर सकता है। शासन की यही परिभाषा है, और यह राज्य का मौलिक तत्व है कि वह शासन करे। ''

लास्की '' सम्प्रभुता कानूनी तौर पर व्यक्तियों तथा समूहों पर सर्वोच्च होती है और उसके पास सर्वोच्च बाध्यकारी शक्ति होती है। ''

इस प्रकार कहा जा सकता है कि राज्य की सर्वषक्तिमान,सर्वव्यापक,असीमित तथा अविभाज्य शक्ति है। इसलिए इस पर आन्तरिक तथा वाह्य दोनो क्षेत्रों में कोई नियत्रण या कानूनी बन्धन नही होता है।

9.2.2 संम्प्रभुता का विकास

सम्प्रभुता अपने वर्तमान स्वरूप में आधुनिक युग की एक प्रमुख राजनीतिक अवधारणा है परन्तु इसके विकास का एक लम्बा इतिहास रहा है। प्राचीन काल से लेकर अबतक प्रायः सभी विचारकों ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध में अपने मत प्रकट कियें है। यद्यपि प्राचीन काल के विद्वान सम्प्रभुता के विचार से पूर्णपरिचित नही थे तथापि राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू के द्वारा अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स' में राज्य के लिए एक सर्वोच्च शक्ति की आवष्यकता महसूस की गयी थी। प्राचीन रोमन विचारकों ने भी अपने विचारों में एक सर्वोच्च सत्ता का उल्लेख किया है। जिसे 'समा पोटेस्टास' अर्थात सर्वोच्च सत्ता और 'प्लेनीच्यूडो पोटेस्टैटिस' अर्थात 'सम्पूर्ण सत्ता' कहा जाता था। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन रोमन विचारक सम्प्रभुता के आधुनिक विचार के काफी निकट पहुँच चुके थे। गैटिल के शब्दों में ''रोमन वकीलो ने राज्य की शक्ति की पूर्णता को व्यक्त किया था।''

मध्य युग जिसे कई बार 'अंधेरा युग' भी कहा जाता है, में सम्प्रभुता का विचार षिथिल पड़ गया। अर्थात कहा जा सकता है कि इस युग में सम्प्रभुता सम्बन्धी रोमन सामा्रज्य की उपलब्धियां धूल धूसित हो गयी। फिगिस ने लिखा है कि '' आधुनिक अर्थ में राज्य प्रभुनाम की कोई वस्तु मध्य युग में नही थी।'' मध्य युग में सम्प्रभुता के विकास में कई कठिनाइयॉ थी। इस युग को धर्म युग की भी संज्ञा दी जाते है। जिसमें सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्थापर धर्म का प्रभाव स्वीकार कर लिया गया था। राजषाही , पोपषाही ,तथा सामन्तवाद ने सम्प्रभुता के रथ को आगे बढ़ने से रोक दिया था। जिसके प्रतिक्रिया स्वरूप 12वीं शताब्दी में सम्प्रभुता के आधुनिक धारणा का उदय हुआ। जिसका अस्पष्ट रूप से ही सही सर्वप्रथम दर्षन इटली के प्रसिद्ध विज्ञान मैकियावेली के विचारों में होता है।

सम्प्रभुता की आधुनिक संकल्पना सर्वप्रथम जीन बोंदा की पुस्तक Six Books on The Republic में देखने को मिलती है। इसे व्यक्त करते हुए उसने लिखा कि '' सम्प्रभुता नागरिक व प्रजाननों के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का कोई बन्धन नही होता है।'' इस प्रकार बोंदा ही आधुनिक सम्प्रभुता के सिद्धान्त का जनक कहा जाता है। बोंदा ने सम्प्रभुता को कानूनी दृष्टि से सर्वोच्च मानते हुए भी उस पर प्राकृतिक कानून, ईष्वरीय कानून, सां विधानिक कानून और व्यक्तिगत सम्पति की सीमाएं आरोपित कर दी जिससे सम्प्रभुता की सर्वोच्चता बाधित हो गयी। ग्रोषियस सम्प्रभुता के वाह्य पक्ष का निरूपण करते हुए सभी राष्ट्रों को स्वतन्त्र तथा समस्तरी बतलाया परन्तु उन्होने भी उस पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सीमा आरोपित कर दी।

सम्प्रभुता का स्पष्ट, तर्क संगत और वैज्ञानिक विष्लेषण करने का श्रेय इग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्षनिक थामस हॉब्स को दिया जाता है। उनके अनुसार सम्प्रभुता सामाजिक संविदा का सृजन है। जिसके माध्यम से लोगों ने अपने समस्त अधिकार उस व्यक्ति या सभा को सौंप दिया। जिसे लोंगो के द्वारा अपने जीवन रक्षा का दायित्व सौपा गया। यह सम्प्रभुता निरकुंष, असीमित तथा अमर्यादित है। किन्तु वह भी जीवन को संकट उत्पन्न होने की स्थिति में सम्प्रभुता पर 'आत्म रक्षा' का प्रतिबन्ध आरोपित करता है। वह इस सम्बन्ध में कहता है कि यदि राजा किसी को अन्न, जल, वायु तथा औषधि ग्रहण करने से रोकता है तो उस स्थिति में व्यक्ति राज्याज्ञा का उल्लंधन कर सकता है क्योंकि इससे व्यक्ति के जीवन को सकंट उत्पन्न हो जाता है।

हाब्स के बाद लॉक ने इग्लैण्ड के 1288 की गौरव पूर्ण क्रान्ति केा उचित ठहराने के लिए संवैधानिक सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा राज्य और राजा के सम्प्रभुता को अमान्य करार दिया। तत्पष्चात जीन जैक्स रूसों ने लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इसे आधुनिक प्रजातात्रिंक स्वरूप प्रदान किया। उसने हॉब्स तथा लॉक के विचारों में सुन्दर समन्वय स्थापित करते हुए एक तरफ सम्प्रभुता को निंरकुष , अविभाज्य , अपरित्याज्य बताया तो दूसरी ओर लोकहितकारी स्वरूप प्रदान करते हुए जनता में निहित कर दिया। उसके अनुसार सम्प्रभुता का निवास सामान्य इच्छा में होता है। रूसों के बाद बेंथम ने सम्प्रभुता का उल्लेख कानून बनाने वाली सर्वोच्च सत्ता के रूप में किया और बताया कि कानून का स्रोत प्राकृतिक नियम आदि नही है बल्कि सम्प्रभुता है।

आधुनिक सम्प्रभुता के अवधारणा के विकास में फ्रांसिसी राज्य क्रान्ति मील का पत्थर साबित हुई। इस क्रान्ति ने सम्प्रभुता के निरपेक्षता और निरंकुष्ता का समर्थन इस आधार पर किया कि सम्प्रभु शक्ति जनता में निहित है। अतः इसे प्रतिबंधित करने की आवष्यकता नही है। दुनिया के नवोदित राष्ट्रीय राज्यों ने भी आन्तरिक तथा वाह्य दोनो प्रकार के समग्र सम्प्रभुता का दावा किया। औद्योगिक क्रान्ति तथा लोक कल्याणकारी राज्य के विचार ने राज्य के कार्य क्षेत्र में आषातीत वृद्धि की। जिससे निरपेक्ष सम्प्रभुता की धारणा प्रबल हुई। जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटीश संसद को सम्प्रभुता प्राप्त हुई जो असीमित है।

14वीं एंव 19वीं शताब्दी में सम्प्रभुता को बलशाली समर्थक मिले। इनमें आदर्शवादी हीगल, ग्रीन व बोसांके का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। हीगल ने राज्य को विश्वात्मा का सर्वोत्तम रूप माना। हीगल का कथन है कि ''राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है।'' उन्होने व्यक्ति को पूर्णतः राज्य के अधीन कर दिया। आगे वह कहते कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि वह राज्य के कानूनों का अक्षरसः पालन करे। राज्य आन्तरिक और वाह्य दोनो रूपों में सर्वोच्च होता हैं। इसलिए हीगल ने राज्यको युद्ध करने का पूर्ण अधिकार दिया और बताया कि जिस प्रकार समुद्र में शान्ति के

समय इकट्ठा गन्दगी तुफान आने पर समाप्त हो जाती है ठीक उसी प्रकार समाज की गन्दगी युद्धों के समय समाप्त हो जाती है। इस प्रकार हीगल की सम्प्रभुता निरपेक्ष एवं असीम थी उसपर नैतिकता एंव अर्न्तराष्ट्रीय कानून का भी कोई नियंत्रण नही था। ग्रीन और बोसाके ने भी दार्षनिक आधारों पर राज्य के सर्वोच्च सत्ता का समर्थन किया।

ऑस्टिन ने अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स आन जुरिसप्रुडेंस ' 1432 में सम्प्रभुता को आधुनिक गुणो से सम्पन्न किया। जिसे सम्प्रभुता का अद्वैतवादी, एकल या कानूनी सिद्धान्त कहा जाता है। ऑस्टिन के विचारों ने सम्प्रभुता को सर्वोच्च षिखर पर पहुँच दिया। क्योंकि उन्होने सम्प्रभुता को निरपेक्ष, असीमित, असंक्राम्य और अखण्ड माना।

20वीं सदी के प्रारम्भ से ही राज्य के सर्वोच्च शक्ति अर्थात सम्प्रभुता के विरूद्ध आवाजे उठने लगी। एक तरफ अराजकतावादियों ने इसे व्यर्थ घोषित किया तो दूसरी ओर बहुलवादियों ने इसे मानव समुदाय के लिए अहितकर माना। उनका तर्क था कि सम्प्रभुता निरकुषंता का प्रतीक है , युद्ध को प्रोत्साहन देती है तथा विष्वषान्ति का शत्रु है। इसलिए सम्प्रभु शक्ति को समाज के विभिन्न समुदायों व संस्थाओं में विभाजित करने का इन लोगों ने प्रबल पक्षपोषण किया।

9.2.3संम्प्रभुता के पहलू

उपरोक्त विष्लेषण के आधार पर सम्प्रभुता के दो प्रमुख पहलू दृष्टिगोचर होते है:

9.2.3.1 आन्तरिक सम्प्रभुता

आन्तरिक सम्प्रभुता का आषय है कि राज्य अपनी सीमाओं के भीतर व्यक्तियों, समुदायों, संस्थाओं, वर्गो, दलो आदि से श्रेष्ठ है अर्थात इन्हे राज्य के कानून और आदेषों के अधीन कार्य करना पड़ता है। राजाज्ञा का उल्लंघन करने पर राज्य सत्ता द्वारा कोई भी दण्ड दिया जा सकता हैं। कोई भी राज्य से अधिक श्रेष्ठता अर्थात इसके प्रति निरापदता का दावा नही कर सकता है। इनके ऊपर राज्य की शक्ति मौलिक, सार्वभौम, असीमित और पूर्णतः व्यापक होती है। लास्की ने आन्तरिक सम्प्रभुता की व्याख्या करते हुए कहा है कि ''राज्य अपने क्षेत्र के अर्न्तगत सभी मनुष्यो तथा समुदायों को आज्ञा प्रदान करता है और स्वयं उनमें से किसी की भी आज्ञा नही मानता है। उसकी इच्छा पर किसी प्रकार का कानूनी बन्धन नही है। किसी विषय में केवल अपनी इच्छा के अभिव्यक्ति मात्र से ही उसे वह सब अधिकार मिल जाता है जिसे वह करना चाहता है।''

9.2.3.2 वाह्य सम्प्रभुता

वाह्य सम्प्रभुता का आषय है कि राष्ट्र मण्डलो के बीच प्रत्येक राज्य सर्वोच्च होता है और वह अपनी इच्छानुसार दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध रखने के लिए स्वतन्त्र होता है। कोई अन्य राज्य या अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किसी राज्य से श्रेष्ठ होने का दावा नही कर सकता है। राज्य कतिपय सन्धियो अथवा वचनवद्धताओं के अधीन हो सकता है। परन्तु ये स्वतः प्रसूत होती हैं। इसलिए उनसे उनकी सम्प्रभुता पर कोई असर नही पड़ता है। कोई भी राज्य के ऊपर ऐसी बाध्यता लागू नही कर सकता है या विवष नही कर सकता जो उसे स्वीकार्य न हो।

9.2.4 सम्प्रभुता के लक्षण

विभिन्न परिभाषाओं का विष्लेषण करने से सम्प्रभुता की निम्नलिखित विषेषताएं परिलक्षित होती है:

9.2.4.1 निरंकुशता

इसका अर्थ है कि सम्प्रभुता सर्वोच्च,सम्पूर्ण,निरंकुश तथा असीमित होती है। इसकी असीमितता के दो पहलू है - आन्तरिक और वाह्य । आन्तरिक क्षेत्र में राज्य की सत्ता सर्वोपरि और पूर्ण रूप से अमर्यादित है। इसलिए राज्य आन्तरिक क्षेत्र के लिए कोई भी कानून बना सकता है किसी भी कानून को बदल सकता है तथा उनका पालन न करने वालों को कोई भी दण्ड से सकता है। वाह्य दृष्टि से भी प्रभुसत्ता स्वतन्त्र होती है। इसलिए वह विदेश नीति का निर्धारण स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है। युद्ध व सन्धि के सम्बन्ध में भी उसका निर्णय अन्तिम होता है। न तो कोई दूसरा राज्य और न ही कोई अर्न्तराष्ट्रीय संगठन इस सन्दर्भ में कोई दबाव डाल सकता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्प्रभुता असीम व निरंकुशता होती है लेकिन व्यवहार में परम्पराएं, रीति-रीवाज, जनमत, नैतिक व प्राकृतिक नियम तथा अर्न्तराष्ट्रीय कानून सम्प्रभुता पर प्रतिबन्ध आरोपित. करते है । ब्लन्त्श्ली का कथन है कि ‘‘ संसार में पूर्ण स्वतन्त्रता जैसी कोई वस्तु नही है यहॉ तक कि राज्य भी सर्वषक्तिमान नही है क्योंकि वाह्य रूप से यह दूसरे राज्यों के अधिकारों से सीमित है और अन्दर से स्वंय अपने स्वभाव और सदस्यों के अधिकारों द्वारा मर्यादित है।

9.2.4.2 सर्वव्यापकता

सर्वव्यापकता का आषय है कि राज्य अपने निष्चित भौगोलिक सीमा के अर्न्तगतसभी व्यक्तियों ,संस्थाओं ,संघो ,तथा अन्य व्यवस्थाओं पर अपना पूर्ण अधिकार रखता है। उस सीमा में रहने वाले सभी लोग राज्य निर्मित कानून को मानने के बाध्य होते है। सम्प्रभुता से मुक्त होने का दावा कोई भी नही कर सकता है। लेकिन इसके अपवाद स्वरूप गिलक्राइस्ट ने ‘ राज्येत्तर सम्प्रभुता के सिद्धान्त की

तरफ संकेत किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी राज्य में जो दूसरे राज्यों के राजदूत व दूतावास होते हैं। उन पर उसी राज्य के कानून व सम्प्रभुता लागू होती है जिस राज्य के वे होते है।

9.2.4.3 अदेयता

सम्प्रभुता सदैव राज्य से संलिप्त रहती है। अतः राज्य इसे किसी दूसरे को नही दे सकता है। इसे दूसरे को देने का अर्थ है कि राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। अर्थात राज्य आत्महत्या की कीमत पर ही इसे किसी दूसरे को दे सकता है। लाइबर के शब्दो में '' जैसे एक बृक्ष अपने उगने, पनपने, और फल ने फूल ने के अधिकार को नही छोड़ सकता है अथवा एक व्यक्ति विना अपना विनाष किए अपने जीवन व व्यक्तित्व को अपने से अलग नही कर सकता है ठीक उसी प्रकार राज्य से सम्प्रभुता को अलग नही किया जा सकता है।

9.2.4.4 स्थायित्व

जिस प्रकार राज्य स्थायी होता है उसी प्रकार सम्प्रभुता भी स्थायी होती है। जबतक राज्य कायम रहेगा तबतक सम्प्रभुता भी कायम रहेगी। सम्प्रभुता का अन्त राज्य का अन्त होगा। कई बार यह मान लिया जाता है कि राज्य में एक शासन या सरकार का अन्त होने या शासक की मृत्यु होने पर सम्प्रभुता का अन्त हो जाता है लेकिन यह एक भ्रम मात्र है। ब्रिटेन के बारे में यह कहावत प्रसिद्ध है कि '' राजा मृत है राजा चिंरजीवी हो।'' इसका भाव यह है कि राजा की मृत्यु से भी राजपद (सम्प्रभुता) का अन्त नही होता है।

9.2.4.5 अविभाज्यता

सम्प्रभुता पूर्ण होती है इसलिए इसे विभाजित भी नही किया जा सकता है। सके विभाजन का अर्थ होगा एक से अधिक राज्यों का निर्माण करना। उदाहरण स्वरूप 1971 ई0 के भारत-पाक युद्ध द्वारा पाकिस्तानी सत्ता दो टुकडों में विभाजित हो गयी जिससे एक नये राज्य बांग्लादेष का सृजन हुआ। कालहन ने लिखा है कि '' सम्प्रभुता एक या सम्रग वस्तु है उसके विभाजन का अर्थ उसे नष्ट करना होगा वह राज्य में सर्वोत्तम सत्ता है और आधी सम्प्रभुता कहना उतना ही असंगत है जितना आधा वर्ग या आधा त्रिभुज कहना।

9.2.4.6 मौलिकता

मौलिकता का अर्थ है सम्प्रभुता अपनी स्थिति का आधार स्वयं होती है। उसे न तो किसी ने पैदा किया है न तो बनाया है। बल्कि यह राज्य में जन्मजात होती है। अगर यह मान लिया जाय कि सम्प्रभुता राज्य को किसी द्वारा दी गयी है तो ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना होगा कि उसे देने वाला उसे

वापस ले सकता है। जिस प्रकार किसी अमानत को रखने वाला उसका स्वामी नहीं होता उसी प्रकार किसी द्वारा प्रदत्त शक्ति सम्प्रभु नही हो सकती है।

अभ्यास प्रश्न 1

निर्देश -

नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

अ . इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1.''सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।'' यह कथन है-

(क) वर्गेष (ख) ऑस्टिन (ग) बिलोवी (घ) बोदां

2. सम्प्रभुता के आन्तरिक तथा वाहय दो पक्ष माने जाते है- सत्य है / असत्य है।

3.राज्य के सम्प्रभुता का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया है ?

4.सम्प्रभुता एक आवश्यक लक्षण है-

(क) सरकार का (ख) राज्य का (ग) समाज का (घ) समुदाय का

9.2.5 सम्प्रभुता के विविध रूप

सम्प्रभुता के रूपों को लेकर राजनीति विज्ञान के विद्वानो में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलता है । इस मतवैभिन्यता का आधार सम्प्रभुता की प्रकृति व उसका केन्द्र विन्दु रहा है। सम्प्रभुता का वास्तव में केवल एक ही रूप हो सकता हे। जिसे राज्य शक्ति कहा जाता है।

मैकाइबर ने कहा है कि '' जिन लोगो ने राज्य की सम्प्रभुता को लेकर शब्दो का भ्रमजाल रखा उनके उद्देष्य पवित्र नही है बल्कि वे केवल आदर्शवादी प्रचारक है।'' इस सन्दर्भ में भ्रम को दूर करने के लिए सम्प्रभुता के कुछ प्रचलित रूपों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है।

9.2.5.1 नाममात्र की सम्प्रभुता और वास्तविक सम्प्रभुता

नाममात्र और वास्तविक सम्प्रभुता का अन्तर प्रायः संसदीय शासन व्यवस्थाओं में देखने में मिलता है। जहॉ संविधान सारी शक्तियां नाममात्र के सम्प्रभु (औपचारिक सम्प्रभु) को देता है। जबकि व्यवहार में उन शक्तियों का प्रयोग वह नही बल्कि वास्तविक सम्प्रभु करता है। इस व्यवस्था का विकास सर्वप्रथम ब्रिटीश शासन व्यवस्था में हुआ जहॉ सम्राट सम्पूर्ण सत्ता का वाहक होता है किन्तु लोकतन्त्र

के विकास के साथ-साथ उसकी सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग जनता के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाने लगा है। इस प्रकार वहां यह देखने को मिलता है कि आज भी ब्रिटीष शासन में सारी शक्तियों को स्रोत सिद्धान्तः सम्राट ही है किन्तु व्यवहार में इन सारी शक्तियों का प्रयोग ब्रिटीष प्रधानमन्त्री, मंत्रिमण्डल व संसद द्वारा किया जाता है और वह केवल नाममात्र का सम्प्रभु रह गया जबकि वास्तविक सम्प्रभु मत्रिमण्डल व संसद है। यह अन्तर भारतीय शासन में भी देखने को मिलता है जहॉ सविधान सारी शक्तियां राष्ट्रपति को देता है जैसा कि संविधान के अनु0 53 में कहा गया है कि संघ की समस्त कार्यपालिका शक्तियां राष्ट्रपति में निहित है। जिसका प्रयोग वह स्वंय या अपने अधीनस्थों के माध्यम से करेगा। लेकिन व्यवहार में इन सभी शक्तियों का प्रयोग भारतीय प्रधानमन्त्री व उसका मंन्त्रीमण्डल ही करता है। इस प्रकार राष्ट्रपति नाममात्र का सम्प्रभु है जबकि और प्रधानमन्त्री सहित मन्त्रिमण्डल वास्तविक सम्प्रभु है।

9.2.5.2 विधिक व राजनीतिक सम्प्रभुता

विधिक सम्प्रभुता एक सवैधानिक संकल्पना है जिसका आषय है कि बैधानिक सम्प्रभु को कानून बनाने की सर्वोच्च शक्ति प्राप्त है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसके आदेश ही कानून है अर्थात राज्य के सभी कानून उसी के द्वारा निर्मित किये जाते है। इस प्रकार कानूनों का निर्माण करने वाली सत्ता ही कानूनी सम्प्रभु कहलाती है। विधिक सम्प्रभु का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ब्रिटीष संसद है जो किसी भी विषय पर कोई कानून बना सकती है। इसलिए कहा जाता है कि ब्रिटीष संसद ब्रिटेन में केवल स्त्री को पुरूष और पुरूष को स्त्री बनाने के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य कर सकती है यद्यपि कानूनी तौर पर वह इसे भी कर सकती है। इस प्रकार विधिक सम्प्रभु की शक्ति निरपेक्ष ,असीमित, तथा अप्रतिबन्धित होती है। इसके विपरीत राजनीतिक सम्प्रभुता की संकल्पना अस्पष्ट और भ्रमित करने वाली है। इस सन्दर्भ में कहा जाता है कि प्रत्येक विधिक सम्प्रभु के पीछे एक राजनीतिक सम्प्रभु होता है। जिसके समक्ष समय-समय पर विधिक सम्प्रभु को झुकना पड़ता है। डायसी ने लिखा है कि ''जिस सम्प्रभुता को वकील लोग स्वीकार करते है उसके पीछे एक दूसरा सम्प्रभु रहता है। जिसके समक्ष बैधानिक सम्प्रभु को सिर झुकाना पड़ता है।

राजनीतिक सम्प्रभुता निर्वाचक मण्डल या मतदाताओ में अवस्थित होती है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में जहॉ जनता स्वयं शासन संचालन करती है वहॉ विधिक और राजनीतिक सम्प्रभु का अन्तर धुंधला होता है लेकिन अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (प्रतिनिध्यात्मक शासन) में जहॉ शासन कार्य जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि करते है वहॉ राजनीतिक सम्प्रभुता मतदाताओं में निहित होती है। जिसका दर्षन नियमित अन्तराल के बाद होने वाले चुनावों में होता है। जिससे सरकारों का निर्माण होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चुनाव ही वह श्रेष्ठ तरीका है जिसमें राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा व्यक्त होती है।

9.2.5.3 विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता

सामान्य रूप से विधितः और वस्तुतः सम्प्रभुता एक ही होती है क्योंकि प्रायः सत्ता प्राप्त व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह कानून द्वारा मान्यता प्राप्त या स्थापित होता है। इन दोनो के मध्य अन्तर आपातकालीन स्थितियों में उत्पन्न होता है। विधितः सम्प्रभु वह होता है जो राज्य के संविधान, सुस्थापित कानून व परम्पराओं के अनुरूप पद पर आसीन होता है। इसलिए उसके पास आदेष देने तथा उसका पालन कराने का वैध अधिकार होता है। जबकि वस्तुतः सम्प्रभु वह होता है जो राज्य के सर्वोच्च पद पर गैर कानूनी अथवा असंवैधानिक ढंग से आसीन हो जाता है तत्पष्चात अपनी इच्छा को बल पूर्वक राज्य के सभी लोगों पर लागू करने लगता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बैधानिक सम्प्रभुता का आधार कानून होता है। जबकि वास्तविक सम्प्रभुता का आधार शक्ति होती है। वह अपने शक्ति के बल पर जनता से अपनी आज्ञाओं का पालन करवाती है। भले ही उसे शासन करने या आज्ञा पालन कराने का कानूनी अधिकार नही है। इतिहास में ऐसे कई उदाहरण देखने को मिलते है जहॉ कानूनी सम्प्रभु को अपदस्थ कर कोई व्यक्ति या समुदाय सत्ता हथिया लेता है। जैसे रूस में बोल्षेविकों द्वारा जार को अपदस्थ कर लेनिन के नेतृत्व में सत्ता पर नियत्रंण कर लिया गया। इस तरह विधितः सम्प्रभु जार थे जबकि वस्तुतः सम्प्रभुता लेनिन के हाथों में आ गयी। लेकिन यही सम्प्रभुता जब दीर्घकाल तक बनी रह जाती है तो धीरे-धीरे वह जन सहमति प्राप्त कर वैधानिक बन जाती है। क्योंकि कोई भी सम्प्रभु केवल शक्ति के आधार पर अधिक दिनों तक अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल नही हो सकता है।

9.2.5.4 लौकिक सम्प्रभुता

लौकिक सम्प्रभुता का आषय है कि शासन की अन्तिम और सर्वोच्च शक्ति का स्रोत एंव स्वामिनी जनता ही है। आधुनिक लोकतन्त्र की धारणा लोकप्रिय सम्प्रभुता पर ही आधारित है। इसकी आवाज सर्वप्रथम कौंसिलियर आन्दोलन के समर्थको ने पन्द्रहवीं शताब्दी में चर्च की शक्ति के खिलाफ उठायी लेकिन आधुनिक युग में इसे इसे सर्वप्रथम स्थापित करने श्रेय संविदावादी विचारक जीन जैक्स रूसों को दिया जाता है। जिन्होने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इसका प्रबल पक्षपोषण किया। रूसो के अनुसार कोई भी प्रषासक अपनी इच्छा को आज्ञप्ति के रूप मे व्यक्त तो कर सकता है परन्तु कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होता है। लोकप्रिय सम्प्रभुतां लोकमत की शक्ति में सार्थक होती है। चूंकि शासक वर्ग को निष्चित अन्तराल के बाद फिर से सर्वसाधारण का विष्वास प्राप्त करने के लिए चुनाव का सामना करना पड़ता है अतः वह लोकमत की उपेक्षा नही कर सकता है। लोकप्रिय सम्प्रभुता की मूल मान्यता यह है कि शासक वर्ग के द्वारा शासन कार्य सदैव

जनहित को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए क्योंकि उसका अस्तित्व तभी तक बना रहेगा जबतक उसे जनसामान्य के बहुमत का समर्थन (विश्वास) हासिल है। गिलक्राइस्ट के अनुसार '' लोकप्रिय सम्प्रभुता सामान्यतया किसी व्यक्तिगत शासक या वर्ग की अपेक्षा लोगों की शक्ति है। ''
यह लोकप्रिय सम्प्रभुता की धारणा ही आगे चलकर अमेरिकी और फ्रासीसी क्रान्ति का आधार बनी। अमेरिका के स्वतन्त्रता आन्दोलन में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया था कि प्रत्येक मानव जन्म से ही समान रूप से जीवन, स्वतन्त्रता और प्रसन्नता प्राप्त करने का अधिकारी होता है।फ्रासिसी क्रान्ति में घोषित किया गया कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से स्वतन्त्रता और अधिकार में समान हैं यदि किसी राजनीतिक व्यवस्था के द्वारा स्वाधीनता, सुरक्षा और सम्पति का दमन किया जाता है तो राजनीतिक संगठन का यह दायित्व होता है कि वह संगठित रूप से उसका विरोध करे।

लोकप्रिय सम्प्रभुता का विचार भले ही लोकलुभावना तथा जनसम्मान से ओत-प्रोत प्रतीत हो किन्तु इसका अर्थ अनिष्चितता से आच्छादित है अर्थात इसकी व्याख्या करना दुष्कर हो गया है। यद्यपि यह कहनाअच्छा लगता है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का मूल आधार जनता है।इसलिए शासन उसकी इच्छा के अनुरूप ही होना चाहिए परन्तु यहॉ प्रष्न उठता है कि जनता का अर्थ क्या है। गार्नर लिखते है कि जनता के दो अर्थ है- प्रथम राज्य में रहनेवाला सम्पूर्ण असंगठित तथा अनिष्चित जन समुदाय जिसमें बच्चे ,बूढ़े ,अपराधी, दिवालिया, तथा विदेषी आदि सम्मिलित है जिनका राजनीतिक व्यवस्था के सचालन में कोई योगदान नही है। यदि वे जनता के द्योतक है तो कुल मिलाकर इस धारणा का कोई अर्थ नही है। द्वितीय निर्वाचक मण्डल अर्थात जनता का केवल वह भाग जिसे वयस्क मताधिकार प्राप्त है किन्तु इन्हें भी जनता नही कहा जा सकता क्योकि किसी भी राज्य में मतदाताओं की संख्या कुल जनसख्यां से काफी कम होती है। इसके अतिरिक्त चुवान वहुमत के आधार पर होता है जो सम्पूर्ण जनता का अल्पमत हो सकता है। जिसे वैधानिक दृष्टि से सम्प्रभु नही कहा जा सकता है। सत्य तो यह है कि वर्तमान असमानता पूर्ण समाज में सम्प्रभुता कुछ साधन सम्पन्न लोगो के हाथ की कठपुतली मात्र बनकर रह गयी है।

डा0 आशीर्वादम के अनुसार लोकप्रिय सम्प्रभुता का अपना कुछ विषेष गुण होता है जिसका उल्लेख निम्नरूपों में किया सकता है:

(१) शासन शासक वर्ग का हित करने वाला नही बल्कि अनिवार्य रूप से जनता के हितों की साधना करने वाला होना चाहिए।

(२) यदि शासक जान बूझकर जनता की इच्छाओं का दमन करता है तो जन क्रान्ति की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

(३) जनमत की अभिव्यक्ति सरल वैधानिक साधनो के माध्यम से होनी चाहिए।

(४) सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाये रखने हेतु समयानुसार चुनाव ,स्थानीय स्वायत शासन , लोकनिर्णय, आरम्भक ,प्रत्याह्वान आदि की व्यवस्था सुनिष्चित की जाय।

(५) शासन के द्वारा अपनी शक्तियों का प्रयोग सविधांन के अनुरूप किया जाय स्वेच्छाचारी ढंग से नही।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि लौकिक सम्प्रभुता की धारणा सम्प्रभुता का आधार जनता की शक्ति को मानती है। इस विचारधारा ने प्राचीन निंरकुष राजतन्त्रों की चूले तो हिला दी किन्तु राजतन्त्र के खात्में के बाद यह सिद्धान्त मार्ग भटक गया और आज यह अस्पष्टता के गर्त में धसा पड़ा है। वर्तमान में लौकिक सम्प्रभुता की धारणा भले ही भ्रम उत्पन्न करने वाली प्रतीत हो किन्तु इसकी लोकप्रियता को नजरअदांज नही किया सकता। इसकी सवसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह शासन का आधार जनता या जनसहमति को मानती है। यह राज्य के अस्तित्व को जनहित में स्वीकार करती है। यदि कोई राज्य अपने जनता के हितो की लगातार अवहेलना करता है तो शासन के विरूद्ध क्रान्ति का सम्भावना बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त इस तथ्य को भी उजागर करता है कि सरकार को अपनी शक्ति का प्रयोग वैध कानूनों के आधार पर ही करना चाहिए मनमाने तरीके से नही।

अभ्यास प्रश्न 2

नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

अ. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1. लौकिक सम्प्रभुता की अवधारणा का प्रतिपादन किसने किया है ? .

.....
.....

2. सम्प्रभुता का निवास अन्तिम रूप से कहॉ होता है ?

.....
.....

3. कानूनी सम्प्रभु को प्रायः किसके आगे झुकना पड़ता है-

(क) राजनैतिक सम्प्रभुता (ख) लौकिक सम्प्रभुता (ग) समूह (घ) संघ

9.2.6 सम्प्रभुता का अधिवास

सम्प्रभुता के अधिवास की खोज राजनीति विज्ञान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्न है। सम्प्रभुता के अधिवास का अर्थ है कि यह राज्य में कहा निवास करती है अर्थात राज्य में कौन व्यक्ति या समूह राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इस सन्दर्भ में विद्वानों ने अलग-अलग विचार व्यक्त किये है अर्थात अलग-अलग केन्द्र विन्दु बतलाये है जिनका उल्लेख प्रमुख रूप से निम्न रूपों में किया जा सकता है:

9.2.6 1 सम्प्रभुता का अधिवास राज्य में है।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त का उदय सोलहवी शताव्दी में हुआ तब यह कहा गया कि सम्प्रभुता राजा का गुण है। इसलिए उस समय तक उसके निवास स्थान के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नही था। उस समय फ्रांस के न्यायविदों ने फ्रांस के राजा को ही फ्रांस का सम्प्रभु कहा। सम्प्रभुता को राजा का गुण समझना उचित भी था क्योंकि उस समय राजा ही समस्त शक्तियों का स्रोत था। फ्रांस का शासक लुई चौदहवां कहता था कि मै ही राज्य हूॅ मै ही शासक हूॅ। इसी कारण उस समय कहा गया कि राजा नागरिक तथा प्रजाजनों के ऊपर परम शक्ति है जो विधि द्वारा मर्यादित नही है।

9.2.6 2 सम्प्रभुता का अधिवास जनता मे है:

लोकतन्त्रवादी विचारको का मानना है कि सम्प्रभुता का निवास जनता में होता है। सर्वप्रथम इस विचार का पक्षपोषण रोमन विचारक सिसरों के द्वारा किया गया किन्तु तत्कालीन प्रवृतियों के अनुकूल न होने के कारण उसके विचार को अस्वीकार कर दिया गया । तदुपरान्त इस विचार का प्रतिपादन लॉक एंव रूसों ने किया कि शासन जनसहमति पर आधारित होता है तथा सम्प्रभुता जनता में निहित होती है। वर्तमान में यह धारणा अत्यन्त लोकप्रिय है किन्तु यह कहने में कि जनता सम्प्रभु है सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि स्वंय जनता शब्द का अर्थ ही अस्पष्ट है। कुछ लोग जनता का अर्थ समस्त जनसमूह अर्थात बच्चे ,बूढे और नौजवान से लगाते है तो कुछ लोग केवल निर्वाचको या मतदाताओं को इसमें शामिल करने की वकालत करते है।

9.2.6 3 सविधान बनाने तथा उसमें संशोधन करने वाली संस्था में है

इस धारणा के प्रतिपादको का मानना है कि सम्प्रभुता संविधान निर्मात्री संस्था में निहित होती है अर्थात संविधान का निर्माण और उसका संसोधन करने वाली सभा को ही सम्प्रभु कहा जा सकता है।कुछ राज्यों में तो व्यवस्थापिका सामान्य विधि वनाने की प्रक्रिया से ही संविधान में सशोधन कर सकती है जैसे- इग्लैण्ड,। लेकिन कुछ राज्यो में सविधान संशोधन हेतु विशेष प्रक्रिया अपनायी जाती है जैसे- अमेरिका। परन्तु इस सिद्धान्त की दो प्रमुख कठिनाइयां है। प्रथम संशो धनकारी सत्ता प्रायः सुषुप्तावस्था

में रहती है अर्थात यह केवल कभी-कभी क्रियासही ल होती है। जबकि सम्प्रभुता के सुषप्त मानना राज्य हित में नही है। द्वितीयतः यह विचार सम्प्रभुता की एक प्रमुख विशेषता निरकुंशता को भी ठेस पहुचाता है। क्योंकि संसोधनकारी शक्ति व्यवहारतः सरकार के नियन्त्रण में रहती है।

9.2.6 4 सम्प्रभुता का निवास विधि निर्माण करने वाली समस्त संस्थाओं के योग में है

इस दृष्टिकोण के समर्थको का मत है कि सम्प्रभुता का निवास विधि निर्मित करने वाली संस्थाओं में होता है। वुडरो विल्सन ने कहा है कि सम्प्रभुता विधि निर्मातृ संस्थाओं में निवास करती है। इसी बात का समर्थन करते हुए **गेटिल** ने लिखा है कि वे सभी संस्थाये जो राज्य के इच्छा की अभिव्यक्ति करती है सम्प्रभुता का प्रयोग कर रही है। इन संस्थाओ में विधानमण्डल, न्यायालय, कार्यपालिका अधिकारी, अधिवेशन व निर्वाचक शामिल किये जा सकते है। जहॉ अलिखित व लचीला संविधान होता है वहॉ विधानमण्डल निश्चित रूप से सम्प्रभु कहा जा सकता है जैसे ब्रिटेन में सम्राट सहित संसद कानूनी सम्प्रभु है लेकिन उन देशों में जहॉ संविधान लिखित एंव कठोर है उनके सम्बन्ध में यह बात नही कही जा सकती है। इसके अलावा जहॉ संघात्मक व्यवस्था का प्रावधान है। वहॉ भी विधि निर्माण की शक्ति केन्द्रीय तथा राज्य विधानमण्डल के बीच विभाजित होती है तथा दोनो की शक्तियां एक-दूसरे को नियन्त्रित करतीं है। इसलिए ऐसे राज्यों में विधानमण्डल को सम्प्रभु नही कहा जा सकता है। न्यायालयी आदेश भी विधि के रूप में प्रभाव रखते हैं। कार्यपालिका के अधिकारी अध्यादेष की घोषणा द्वारा विधि का निर्माण करते है। उदाहरण स्वरूप भारत में राष्ट्रपति को संज्ञ की सूची के विषयों तथा राज्यों के राज्यपालों को राज्य की सूची के विषय पर उस समय अध्यादेष के रूप में विधि की घोषणा करने का अधिकार दिया गया है। जबकि संसद या राज्य विधानमण्डल का अधिवेषन न चल रहा हो और राष्ट्र या राज्य हित में किसी कानून का बनाया जाना आवष्यक हो ये अध्यादेश छः महीने तक विधि के रूप में प्रभाव रखते है और यदि उसी अवधि में इन्हे संसद या विधानमण्डल के बहुमत की स्वीकृति प्राप्त हो जाय तो ये स्थायी विधि के रूप में स्थापित हो जाते है। निर्वाचक भी जब निर्वाचन या जनमत संग्रह द्वारा किसी विषय पर निर्णय करते है तो वे विधि निर्माण में सहायक होते है। इस प्रकार इस मत के समर्थको का कहना है कि सम्प्रभु शक्ति राज्य में निहित होती है तथा इसका प्रयोग सरकार द्वारा किया जाता है किन्तु यह धारणा सतोंषजनक नही है क्योकि सम्प्रभुता की धारणा की मूल मान्यता यह है कि इसकी इच्छा की अभिव्यक्ति ही विधि है । इसलिए वह विधि द्वारा अमर्यादित है।

इस प्रकार अन्ततः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण राज्य की आज्ञा में सम्प्रभुता समाहित होती है अर्थात सम्पूर्ण राज्य ही इसका निवास स्थान है। यदि इस प्रश्न का जबाब इससे आगे ढूढ़ने का प्रयास किया जाय तो हम पायेगे कि हम एक ऐसे भूल भुलैया में प्रवेश कर लेगे जिसमें से बाहर निकलना असम्भव नही तो कठिन अवश्य होगा।

9.3 सारांश

सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति होने के साथ-साथ उसके अस्तित्व का आधार भी है। अपने इसी शक्ति के आधार पर वह राज्य के लोगो के लिए कानून का निर्माण तथा उनका पालन सुनिष्चित करती है और उल्लंघन करने वालो को कठोर से कठोर दण्ड देती है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह भले ही निरंकुष, अमर्यादित व अदेय है लेकिन व्यवहार में उस पर अनेक नियन्त्रण व सीमाए होती है। इसके अतिरिक्त यह कुछ संघो के अलग-अलग व्यक्तित्व को भी स्वीकार करती है । वर्तमान युग प्रजातन्त्र व अर्न्तराष्ट्रीयता का युग है जिसमें सम्प्रभुता के उस रूप को स्वीकार नही किया जा सकता है जिस रूप में इसके प्राचीन समर्थको बोदां , हॉब्स , हीगल व ऑस्टिन ने स्वीकार किया है।

9.4 शब्दावली

संविधान - राज्य की मूल विधि जो राज्य और सरकार का आधार होती है।

सम्प्रभुता - राज्य को प्राप्त सर्वोच्च शक्ति जिसके कारण वह अपने आन्तरिक तथा वाह्य दोनो मामलों में पूर्णतः स्वतन्त्र होता है।

पोपशाही - जीवन के सभी पहलुओं पर धर्म अर्थात इसाईयत का प्रभाव स्थापित होना।

सामन्तवाद - ऐसा वर्ग जिसका अधिकांश पूंजी पर स्वामित्व हो।

लौकिक सम्प्रभुता - सम्प्रभुता जनता में निहित होती हैं।

अराजकतावाद - ऐसी विचार परम्परा जो राज्य के अस्तित्व का विरोध करती है।

विधितः - सम्प्रभुता प्रभुसत्ताधारी धारी के शक्ति का वैध आधार है।

वस्तुतः - किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा शक्ति का वास्तविक प्रयोग।

9.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. (ग) विलोबी 2. सत्य है 3. गिलक्राईस्ट 4. (ख) राज्य का

अभ्यास प्रश्न 2

1. रूसो 2. राज्य में 3. (क) राजनैतिक संप्रभुता के

9.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- ओ0पी0गाबा राजनीति सिद्धान्त का रूपरेखा मयूर पेपर वैक्स , नोयडा

2- एडी0 आशिर्वादम तथा कृष्णकान्त मिश्रा ,राजनीति विज्ञान,एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नयी

दिल्ली
3-एम0 पी0 जैन , आधुनिक राजनीति के सिद्धान्त , आथर्स गिल्ड पब्लिकेषन दिल्ली
4-ए0 अप्पादोराई आक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेस दिल्ली
5-डा0 एन0 डी0 अरोरा एंव ए0 के0 आनन्द, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त , साहित्य भवन आगरा
6-हैराल्ड जोसेफ लास्की , ए0 ग्रामर आफ पालिटिक्स

9.7 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1-ज्ञान सिंह सन्धु, राजनीतिक सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदशालय दिल्ली विष्वविद्यालय
2-जे0 सी0 जौहरी एंव सीमा जौहरी, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिकेषन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली
3-वीरकेष्वर प्रसाद, राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेषन नयी दिल्ली
4-डी0डी0 राफेल, राजनीतिक दर्षन की समस्यांये मैकमिलन लन्दन

9.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1-सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए इसकी प्रमुख विषेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2-सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विकास की व्याख्या प्रस्तुत करें।
3-आन्तरिक तथा वाह्य सम्प्रभुता की विस्तृत व्याख्या करें।
4-विधितः और वस्तुतः समप्रभुता तथा कानूनी और राजनीतिक सम्प्रभुता के मध्य भेद करे।
5-सम्प्रभुता सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण करें।
6-सम्प्रभुता क्या है ? यह राज्य कहा अवस्थित होती है ?
7-'सम्प्रभुता का विभाजन उसका विनाश करना है।' व्याख्या करें ।

इकाई 10 ऑस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त, बहुलवादी सिध्दांत

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 ऑस्टिन के सम्प्रभुता के प्रेरक तत्व
10.3 ऑस्टिन की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा
10.3.1 ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की विशेशताएँ
10.3.2 ऑस्टिन के सम्प्रभुता पर आक्षेप
10.3.3 सम्प्रभुता की वर्तमान स्थिति
10.3.3.1 सम्प्रभुता और भूमण्डलीकरण
10.3.3.2 सम्प्रभुता और पर्यावरणीय समस्याएँ
10.3.3.3 सम्प्रभुता और नव उपनिवेशवाद
10.3.3.4 सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन
14.4 बहुलवाद
14.4.1 बहुलवाद का विकास
14.4.2 बहुलवाद के विकास में सहायक तत्व
14.4.3राज्य की सम्प्रभुता पर बहुलवादी आक्षेप
14.4.4 बहुलवाद की मूल मान्यताए
14.4.5 बहुलवाद की समालोचना

10.5 सारांश
10.6 शब्दावली
10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

सम्प्रभुता के विचार की सर्वोत्तम व्याख्या इसके बैधानिक अथवा विधि-शास्त्री रूप में की जा सकती है। इसका कारण है कि राज्य के इच्छा का श्रेष्ठतम् रूप राज्य के कानून के रूप में देखने को मिलता है। जो सभी के लिए अनिवार्य एवं बाध्यकारी होता है। इसलिए सम्प्रभुता का पूर्णतया बैधानिक दृष्टि से अध्ययन जैसा हॉब्स, बेन्थम व ऑस्टिन ने किया है उसकी अपनी विशेष महत्ता है।

ऑस्टिन के चिन्तन पर तत्कालीन इग्लैण्ड की परिस्थितियो की स्पष्ट रूप में छाप दिखायी देती है। प्रारम्भिक उपयोगितावादी विचारक यह चाहते थे कि इग्लैण्ड के सार्वजनिक विधि में जहां-जहां अन्याय व असंगतिया पायी जाती हैं, उनके निराकरण के लिए नये कानूनो का निर्माण होना चाहिए लेकिन रूढ़िवादियो के तीव्र विरोध के कारण उनके प्रयास सफल नही हो पाये। उनकी मान्यता थी कि सार्वजनिक विधि नैसर्गिक विवेक के चिरंत और सार्वजनिक आदेशों का एक हिस्सा है। जो मानव व्यवहार का नियमन करता है राज्य न तो उनकी उपेक्षा कर सकता है और न ही उसे समाप्त कर सकता है।

ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होने शक्ति अथवा बल को ही निर्णायक माना है। उनके अनुसार इसके बिना कानून अथवा औचित्य या न्याय का तो प्रष्न ही नही है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार रूसो इच्छा पर बल देता है उसी प्रकार ऑस्टिन शक्ति पर बल देता है। इस सम्बन्ध मे बोसांके का कथन है कि ''ऑस्टिन की सम्प्रभुता शक्ति के विचार पर आधारित है जबकि हम आदर्शवादियो के विचार मे सम्प्रभुता समूची जनता की इव्छा पर आधारित है।''

10.1 उद्देश्य

यह इकाई सम्प्रभुता के एकल, अद्वैतवादी या विधिवदी दृष्टिकोण पर आधारित है। इसमें ऑस्टिन के द्वारा विधि और परम्पराओं में अन्तर करते हुए परम्पराओं पर विधि की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इसका अध्ययन करने के उपरान्त आप

1. यह समझ सकेगें कि ऑस्टिन ने सम्प्रभुता को किस रूप से ग्रहण किया है

2.आस्टिन ने सम्प्रभुता के क्या लक्षण बतआये है

3. ऑस्टिन के प्रभुस्ता पर बहुलवादियो ने क्या आपेक्ष लगाये है

4. सम्प्रभुता की वर्तमान समय में क्या स्थिति है

5.बहुलवाद क्या है .

6. बहुलवाद का विकास किन परिस्थितियों में हुआ।

7. बहुलवाद की मूल मान्यताएं क्या हैं ?

8. बहुलवाद की उपयोगिता या अनुपयोगिता के बारे में।

10.2 ऑस्टिन के सम्प्रभुता के प्रेरक तत्व

ऑस्टिन हाब्स के विचारों से प्रभावित तथा वेन्थम के विचारों का समर्थक था। वस्तुतः उसने इन्ही दो विचारको के विचारों का विकास तथा पुष्टि की है। उसके सुलझे हुए विचार ही उसकी नवीनता थे। इस सम्बन्ध मे गार्नर ने लिखा है कि ''प्रभुत्व की जो धारणा विष्लेश णवादी विधान विषेश ज्ञो और सम्भवतः उनमें से सबसे प्राचीन ऑस्टिन की है उसका गत अर्द्ध शताब्दी के कानूनी विचारों पर प्रभाव पड़ा है ऑस्टिन के विचारो को हाब्स तथा बेन्थम से प्रेरणा मिली है।'' बेन्थम ने कहा था कि एक राजनीतिक समाज या राज्य वही होगा जहां एक व्यक्ति या बहुसंख्यक लोग एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह की आज्ञा पालन करने के अभ्यस्थ हों क्योंकि उसका आदेश ही कानून होगा। इस प्रकार वह आदेश देने वाला सर्वोच्च सत्ताधारी होगा और सम्प्रभुता उसी में निहित होगी। वह शक्ति के आधार पर अपनी आज्ञाओ का पालन करवायेगा। बेंथम का यही सिद्धान्त ऑस्टिन के सिद्धान्त का आधार है। लेकिन ऑस्टिन ने बेंथम के सिद्धान्त को पूर्णता प्रदान की है। उसने सम्प्रभुता के नाकारात्मक पक्ष के साथ-साथ इसके सकारात्मक पक्ष की विस्तृत चर्चा की है। सकारात्मक कानून को स्पष्ट करते हुये वह कहता है कि यह ऐसा कानून है जिसमें किसी प्रभुससत्ता सम्पन्न व्यक्ति या व्यक्तियो के समुदाय ने स्वाधीन राजनीतिक समाज के किसी सदस्य या सदस्यो के लिए निर्धारित किया हो शर्त यह है कि कानून बनाने वाला व्यक्ति या व्यक्तियो का समुदाय उस समाज में सर्वससत्ता सम्पन्न या सर्वोच्च हो। आगे वह कहता है कि राज्य जो सकारात्मक कानून लागू करता है यदि वे ईष्वर के कानून या सामाजिक कानूनो के विरूद्ध हो तो ऐसी स्थिति मे राज्य निर्मित कानून ही सर्वोपरि होगा। इस तरह उसने विधि शास्त्र तथा न्यायषास्त्र के क्षेत्र में नैसर्गिक अधिकारों और कानून के झाड़-झंखाड़ को साफ कर दिया जो लम्बे अर्से से उसे घेरे हुये था।

10.3 ऑस्टिन की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा

सम्प्रभुता के एकलवादी, अद्वैतवादी, औपचारिक तथा कानूनी धारणा की सर्वोत्तम व्याख्या एक अंग्रेज न्यायविद् जॉन ऑस्टिन (1390-1459) ने 1432 में अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन जुरिसप्रुडेंस' में की। उनकी व्याख्या में वैज्ञानिक स्पष्टता और पूर्णता है जो प्रभाव पूर्ण है। इस धारणा के विकास के

पीछे उनका मुख्य उद्देश्य था परम्पराओं और कानूनों में अन्तर स्पष्ट करते हुए परम्पराओं पर कानून की श्रेष्ठता स्थापित करना। इस दृष्टि से उन्होंने विधियों के दो रूप माना-मानवीय विधि तथा ईष्वरीय विधि इनमें विरोध की स्थिति में मानवीय विधि को सर्वोच्चता प्राप्त होनी चाहिए। इस तरह वह मध्ययुग मे फैले हुए धर्म के प्रभाव को पूर्णतः नकार देता है। कानून के सम्बन्ध में उसका कहना था कि प्रत्येक सकारात्मक कानून अथवा केवल निष्चित रूप से तथाकथित प्रत्येक कानून को एक प्रभुसत्ता सम्पन्न व्यक्ति अथवा संगठन उस स्वतंत्र राजनीतिक समाज के एक सदस्य अथवा सदस्यो पर लागू करता है। जिसमें वह व्यक्ति अथवा संगठन सर्वोपरि अथवा सम्प्रभु होता है। कानूनी सम्बन्धी उसका यह विचार ही उसके सम्प्रभुता सिद्धान्त का आधार है। सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए उन्होने लिखा है कि ''एक राजनीतिक समाज में सम्प्रभुता उस व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित होती है जिसकी आज्ञाओ का पालन समाज का बहुसंख्यक भाग स्वभावतः करता हो और जो स्वयं किसी के आदेश पालन का अभ्यस्थ न हो। ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह सम्प्रभु कहलाता है और वह समाज उस सम्प्रभु सहित एक स्वतंत्र राजनीतिक समाज अर्थात राज्य कहलाता है। आगे वह लिखते हैं कि उस निष्चित सर्वोच्च व्यक्ति पर समाज के दूसरे लोग निर्भर होते हैं । उस निश्चित सर्वोच्च व्यक्ति के प्रति दूसरे व्यक्तियों की स्थिति अधीनता तथा निर्भरता वाली होती है।

10.3.1 ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की विशेशताएँ

ऑस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारो का विष्लेशण करने पर उसमे कुछ विषेशताए परिलक्षित होती है। जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित है -

10.3.1.1 सम्प्रभुता राज्य का एक आवश्यक गुण है

सम्प्रभुता स्वतंत्र राजनीतिक समाज अर्थात राज्य का अनिवार्य गुण है। यह राज्य के चार मूल घटकों मे से एक है। इसके बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। सम्प्रभुता के अन्त का अर्थ राज्य का अन्त होगा। यदि राज्य एक निकाय है तो सम्प्रभुता उसकी आत्मा है। ऑस्टिन के अनुसार प्रत्येक राजनैतिक समाज मे सम्प्रभुता का होना उसी प्रकार से आवष्यक है जैसे कि पदार्थ के किसी पिण्ड में आकर्षण के केन्द्र का होना। इस प्रकार प्रत्येक स्वतंत्र रातनीतिक समाज अर्थात राज्य में आवष्यक रूप से कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह सम्प्रभु होता है।

10.3.1.2 सम्प्रभुता निश्चित व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह में निहित होती है

सम्प्रभुता राज्य के किसी निष्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूह में निहित होती है। जिन्हें पहचाना जा सकता है और जो अपने विवेक के अनुसार इसका प्रयोग कर सकता है। सम्प्रभुता का प्रयोग किसी ऐसे स्थान द्वारा नही हो सकता है जिसका रूप निष्चित अथवा संगठित न हो। इसलिए ऑस्टिन ने कहा है कि

सम्प्रभुता का निवास न तो समान्य इच्छा में है, न जनमत में, न निर्वाचक समूह में क्योंकि इनमे से कोई भी निश्चयात्मक समूह नहीं है इस प्रकार ऑस्टिन ने सामान्य इच्छा, जनमत तथा नैतिक नियमों की उपेक्षा का प्रयास किया है। गार्नर ने ऑस्टिन के विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह सर्वोच्च शक्ति न तो सामान्य इच्छा हो सकती है जैसा कि रूसो ने बताया है न ही यह मनुष्यों का समूह हो सकती है न चुनाव मण्डल हो सकता है न तो लोकमत और नैतिक भावना और न ही साधारण सूझ-बूझ और ईष्वरीय इच्छा जैसे अनिष्चित वस्तुओ में हो सकती है। अपितु यह एक ऐसा निश्चित व्यक्ति या शक्ति होनी चाहिए जो स्वयं किसी भी बैद्यानिक प्रतिबन्ध के अधीन न हो ।

10.3.1.3 सम्प्रभुता निरंकुश व असीमित है

सम्प्रभुता की निरंकुशता व असीमितता का आशय उसकी सर्वोच्चता से है। अर्थात वह आन्तरिक तथा वाह्य दोनों क्षेत्रों में निर्वाध, निरंकुश तथा असीमित होती है। राज्य के सभी प्राधिकार उसी से प्राप्त होते हैं। यह राज्य की सीमा के अन्तर्गत समस्त व्यक्तियों, संस्थाओं तथा व्यक्ति समूहों से सर्वोच्च होती है। सभी लोग सम्प्रभु के अधीन होते है। इस लिए कोई भी उसकी आज्ञा मानने से मना नहीं कर सकता हैं और यदि कोई ऐसा करने का दुष्साहस करता है तो सम्प्रभु उसे अपनी इच्छानुसार दण्ड दे सकता है। वाह्य क्षेत्र में कोई भी दूसरा राज्य बिना उसकी मर्जी के उसके ऊपर अपनी इच्छा, आज्ञा, कानून या बन्धन नहीं थोप सकता है। इस प्रकार समस्त आन्तरिक तथा वाहय शक्तियों का सृजनकर्ता सम्प्रभुता ही है। वह स्वयं कानून का स्रोत है। इसलिए वह उससे परे है। वह औरो को आदेश देता है किन्तु स्वयं किसी से आदेश ग्रहण नही करता है।

10.3.1.4 आज्ञापालन आदत का विषय है- सम्प्रभु के आज्ञाओं का पालन समाज का अधिकाश भाग स्वभावतः करता है। दूसरे शब्दों में सम्प्रभु के प्रति आज्ञाकारिता आदत का विशय है। इसके माध्यम से समाज इस बात का अभ्यस्थ बनता है कि वह सत्ताधारी द्वारा दिये गये आदेश को उसी रूप में स्वीकार कर ले जिस रूप में वह उसे दिया गया है। यदि समाज के कुछ लोग सम्प्रभु की आज्ञा का उल्लघंन करें या सम्प्रभु के विरूद्ध क्रान्ति कर दे तो उससे सम्प्रभुता की सर्वोच्चता पर कोई आच नही आती है । बल्कि वह यथावत सर्व्रश्रेष्ठ बनी रहती है।

10.3.1.5 सम्प्रभु कानून से श्रेष्ठ व निरपेक्ष है

सम्प्रभुता ही कानून का आधार भी होती है। सम्प्रभु कानून का निर्माता व स्रोत होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सम्प्रभु का आदेश ही कानून है। जो आदेश सम्प्रभु द्वारा नहीं दिया गया है या जिसकी वह इजाजत नहीं देता है। वह कानून नहीं हो सकता है। कोई भी परम्परा, रीति-रीवाज उस समय तक कानून नहीं बन सकता जब तक सम्प्रभु उसे मान्यता न दे दे अर्थात प्रभुसत्ताधारी के अभाव में कानून निर्माण स्वयं सम्भव नहीं है सम्प्रभुत्ता सभी कानूनों से भी उच्च होती है क्योंकि स्वयं द्वारा

निर्मित कानूनों को मानना उसके लिए बाध्यकारी नहीं हो सकता है। सम्प्रभुता किसी भी दैवी, प्राकृतिक या संवैधानिक कानून से प्रतिबन्धित नहीं है।

10.3.1.6 सम्प्रभु किसी दूसरे के आज्ञापालन का अभ्यस्थ नहीं होता है

सम्प्रभु स्वयं किसी उच्चतर अधिकारी के आज्ञा पालन का अभ्यस्थ नहीं होता है अर्थात ऑस्टिन अपने सम्प्रभु को किसी उच्चवर अधिकारी की आज्ञा न मानने की बात कहता है क्योंकि यदि वह ऐसा करता है तो वह स्वंय सम्प्रभु नहीं रह सकता है। इस लिए आवश्यक है कि सम्प्रभु स्वयं किसी अन्य के आज्ञापालन का अभ्यासी नहीं होना चाहिए

10.3.1.7 सम्प्रभुता अविभाज्य है

सम्प्रभुता अनन्य अखण्ड व अविभाज्य है। आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त का एक भाव यह है कि राज्य में निश्चित तथा सर्वोच्च शक्ति केवल एक होती है। जिसका विभाजन नहीं हो सकता है क्योंकि वह एक इकाई है जिसको खण्डित नहीं किया जा सकता है। उसके विभाजन का अर्थ उसका विनाश होगा। चूंकि सम्प्रभुता का निवास किसी एक व्यक्ति या व्यकित समूह में होती है। अतः उसका विभाजन कई व्यक्तियों या समूहो में नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति होती है जो निरंकुश, अप्रतिबन्धित, अदेय, एकल, अविभाज्य एवं स्थायी होती है।

अभ्यास प्रश्न 1

(1) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

(2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1.'लेक्चर्स ऑन जुरिस्प्रुडेंस' पुस्तक किसने लिखा है ?

(क) बेंथम (ख) ऑस्टिन (ग) डायसी (घ) इनमें से कोई नहीं

2.'कानून सम्प्रभु का आदेश है'। यह कहा है ?

(क) हॉब्स (ख) बोदां (ग) ऑस्टिन (घ) बेंथम

3.सम्प्रभुता के एकलवादी, अद्वैतवादी, औपचारिक तथा कानूनी स्वरूप की सर्वोत्तम व्याख्या ऑस्टिन ने की है- सत्य है / असत्य है।

4. ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता विभाज्य है- सत्य है / असत्य है।

10.3.2 ऑस्टिन के सम्प्रभुता पर आक्षेप

ऑस्टिन एक वकील था। इसलिए उसने सम्प्रभुता की व्याख्या केवल वैधानिक दृष्टिकोण से की है। ऑस्टिन द्वारासम्प्रभुता के व्यवहारिक पक्ष पर ध्यान न देने कारण हेनरी मेन, फिगिस, ब्राइस, पाल बान्कूर, ब्लंटश ली, जेम्स स्टीफेन, लास्की, बार्कर, डिग्विट, कैब, जी0डी0एच0 कोल, स्टीफेन, दुरखिम, मैकाइवर, मिस फालेंट आदि बहुलवादियों ने इसकी कटु आलोचनाएँ की हैं। जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं -

१.समाज में ऑस्टिन के मानव श्रेष्ठ को खोजना कठिन है -

ऑस्टिन अपने सम्प्रभुता सिद्धान्त में जिस जन श्रेष्ठ की कल्पना करता है। उसे व्यवहारिक स्तर पर खोजना कठिन है। सर हेनरी मेन ने ऑस्टिन की इस धारणा का खण्डन करते हुए अपनी पुस्तक 'द' हिस्ट्री ऑफ अर्ली इन्स्टीच्यूशन में लिखा है कि ''इतिहास में इस प्रकार के निश्चित सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के उदाहरण नही मिलते हैं।'' प्राचीन काल से अब तक किसी भी सत्ताधारी को उतनी शक्तियॉ प्राप्त नहीं हुई जितनी शक्ति ऑस्टिन अपने सम्प्रभु को देता है। ऑस्टिन ने सम्प्रभुता की आवधरण का प्रतिपादन परम्पराओं पर कानूनों की श्रेष्ठता स्थापित करने के उद्देश्य से किया था। उनका मानना था कि परम्पराओं का पालन ऐच्छिक होता है। जबकि कानून का पालन बाध्यकारी होता है। इसका खण्डन करते हुए हेनरी मेन कहता है कि समाज प्रभुसत्ताधारी के बिना तो चला है। किन्तु परम्पराओं के बिना नहीं उनका मानना है कि चीन के महान तार-तारों तथा भारत के मुगलों तक को ऑस्टिन के प्रभुसत्तासम्पन शासक का उदाहरण नहीं माना जा सकता है। यहॉ तक कि इस सन्दर्भ में पंजाब के राजा रणजीत सिंह का भी दृष्टांत नहीं दिया जा सकता है जो अत्यन्त शक्तिशाली शासक था वह कुछ भी दिया जा सकता था किन्तु उसने अपने जीवन काल में एक बार भी ऐसा आदेश जारी नहीं किया आदेश दे सकता है। उसके आदेशों की रचमात अवज्ञा के फलस्वरूप अंग-अंग अथवा मृत्यु दण्ड हो नहीं किया। जिसे ऑस्टिन के अनुसार कानून कहा जा सके उसकी प्रजा का जीवन चिरकालीन रीति-रीवाजों, धार्मिक विचारों और सामाजिक परम्पराओं द्वारा निर्मित होता था। इसके अतिरिक्त विश्व में सत्ता के मद में चूर शासकों तक ने किसी प्राकृतिक अथवा अति प्राकृतिक शक्ति के आगे अपना सिर झुकाया है। सम्प्रभु सरकार की कुछ सीमाएँ होती है जो लोगों की निष्ठा में गहरे रूप से जमी किन्ही धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं के रूप में देखी जा सकती है। केवल विक्षिप्त (विकृत) मानसिकता वाला कोई तानाशाह शासक ही ऑस्टिन के कल्पना के शासक का उदाहरण बन सकता है। हम उन प्रथाओं के विषाल

समूह की उपेक्षा नहीं कर सकते है। जिन्हें हम संक्षिप्तता के कारण नैतिक कह सकते है। जो अपने शासक की शक्तियों को निश्चित करती है सीमित करती है तथा उसे अवरूद्ध करती है।

२.यह धारणा लौकिक सम्प्रभुता के विरूद्ध है -

ऑस्टिन की यह धारणा लोकतन्त्र के आधार लौकिक (लोकप्रिय) सम्प्रभुता की धारणा के विपरीत है क्योंकि इसकी मान्यता है कि सम्प्रभुता अन्तिम रूप से जनता में निहित होती है अर्थात लोकमत या जनता की इच्छाही राज्य में सर्वोपरि होती हैं। वस्तुतः आस्टिन की कल्पना के वैधानिक सम्प्रभु को मानने का दुष्परिणाम यह होगा कि हमे लोक प्रभुता और राजनीतिक प्रभुता दोनो को अस्वीकार करना पड़ेगा जबकि वर्तमान लोकतात्रिक युग मे यह कदापि सम्भव नही है यह एक लोकप्रिय कहावत है कि जनवाणी देव वाणी है या पंच ही परमेश्वर है। ऐसे उदाहरणो से इतिहास भरा पड़ा है कि कई बार निरंकुश से निरंकुश शासको या विधायको को भी अपने देश की जनता (मतदाताओं) के समक्ष नतमस्तक होना पड़ता है । चिपमैन ने बल देकर कहा है कि समाज के वास्तविक शासक अदृष्य होते है।" इस सम्बन्ध मे लास्की का कथन है कि राजनीतिक दर्षन के लिए प्रभुसत्ता के वैधानिक सिद्धान्त को वैध बनाना असम्भव है। निर्वाचक मण्डल प्रभुसत्ता का सूक्ष्म अंग होता है तथा इसके प्रतिनिधियो का चुनाव केवल इसकी शक्तियो के प्रयोग को वैध करने का ढंग होता है।

३.कानून सम्प्रभु का आदेश मात्र नही है-

ऑस्टिन का यह मानना भी त्रुटिपूर्ण है कि कानून सम्प्रभु का आदेश मात्र है क्योकि कानून सम्प्रभु का आदेश मात्र न होकर ऐतिहासिक परम्पराओ, रीति-रीवाजो और सामाजिक मान्यताओ पर आधारित होते है। इसलिए इनकी उपेक्षा करने का साहस कोई निरंकुश शासक भी नही कर सकता है। इस सम्बन्ध मे आलोचको का मानना है कि ऑस्टिन के विचार उन्नत सभ्य समाज मे तो लागू हो सकते है किन्तु अनुन्नत एवं असभ्य राज्यो में यह सत्य नही हो सकते हैं। डिग्विट ने तो कहा है कि राज्य कानूनो का निर्माण नही करते बल्कि कानून राज्य का निर्माण करते हैं कानून तो केवल सामाजिक आवश्यकताओं के प्रकाश न मात्र होते है। हेनरीमेन ने लिखा है कि कानून को किसी भी दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता का आदेश मात्र कहना भूल है वह तो समाज के अन्तर्गत क्रियाशील विभिन्न शक्तियों की उपज है। मै फाइवर के अनुसार तो सभी प्रथाजनित कानून स्वतः विकसित होते हैं वे संगठित करने की किसी प्रयास पूर्ण इच्छा द्वारा उत्पन्न नही होते और न ही उनकी उत्पत्ति राज्य के इच्छा से होती है। राज्य के पास प्रथा को स्थापित करने की शक्ति बहुत कम होती है और उसे नष्ट करने की उससे भी कम। आगे वह कहता है कि जब प्रथा पर प्रहार होता है तो बदले में प्रथा कानून पर प्रहार करती है। केवल उस कानून विषेश पर ही नही जो इसके विरोधी होते हैं बल्कि वह कानून पालन की भावना पर भी प्रहार करती है जो उससे महत्वपूर्ण अर्थात राज्य का आधार है।

४.सम्प्रभुता का विभाजन सम्भव है-

ऑस्टिन सम्प्रभुता को अविभाज्य मानता है जबकि आलोचक उसके इस विचार से सहमत नही हैं। खासतौर पर बहुलवादियो का मत है कि समाज के अन्य संगठनो की भॉति राज्य की एक संगठन मात्र है। मानव अपने भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को संतुष्ठ करने के लिए अलग-अलग संगठनो का निर्माण करता है। यथा-सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सामाजिक संगठन, आर्थिक आवष्यकतओं की पूर्ति हेतु आर्थिक संगठन, धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धार्मिक संगठन, सांस्कृतिक आवष्यकताओं की पूर्ति हेतु सांस्कृतिक संगठन ठीक इसी प्रकार अपनी राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राज्य का निर्माण करता है। राज्य समाज मे शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के साथ-साथ लोगों को सद्जीवन व समृद्धि प्रदान करने का प्रयास करता है। इसलिए व्यक्ति उसका अधिपत्य स्वीकार करता है। इसलिए बहुलवादी कहते हैं कि समाज का जो संगठन लोगो के लिए जितना उपयोगी है उसी के सापेक्ष शक्ति का विभाजन उनके मध्य कर दी जानी चाहिए। मैकाइवर ने लिखा है कि ''अन्य संगठनो और राज्य के मध्य अन्तर केवल यह होता है कि अन्य संगठन प्रमुखतः अपने विषिष्ट विलेख द्वारा सीमित होते है यद्यपि उसका उद्देष्य इस तरह अधिरोपित सीमाओ के बीच व्यापक है। राज्य के कानून सार्वत्रिक होते है और उन्हें निग्रही अनुमोदन प्राप्त होता है। अतः राज्य को स्वयं उन हितों की चिन्ता करनी चाहिए जो सार्वजनिक हैं। बहुलवादी राज्य और अन्य संगठनो के मध्य अन्तर स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है जबकि अन्य संगठनो की सदस्यता ऐच्छिक होती है। राज्य अपने अपराधियों को फॉसी भी दे सकता है जबकि संगठन अपने विरुद्ध किये गये अपराध में इतनी कठोर सजा नही दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि वैधानिक या सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्प्रभुता भले ही अविभाज्य है लेकिन व्यवहार मे सम्प्रभुता विभाजित होती है। एकात्मक शासन जहां सारी शक्तियां केन्द्र के पास होती है वहां भी शासन की शक्ति व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका मे विभाजित होती है। संघात्मक शासन में तो शक्तियों का अनिवार्य रूप से विभाजन संघ व उसकी इकाईयो के मध्य होता है। संविधान केन्द्र और उसकी इकाईयो के सरकारो के अधिकार और कर्तव्य निष्चित कर देता है। बाकेर ने लिखा है कि ''कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्फल नही हुआ जितना कि प्रभुसत्ता का सिद्धान्त।''

५.सम्प्रभु शक्ति असीमित व निरंकुश नही है-

ऑस्टिन सम्प्रभुता को असीमित सन्तावान तथा निरंकुश मानता है जबकि आलोचको का मत है कि सम्प्रभुता वैधानिक दृष्टि से भले असीमित व निरंकुश हो परन्तु राजनीतिक व ऐतिहासिक प्रतिबन्ध उसको सीमित करते है। कोई भी राज्य सर्वशक्तिमान नही होता है। प्रत्येक राज्य आन्तरिक दृष्टि से अपनी प्रजा के रीति-रीवाजो, परम्पराओं अधिकारों और उनसे किये गये समझौते द्वारा सीमित होता है। जबकि वाह्य दृष्टि से वह दूसरे राज्यो के कानूनो, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो आदि

द्वारा सीमित व नियंत्रित होती है। वस्तुतः वर्तमान समय में जबकि अणुबम व हाइड्रोजन बम जैसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो चुका है तो समस्त मानवता से सम्बन्धित प्रष्नों को किसी एक राज्य की इच्छा पर नही छोड़ा जा सकता है। इसलिए लास्की ऑस्टिन के निरंकुशता की धारणा को अस्वीकार करते हुये कहता है कि मानवता के हित मे सम्प्रभुता का सीमित होना आवष्यक है। वह इस बात से भली भॉति परिचित प्रतीत होते है कि सर्वशक्तिशाली स्वंतन्त्र राज्यों की आपस में होड़ विश्व शान्ति और एकता के लिए घाटक है। संसार के राष्ट्रों के परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर रहने का जोरदार शब्दों में समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि निष्चित तौर पर एक ऐसे स्वतंत्र और सर्वश क्तिमान राज्य की कल्पना मानवता के हितों के प्रतिकुल है। जो अपने सदस्यों से सरकार के प्रति पूर्ण वफादारी की मॉग करते है और जो अपने शक्ति से लोगो को वफादार बनाता है। हमारे सामने समस्या यह नही है कि हम मानवता के हितो और ब्रिटेन के हितो को एक-दूसरे के अनुकूल बनायें। समस्या यह है कि हम इस प्रकार से काम करे कि ब्रिटेन की नीति में मनुष्य का हित निहित रहें।

६.शक्ति को अत्यधिक महत्व -

ऑस्टिन के सिद्धान्त में शक्ति को अत्यधिक महत्व दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति दण्ड के भय से ही कानूनो का पालन करता है। इस प्रकार ऑस्टिन ने शक्ति को निर्णायक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इसी कारण हर्नशा ने लिखा है कि ऑस्टिन के दर्षन में हवलदारी की गन्ध आती है। वस्तुतः कानून का पालन हम इसलिए नही करते हैं कि उसकी अवज्ञा के साथ दण्ड का भय जुड़ा हुआ है बल्कि उसका पालन हम इसलिए करते हैं कि वह जन कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होता है। कानूनो के पालन का आधार मात्र भय न होकर अभ्यास, आदत, स्वार्थ, भावनाएं, प्रथाएं, विष्वास, प्राचीन, मान्यताएं, रीति-रीवाज आदि है। लास्की के अनुसार ''आदेश का भाव अनिष्चित और अप्रत्यक्ष है और दण्ड का विचार घुमा-फिराकर एक चक्करदार तरीके से सोचने के षिवाय बिल्कुल शून्य ही है।''

10.3.3 सम्प्रभुता की वर्तमान स्थिति

10.3.3.1 सम्प्रभुता और भूमण्डलीकरण

वर्तमान युग अन्तराष्ट्रीयता का युग कहा जा सकता हैं। विज्ञान प्रौद्योगिकी, संचार, यातायात के साधनो के विकास ने सम्पूर्ण संसार को एक 'विश्व गाव' के स्थिति में ला दिया हैं। जिससे सम्पूर्ण मानवता मानवीय प्रष्नों पर एक-दूसरे के करीब आयी हैं। आज विश्व के किसी कोने में उत्पन्न समस्या न केवल किसी एक राज्य को प्रभावित करती हैं बल्कि सम्पूर्ण विश्व समुदाय को प्रभावित कर देती हैं। विश्व में आपसी संयोजन जो वास्तविकता और आवष्यकता दोनों है। ने राज्य की सम्प्रभुता के समक्ष कई चुनौतिया पेश की हैं। आज राज्य के सम्प्रभुता का अर्थ वाह्य क्षेत्र में उसकी स्वेच्छा चारिता या जो

चाहे वह करने की इच्छा से नही लगाया जा सकता हैं। वर्तमान भौतिकता के युग में राज्यो के मध्य परस्पर निर्भरता बढी हैं। जिससे राज्यों के कार्या पर भी इसका पडा हैं। दुनिया का शक्तिषाली से शक्तिशाली राज्य भी विश्व जनमत के नाराजगी की कीमत पर केाई कार्य करने का फैसला नही कर सकता।

विश्व के देशों में व्यापार भी अप्रत्याशित रूप में बढ़ा हैं। जिसको नियन्त्रित व निर्देषित करने के लिये जनवरी 1995में की स्थापना की गयी। जिसका मूल सिध्दान्त हैं कि ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश का स्थपना की जाय जिससे वस्तुओं, सेवाओं तथा विचारों का निर्वाध रूप से आना-जाना हो सके। इस संगठन के मार्गदर्षन में विश्व के देशों के मध्य कई सन्धियां हुई हैं। जिससे भूमण्डलीकरण सशक्त हुआ हैं। इस प्रकार कहा जा सकता हैं कि भूमण्डलीकरण हमारे समय की सच्चाई बन चुका हैं। ऐसी सच्चाई जिससे राज्य और उसकी सम्प्रभुता को लेकर बहुत से प्रष्न उभर कर सामने आये। हैं इस सन्दर्भ में निम्न पहलुओं की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक हैं -

(1) विश्व स्तरीय गठबन्धनो में वृद्धि से राष्ट्रीय सरकार के राजनीतिक प्रभावों और शक्तियों में अभूतपूर्व कमी आयी है क्योकि खुली अर्थव्यवस्था के कारण वस्तुओं ,सेवाओं ,विचारों और संस्कृतियों का प्रवाह बढ़ा है। परिमाण स्वरुप इनको नियन्त्रित करने की राज्य की भूमिका सिमट कर रह गयी है।

(2) उच्च स्तरीय गठबन्धनो के कारण राज्य के परम्परागत कार्य क्षेत्र जौसे रक्षा, संचार आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अभाव में पूरे नही हो सकते क्योकिं द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तकनीकि के तीव्र विकाश ने सुरक्षा की अवधारणा को लगभग समाप्त सा कर दिया। वर्तमान युग में दुनिया का शक्तिषाली से शक्तिशाली राज्य भी विश्व समुदाय के सहयोग के बिना अपने सुरक्षा के प्रति आष्वस्त नहीं है।

(3) भूमण्डलीकरण के वर्तमान युग में जिसके मूल मे सूचना प्रौद्योगिकी एवं सशक्त वैश्विक अर्थव्यवस्था है ने राष्ट्रों के लिए लगभग यह असम्भव सा बना दिया है कि वे भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था से अलग रहकर अपनी अर्थव्यवस्था का कुश ल तरीके से संचालन कर सके। विकासषील या अल्पविकसित देशों के सम्प्रभुता का उपयोग सदा से एक समस्या रहा है क्योंकि वे अपने विकास एवं सुरक्षा संम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विकसित देशों पर निर्भर होते है। अतः उनकी इच्छा या हित के अनुरूप कार्य करना लगभग इनकी बाध्यता सी है।

(4) भूमण्डलीकरण न केवल सम्प्रभुता के स्थानीय (क्षेत्रीय) तत्वो को दुष्प्रभावित किया है बल्कि उसने तो सम्प्रभुता के पहचान और संशाधन पर भी कुठाराघात किया है। जिससे एक ऐसी स्थित उत्पन्न हो गयी है जिसमें किसी राज्य के द्वारा लिया गया निर्णय उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति प्रतीत नही होते।

राष्ट्रीय सीमाओ का खुलापन राज्य मे निहित असीमित संशोधन रूपी वर्फ को पिघला दिया है। जिससे सम्प्रभुता के पहचान के तत्व को भारी क्षति पहुंची है।

अतः भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ मे यह कहना उचित होगा कि वर्तमान समय में सम्प्रभुता समायोजन के दौर से गुजर रही है। जिसमे इसके आन्तरिक स्वरूप तथा वाह्य स्वरूप में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। यह सम्प्रभुता के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवष्यक भी है। क्योंकि वर्तमान में किसी राष्ट्र के आन्तरिक प्रष्नो पर भी मानव सुरक्षा हेतु अन्य देषो का सहयोग आवष्यक हो गया है वहीं वाह्य क्षेत्र में राष्ट्रो के सहयोग को बनाये रखने के लिए भी राष्ट्रों के शक्ति को सीमित करना आवष्यक हो गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्प्रभु राज्य अब आन्तरिक तथा वाह्य दोनों क्षेत्रों में नवीन रूप धारण कर रहे है। इसके लिए जहां वह अपनी कुछ पारम्परिक क्षमताओं में कमी कर रहे है। वहीं वह इनकी कीमत पर नयी क्षमताओं (सामर्थ्य) को प्राप्त भी कर रहे हैं। इसके लिए वह अपने कुछ कार्य अन्तर्राष्ट्रीय और पारराष्ट्रीय संस्थाओ को हस्तान्तरित कर रहे है। वहीं इन संस्थाओ के सदस्य के रूप में वे इनके कार्यो व दायित्वों का निरीक्षण करने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सहभागी हो रहे है।

अभ्यास प्रश्न 2

(1) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

(2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1. ऑस्टिन की सम्प्रभुता की अवधारणा के प्रतिक्रिया स्वरूप कौन विचारधारा अस्तित्व आयी।

.....
.....

2. भूमण्डलीकरण ने राज्य सम्प्रभुता को अनिवार्य रूप से सीमित किया है

सत्य है / असत्य है।

3. बहुलवादी जिस अद्वैतवादी शत्रु पर आक्रमण करते है बहुत कुछ सीमा तक वह एक कल्पनात्मक जीव है। कथन है

10.3.3.2 सम्प्रभुता और पर्यावरणीय समस्याएँ

वर्तमान में पर्यावरणीय समस्याएं समूची मानवता व विश्व समुदाय के लिए चिन्ता का सबस बनती जा रही हैं। क्योकि पर्यावरणीय घटनाएं राज्यो की सीमाएं नही पहचानती हैं। इसलिए कभी-कभी ऐसा देखने को मिलता है कि किसी राज्य के पर्यावरण प्रतिकुल कृत्य उससे मीलों दूर बसे राज्यो के वायुमण्डल को दूषित कर देता है। ऐसे में यह आवष्यक हो गया है कि इन संकटो का समाधान सभी राष्ट्रों द्वारा समूह भाव से खोजा जाय। इस स्थिति के गंभीरता के एहसास का ही परिणाम है कि 1992 में 'रियो' में पर्यावरण सुरक्षा को दृष्टिगत रखकर एक सम्मेलन आहुत किया गया। तत्पष्चात् 1999 में सियेटल तथा 2001 में जनेवा में भी सम्मेलन किया गया। जो राज्यो की संरचना को चुनौती पेश किया। 1992 में रियो सम्मेलन की कुछ प्रमुख घोश णाएं निम्नलिखित हैः

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ घोश णा-पत्र व अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के सिद्धान्तों के अनुसार राज्य विकास के लिए अपने संसाधनो का प्रयोग करने का सर्वोच्च अधिकार रखता है फिर भी यह उसका दायित्व है कि पर्यावरण के प्रति होने वाले किसी भी नुकसान को रोके।

(2) अल्पविकसित देशों की पर्यावरणीय स्थिति अत्यन्त नाजुक है। इसलिए इसकी तरफ अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए जिससे इनकी जरूरतो को भी प्राथमिकता के आधार पर पूरा किया जा सके।

(3) पारिस्थितिकी तन्त्र को संरक्षित एवं पुर्नस्थापित करने हेतु राज्य भूमण्डलीय भागीदारी की भावना रखते हुए आपसी सहयोग करेगें। इस सम्बन्ध में विकसित देशों की भूमिका अधिक सहयोगात्मक होनी चाहिए क्योकि उनके कृत्य पर्यावरणीय संकट के लिए अधिक जिम्मेदार हैं।

(4) सभी राज्य अपने पर्यावरणीय विवादों का हल संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणापत्र के अनुसार शांतिपूर्ण तरीके से ही करेगें।

इस सम्मेलन द्वारा इक्कीसवी सदी के लिए विकास की कार्यसूची तैयार करना विश्व समुदाय की ओर से किये जा रहें सर्वाधिक गम्भीर व समेकित प्रयासों में से एक था। कुछ वातो के लिहाज से यह एक महत्वपूर्ण एवं साहसपूर्ण निर्णय था क्योंकि यह राष्ट्रों उच्च रुप से विश मांगो समुदाय के बीच मतैक्य के बिना काम चलाने में सफल रहा था। इस प्रकार पर्यावरणीय समस्याओं के निराकरण के दिषा में किये जाने वाले अन्तराष्ट्रीय प्रयोसों ने भी राष्ट्रीय सम्प्रभुता को सीमित किया है। पर्यावरण सुरक्षा के दृष्टि से राज्यो के बीच सन्धि या समझौते भी किये जा रहे हैं।

10.3.3.3 सम्प्रभुता और नव उपनिवेशवाद

आधुनिक भौतिकतावादी युग में विश्व का कोई भी राष्ट्र आत्म निर्भर होने का दावा नहीं कर सकते है। विकसित तथा अल्प विकसित राज्यो की अर्थव्यवस्थाओ में बड़े अन्तर के बावजूद वैश्विक पारस्परिक निर्भरता में बृद्धि हुई है। विकसित देश जहां कच्चे मालों की आपूर्ति तथा अपने उत्पादो की विक्री के लिए विकासषील देशों पर निर्भर है वहीं विकासशील देश आर्थिक और प्रौद्योगिकी सहायता के लिए विकसित देशों पर निर्भर हैं। प्रौद्योगिकी, राजनीतिक, शक्ति एवं सैनिक सामर्थ्य के बल पर विकसित देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अपने हितो के अनुकुल कर लिया है। जिससे विकासषील देशों को गम्भीर आर्थिक क्षति हुई है।

भूमण्डलीय पारस्परिक निर्भरता या अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सभी सदस्य देशों के समान सम्प्रभु स्तर के बावजूद विकासषील देश आज भी नव उपनिवेश वाद (आर्थिक गुलामी) से पीड़ित हैं। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से वे स्वतन्त्र राजनीतिक इकाईयां है किन्तु आर्थिक व व्यवहारिक दृष्टि से ये आज भी विकासशील देशों के चंगुल से अपने आपको नही निकाल पाये हैं। इस प्रकार साम्राज्यवाद के समाप्ति के बाद भी विकसित देश विकासशील देशों पर अपना नव औपनिवेषिक आर्थिक-राजनीतिक नियन्त्रण बनाये हुए हैं। विकसित देश बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से विकासषील देशों की अर्थव्यवस्थाओं और इस प्रकार उनकी नीतियों पर अंकुश रखते हैं। इन निगमों का स्वामित्व प्राय विकसित देशों के पूजीपतियों के हाथो में होता हैं। ये पूंजीपति सरकार के अतिरिक्त व्यवस्था के प में विकासषील देशों के बाजारों अर्थव्यवस्थाओं और नीतियों का संचालन करते है। इन निगमो के पास यह सामर्थ्य है कि वे विकासशील देशों के आर्थिक विकास और प्रगति के गति को धीमी कर दें तथा अपने हित के अनुसार उनके औद्योगिक विकास की दिषा को मोंड़ दें। जो निष्चित रुप से नवोदित राष्ट्रों के सम्प्रभुता में बाधक हैं।

10.3.3.4 सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण तीब्र गति से प्रारम्भ हुआ । विश्व शान्ति तथा सहयोग को बढ़ाने में इन संगठनों की भूमिका की अनदेखी नहीं की जा सकती। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के प्रभाव से सम्पूर्ण विश्व एक व्यवस्था के रुप में संगठित होता हुआ प्रतीत हो रहा हैं। ऐसे में राज्यो को वैसी सम्प्रभुता प्राप्त नहीं हो सकती है। जिसकी कल्पना आस्टिन ने अपने सिद्धान्त में की थी। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो की सम्प्रभुता की मर्यादाओ का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता हैं।

(1) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सहयोग बढ़ाने के उद्देष्य से की गई थी । जिससे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के देशों का सामाजिक, सांस्कृति तथा शैक्षिक

विकास हो सके। यह तभी सम्भव है जबकि राष्ट्रों के मध्य टकराव कम हो इसके लिए सदस्य देशों द्वारा स.रा. चार्टर का पालन किया जाना अनिवार्य है। जो राष्ट्रों के सम्प्रभुता को प्रभावित करेगा।

(2) कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन क्षेत्र विशेष में ही कार्य करते हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संद्य, सार्वभौमिक डाक संघ, विश्व मौसम विज्ञान संगठन। ये संगठन विभिन्न राज्यों द्वारा इन क्षेत्रों के लिए निर्मित की जाने वाली नीतियों को प्रभावित करते हैअर्थात उन्हे मनमाने तरीके से कार्य करने के लिए अनुमति नही देते हैं।

(3) विश्व व्यपार संगठन, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश आदि संगठनो के कृत्यों पर भी विकसित देशों का प्रभुत्व स्थापित हैं। इनके माध्यम से विकसित देश विकासशील देशों को अपने हितोनुरुप नीतियां निर्मित करने के लिए बाध्य करते हैं। जिसे सम्प्रभुता के अनुकुल नहीं कहा जा सकता है।

विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनो के क्रियाकलाप राष्ट्रों के सम्प्रभुता को सीमित करते हैं। क्योंकि इनकी नीतियो के विरुद्ध कोई भी राज्य नीतिया निर्मित नहीं कर सकता है अर्थात इनकी नीतिया व सिद्धान्त स्वतन्त्र राज्यों के लिए बाध्यकारी हैं।

10.4 बहुलवाद

बहुलवाद क्या है ? यह जानने के पहले हमे यह जानना होगा कि एकलवाद क्या है ? अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पोलिटिकल प्लूरेलिज्म' मे हेसिये ने लिखा है ''एकलवादी राज्य वह है जिसके पास केवल सत्ता का एक स्रोत है अथवा होना चाहिए। जो सिद्धान्त रूप मे सर्वब्यापक तथा असीमित होता है यहां एक तथा निरंकुश शक्ति सम्प्रभुता है तथा ऐसे सिद्धान्त को जो ऐसे सम्प्रभुता के अस्तित्व को मानता है बहुलवादी एकलवाद कहते है। ''अर्थात एकलवाद सम्प्रभुता को राज्य की अद्वितीय, निरंकुष, अविभाज्य तथा सर्वोच्च शक्ति मानता है जबकि राज्य की सम्प्रभुता को सीमित कर देने वाला तथा उसका अन्य समुदायों के पक्ष में समर्पण की मांग करने वाला सिद्धान्त बहुलवाद के नाम से सम्बोधित किया जाता हैं। बहुलवादियों का मानना है कि मानव अपनी विभिन्न आवष्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न संगठनो का निर्माण करता है राज्य भी उन्हीं मे से एक हैं। अतः शासन की शक्ति उसी अनुपात में इन संगठनो मे विभाजित कर दी जानी चाहिए जिस अनुपात मे वे मानव के आवश्यकताओं को पूर्ण करते है। इसकी मान्यता है कि चूंकि समाज संघात्मक है इसलिए सत्ता भी संघात्मक होनी है। अतः संक्षेप मे कहा जा सकता है कि बहुलवादी सम्प्रभुता सीमित तथा बंटी हुई है। यह प्रभुसता को सर्वव्यापक, अविभाज्य तथा निरंकुष नही मानता है बल्कि राज्य को भी अन्य समुदायों की भाँति जनहित का एक समुदाय समझता है।

हेसिये ने बहुलवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ''बहुलवादी राज्य एक ऐसा राज्य है जिसमें सत्ता का केवल एक स्रोत नहीं है बल्कि यह विभिन्न क्षेत्रो में विभाजित है और इसे विभाजित किया भी जाना चाहिए।''

बहुलवादी बडे ही रोचक ढंग से राज्य के अद्वैतवादी सम्प्रभुता पर प्रहार करते हैं। उन लोगो ने राज्य के सम्प्रभुता को हानिकारक, कष्टदायी निरर्थक और त्याज्य माना।

कहा जाता है कि बहुलवादी राज्य की आलोचना करते है, उसकी बेइज्जती करते हैं तथा उसको उच्च आसन से हटाकर निम्नतर श्रेणी में पहुँचाना चाहते हैं। क्रैब का विचार है कि ''सम्प्रभुता की धारणा को राजनीति से निकाल देना चाहिए। डयूगी के अनुसार'' राज्य का प्रभुत्व या तो मर चुका है या मृत्यु शैया पर पड़ा है।'' लिंडसे के शब्दों में ''यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डाले तो यह स्पष्ट है कि राज्य के प्रभुसत्ता का सिद्धान्त भंग हो चुका है। ''बार्कर का कहना है कि'' कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त निष्प्राण और व्यर्थ नहीं हो गया है जितना कि सर्व प्रभुत्त सम्पन्न राज्य का। ''लास्की ने तो यहाँ तक कह दिया है कि'' यदि सम्प्रभुता की सम्पूर्ण धारणा का त्याग कर दिया जाय तो यह राजनीति शास्त्र के लिए एक स्थायी लाभ की बात होगी।''

संक्षेप में बहुलवाद की विषेषताओं का उल्लेख निम्न रुपों में किया जा सकता है-

(1) समाज में अनेकता है इसलिए हितों में भी अनेकता होती है।

(2) राज्य भी अन्य समूदायों की भाँति एक समुदाय ही है इसलिए इसे सर्वोच्चता व सर्वव्यापकता नहीं मिलनी चाहिए।

(3) राज्य की प्रभु सत्ता असीमित व निरकुंश नहीं हो सकती।

(4) सम्प्रभुता अविभाजित नहीं है बल्कि इसका विभाजन विभिन्न समुदायो तथा राज्य के बीच होना चाहिए।

(5) व्यक्ति की सम्पूर्ण आस्था केवल राज्य के प्रति नही हो सकती है क्योंकि वह अन्य समुदायों के प्रति भी आस्था रखता है।

(6) कानून केवल सम्प्रभु का आदेष मात्र नहीं है।

(7) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीयता के युग मे वाह्य सम्प्रभुता भी अन्तर्राष्ट्रीय नियमो द्वारा सीमित है।

10.4.1 बहुलवाद का विकास

प्रत्येक सिद्धान्त अपने समय की सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम होता है। 12 वीं एवं 13 वीं शतब्दियों मे जो समाजिक आवष्यकताएँ पैदा हुई उनकी पूर्ति के लिए राज्य के सम्प्रभुता का एकलवाद सिद्धान्त अस्तित्व मे आया। ठीक उसी प्रकार 19 वीं शताब्दीं के अन्तिम वर्षों तथा 20 वीं शताब्दीं के आरम्भिक वर्षों की आवष्यकताओं ने बहुलवाद को बढावा दिया।

यद्यपि बहुलवाद के विकास की प्रक्रिया मध्ययुग से ही प्रारम्भ हो गयी थी जब समाज की अव्यवस्था पूर्ण स्थिति में राज्य के अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं और समुदायों का अत्यधिक महत्व था। धार्मिक क्षेत्र में चर्च, आर्थिक क्षेत्र में व्यावसायिक श्रेणियों और राजनीतिक क्षेत्र में सामन्तो को महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त थी। चर्च एवं सामन्त राजा के प्रभुत्व में सहभागी होते थे। कभी-कभी उनमें संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी जो गृह युद्ध का रूप धारण कर लेता था।

सोलहवीं एंव सत्रहवी शताब्दीं में राष्ट्रीयता की प्रबल भावनाओं के कारण यूरोप के कुछ देशों में राष्ट्रीय राज्यो का अभ्युदय हुआ। जिसमें सम्प्रभुता का स्वरूप अद्वैतवादी रहा। राजनीतिक सत्ता निरंकुष राजाओं में केन्द्रित होने के कारण अधिनायकवादी प्रवृति का विकास हुआ। जिसके विरूद्र जन आन्दोलन और क्रान्तिया हुई इन क्रान्तियो ने निरंकुष शासको को तो समाप्त कर दिया परन्तु निरंकुषता के एक नये युग का सूत्रपात हुआ जो इतना प्रबल था कि मानव जीवन का प्रत्येक आयाम (पक्ष) इससे प्रभावित होने लगा इसके विरूद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। राज्य के इस एकत्ववादी निरंकुशता के विरूद्ध जो विचार परम्परा अस्तित्व में आयी उसे बहुलवाद के नाम से जाना है। इस प्रकार बहुलवाद के अभ्युदाय में राज्य की निरंकुषता और केन्द्रीयकरण के प्रवृत्तियाँ के विरोध का भाव निहित है।

बहुलवाद का जनक (जन्मदाता) गियर्क और मेटलैण्ड को माना जाता हैं। इन लोगो ने 19 वीं शताब्दी के अन्त में अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए कहा कि समाज मे विद्यमान विभिन्न समुदाय मानव स्वभाव की उपज हैं। ये अपने स्वरूप में काल्पनिक तथा कृत्रिम नहीं होते हैं बल्कि उनका अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छा तथा चेतना होती है। मे राज्य के नियन्त्रण से मुक्त और कभी-कभी उससे अग्रणी भी होते हैं। बाद में समाजवादी विचारको ने बहुलवाद पर बल देते हुए बताया की मानवीय जीवन बहुआयामी (कई पक्षीय) होता है। राज्य अर्थात राजनतिक पक्ष जीवन का एक अंष मात्र है। एमिल दुर्खिम ने व्यावसायिक समूह को पुनर्जागृत करने का प्रयास किया। समाजषास्त्रियों ने यह भी सुझाव दिया कि भौगोलिक प्रतिनिधित्व के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया जाय। कुछ विद्वानो ने विषिष्ट समुदायो के स्वतन्त्र अधिकारों पर बल देकर राज्य के सर्वोच्चता का

प्रतिरोध किया। बहुलवाद के प्रमुख समर्थको में जे.नेविल, फिगीस, पाल बान्कुर, दुर्खिम, मैकाइबर, लास्की, बार्कर, डिग्विट, क्रैब, जी.डी.एच.कोल और मिस फालेट का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

10.4.2 बहुलवाद के विकास में सहायक तत्व

बहुलवाद के विकास मे निम्नलिखित कारण सहायक बने -

(1) बहुलवाद राज्य के पूजा के सिद्वान्त के विरूद्ध प्रतिक्रिया है। हीगल तथा उसके अनुयायियों ने राज्य को एक रहस्यात्मक देवता बना दिया था। हीगल का मानना था कि ''राज्य पृथ्वी पर ईष्वर का अवतरण है। ''इस प्रकार राज्य के सर्वसत्तावादी स्वरुप की स्थापना हुई। जिसमें मानव का सम्पूर्ण जीवन पूर्णतः राज्य के अधीन हो गया तथा राज्य के ऊपर किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को अस्वीकार कर दिया गया। परिणामस्वरुप 19 वीं शताब्दी में अनेक राज्य स्वेच्छाचारी और निरकुंष बन गये। जिससे व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का लोप हो गया। अतः इस सर्वसत्तावाद के विरुद्ध प्रबल जनमत जागृत हुआ जिसने बहुलवाद के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की।

(2) वर्तमान लोक कल्याणकारी राज्य के युग में राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है अर्थात राज्य का उत्तर दायित्व मानव जीवन में 'पालने से लेकर कब्र' तक हो गया है। कार्यभार की अधिकता के कारण राज्य के लिए यह सम्भव नहीं रह गया है कि वह मानवीय जीवन की सभी आवश्यकताओं को कुशलता पूर्वक पूरा कर सके। अतः यह आवश्यक हो गया है कि राज्य शक्ति को विकेन्द्रित कर उसके कार्यो को अन्य संस्थाओं में विभाजित कर दिया जाय।

(3) विगत सौ वर्षों में विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ है। जिससे दुनिया के देष एक-दूसरे के करीब आये हैं अर्थात विष्व के देशों की दूरियाँ सिमट गयी हैं। ऐसे में किसी एक देष में घटने वाली घटना दूसरे देषों को प्रभावित किये बिना नही रहती है। आज राज्य सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय परिवार क एक सदस्य मात्र रह गय है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विकास बहुलवाद के विकास में एक प्रमुख सहायक तत्व रहा है।

(4) प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की त्रुटियों ने भी यह आवश्यक बना दिया है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को स्थापित किया जाय। क्योंकि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व में समाज के सभी वर्गो व व्यवसायों के लोगों को प्रतिधित्व नही हो पाता है अतः बहुलवादियों ने नारा बुलंद किया कि आर्थिक, व्यावसायिक और धार्मिक समूहों को भी सत्ता प्रदान की जाय तथा इन्हें ही प्रतिनिधित्व का आधार बनाया जाय। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थक राज्य के उग्र विरोधी तथा समुदायों के समर्थक थे।

(5) बहुलवाद के प्रतिपादक गियर्क, मेटलैण्ड और फिगिस ने मध्यकाल की उस व्यवस्था की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जिसमें आर्थिक संघों को सर्वोच्चता प्राप्त थी तथा शक्ति एक जगह केन्द्रित नहीं थी बल्कि यह आर्थिक संघों में बटी हुई थी। जो आन्तरिक रुप से स्वतन्त्र थे। जिस प्रकार मध्यकाल में समुदायों की सत्ता उपयोगी व राज्य के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र थी। उसी प्रकार वर्तमान समय में सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि समुदायों की स्थिति पायी जाती है। अतः इन समुदायों को राज्य के समान मानते हुए सामासजिक सत्ता को संघात्मक बनाया जाना चाहिए।

(6) मिल, लॉक, मान्टेस्क्यू, स्पेंसर आदि व्यक्तिवादियों ने व्याक्ति के महत्व का प्रतिपादन करते हुए राज्य के अद्धैतवादी सम्प्रभुता पर प्रहार किया। इनका मानना था कि राज्य व्यक्ति के लिए है व्यक्ति राज्य के लिए नहीं। अतः यह आवष्यक है कि राज्य की सम्प्रभुता इतनी अधिक न हो जाय कि राज्य के लिए व्यक्ति के अस्तित्व और उसके हितों को बलिदान कर दिया जाए। इस प्रकार इन विचारकों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य सता का विरोध किया। इस पृष्ठभूमि ने बहुलवादी विचारधारा के विकास की दिषा में मार्ग प्रषस्त किया।

(7) आधुनिक युग में कुछ नवीन विचारधराओं का उदय हुआ है जो राज्य को अलाभकारी तथा निरर्थक मानती है। इनमें अराजकतावाद, संघवाद तथा श्रेणी समाजवाद प्रमुख हैं। इसमें अराजकतावाद राज्य शक्ति (सम्प्रभुता) के अस्तित्व को ही समाप्त करने का पक्षपोषण करता है क्योंकि इसका मानना है कि सामाजिक व्यवस्था व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए राज्य के सम्प्रभुता का अस्तित्व न तो आवश्यक है और न ही उपयोगी। संघवादी विचारक सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर आधारित संघो के पारस्परिक सहयोग पर आधारित समाजो मानव कल्याण का साधन है। जबकि श्रेणी समाजवाद के समर्थकों का मानना है कि वास्तविक कल्याण सम्प्रभुता के बहुलवादी आधार पर निर्मित समाज में ही सम्भव है। इस प्रकार उक्त तीनों विचारधाराओं ने भी राज्य के एकल सम्प्रभुता का विरोध कर बहुलवाद के लिए पथ प्रषस्त किया।

उपर्युक्त विष्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि बहुलवाद के विकास में सबसे मूल भावना यह रही है कि राज्य के सम्प्रभुता की एकलवादी धारणा न तो वांछनीय है और नहीं समाज कल्याण के दृष्टि से उपयोगी ही है।

10.4.3 राज्य की सम्प्रभुता पर बहुलवादी आक्षेप

बहुलवादियों ने अनेक आधारों पर राज्य सम्प्रभुता के परंपरागत अद्वैतवादी सिद्धान्त को अतार्किक ठहराते हुए अपनी विचारधारा को स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके द्वारा राज्य की सम्प्रभुता पर निम्निलिखित आक्षेप लगाये गये है:

(1) बहुलवादियों के अनुसार वर्तमान में सामाजिक जीवन की जटिलताओं तथा मानव की बढ़ती हुई आवष्यकताओं के कारण राज्य के लिए यह असम्भव सा हो गया है कि वह मानव जीवन के समस्त उद्देष्यों की पूर्ति कर सके। ऐसे में व्यक्ति अपनी आवष्यकतानुसार अनेक प्रकार के संघो का निर्माण करता है। जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, व्यवसायक, आर्थिक आदि प्रमुख हैं। मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए यह आवष्यक है कि ये समुदाय राज्य से स्वतन्त्र रह कर अपने दायित्यों को निर्वहन करें। लास्की ने लिखा है कि आवष्यकताओं के दृष्टि से पूर्ण होने के लिए सामाजिक संगठन के ढाँचे का स्वरुप घीय होना चाहिए। राज्य मानव जीवन के केवल राजनीतिक आवश्यकताओं को पूरा करता है जबकि अन्य समुदायों द्वारा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और मनोविनोद सम्बन्धी आवष्यकताओं को पूरा किया जाता है। वर्तमान युग में सामूहिक रुप से ये सभी समुदाय राज्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। ये समुदाय इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि इनमें से कुछ की उत्पत्ति तो राज्य से भी पूर्व हुई है। परिवार और धर्म ऐसे ही समुदाय हैं। इन समुदायो ने कई बार अपने हित में राज्य को झुकाने के लिए बाध्य भी किया है जैसे अमेरिका के रेलवे श्रमिक संघो ने अमेरिकन सरकार को विवष कर ऐसा कानून बनवाया कि उनसे 8 घण्टे से अधिक काम न लिया जा सके।

(2).बहुलवादियों के अनुसार इतिहास इस बात का साक्षी है कि पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की सत्ता उस रुप में कभी नहीं रही है जिस रुप में इसकी कल्पना परम्परावादी सम्प्रभुता के सिद्वान्तकारों ने की है। प्राचीन यूनान में यद्यपि अरस्तू नें राज्य को सर्वोच्च समाजिक संगठन माना था फिर भी राज्य तत्कालीन परम्पराओं और नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता था न ही वह राज्य के कानूनों से ही ऊपर था। प्राचीन भारत में तो राजा के ऊपर धर्म का नियन्त्रण था अर्थात राजा कोई भी अधार्मिक कृत्य नहीं कर सकता था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रभुसत्ता का सिद्धान्त राज्य के लिए कभी भी आवश्यक नहीं रहा है।

(3) बहुलवाद के समर्थकों का मानना है कि यदि राज्य को सम्प्रभुता दे दी जाय तो वह निरंकुष हो जाता है। अत्यधिक शक्तिषाली राज्य व्यक्ति के विकास के लिए बाधक साबित होता है। राज्य हित व्यक्तिगत हित की अपेक्षा ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है अर्थात व्यक्ति राज्य के हित का साधन मात्र बन कर रह जाता है जबकि व्यक्ति राज्य के लिए नहीं बल्कि राज्य व्यक्ति के हितों की पूर्ति हेतु होता है। इसके अलावा राज्य को निरंकुषता प्राप्त होने पर व्यक्ति के लिए इस समय कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी जब कभी राज्य और अन्य समुदायों में टकराव हो जाय। इस स्थित में व्यक्ति को अपने विवेकानुसार भक्ति निर्धारित करने का अधिकार केवल बहुलवादी राज्य में ही सम्भव होगा।

(4) आधुनिक लोकतन्त्रों की सफलता एवं सुदृढ़ता के लिए भी शक्तियों का विकेन्द्रीकरण, आवष्यक माना जाता है जबकि परम्परागत सम्प्रभुता सिद्धान्त सारी शक्तियाँ राज्य में केन्द्रित करने का पक्षपोषण करता हैं। इसके अलावा मानव मस्तिष्क स्वकेन्द्रित होता है अतः वह कभी नहीं चाहता है कि उसके मामले में निर्णय लेने का अधिकार पूर्णरूपेण किसी दूसरे को प्राप्त हो जबकि सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य में सारे निर्णय राज्य द्वारा ही लिए जाते हैं। अपने मामले में निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त हो इसके लिए राज्य शक्ति का विकेन्द्रीकरण आवष्यक है। यह स्थिति बहुलवाद में ही सम्भव है।

(5) बहुलवादियों के अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेष मात्र नही है जैसा की राज्य सम्प्रभुता के समर्थक मानते है बल्कि कानून के विकास व निर्माण में राज्य इच्छा के अलावा अन्य कई चीजो का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसके अलावा राज्य कानून से उच्च भी नही होता है। वह तो देष काल और सामाजिक परिस्थितियो के अनुरुप कानून का उदघोषक मात्र होता है और शासक स्वयं भी देष के संवैधानिक विधि के अधीन होता है। डच महोदय ने कहा कि कोइ भी कानून केवल इस कारण मान्य नही होता कि उसे राज्य ने बनाया है। कानून का पालन तो व्यापक जनसमुदाय केवल इसलिए करता है क्योकि उसे यह प्रतीत होता है कि वह उसके हितो के सबसे अनुकुल है। जैसे चोरी, हत्या या बलात्कार को राज्य का कोई भी आदेष वैधानिक नही बना सकता क्योकि यह जन सामान्य के दृष्टि में अनैतिक है। इस प्रकार राज्य को कानून निर्माता या कानून से ऊपर नही माना जा सकता और नहीं वह सम्प्रभु हो सकता है।

(6) वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है जिसमें प्रत्येक राज्य परस्पर निर्भर हैं।आज दुनिया का कोई भी देष पूर्ण अर्थिक सन्तुष्टता का दावा नही कर सकता। इस स्थिति में राज्य को यदि सम्प्रभुता प्राप्त होगी तो राज्यो में आपसी विवाद या संघर्ष बढेगा जो विष्व शान्ति तथा समृद्धि के लिए घातक सिद्ध होगा इसके अतिरिक्त शान्ति व सहयोग बढाने के उद्देष्य से निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व कानून भी राज्य सम्प्रभुता को सीमित करते है। इसलिए विष्व के देषो के मध्य न केवल राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग देखने को मिलता है बल्कि आज विष्व के देषो मे सांस्कृतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक सहयोग अति आवश्यक हो गया है। इसके लिए राज्य के साथ-साथ अन्य समुदायो के भी सुदृढ़ किया जाना आज की आवष्यकता बन चुका है ।

अभ्यास प्रश्न 3

1. सम्प्रभुता के विभाजन के विचार के प्रतिपादक है।

(कबहुलवाद (घ) अराजकतावादी (ग) संघवादी (ख) समाजवादी

2. बहुलवाद का जन्मदाता - कौन है (जनक)

(क बोंदा (ख) ग्रीन (ग) ऑस्टिन (घ) मेटलैण्ड (

3. बहुलवाद किस सदी में अस्तित्व में आया -

(क (19 वीं सदी के अन्त में (ख)20 वीं सदी के अन्त में

(ग (13 वीं सदी के अन्त में)घ इनमें से कोई नहीं (

10.4.4 बहुलवाद की मूल मान्यताएँ

शाब्दिक दृष्टि से एक के स्थान पर अनेक की स्थापना ही बहुलवाद है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बहुलवाद वह राजनीतिक विचारधारा या सिद्वान्त है जो राज्य की सर्वोच्चता (सम्प्रभुता) को अस्वीकार करता है तथा उसके स्थान पर समाज के विभिन्न समुदायो को शक्ति व स्वतन्त्रता देने का प्रबल समर्थन करता है। ये समुदाय न केवल अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होगें बल्कि ये राज्य के समकक्ष भी होगें। बहुलवाद के समर्थको की कुछ मूल मान्यताए है जिनमे से प्रमुख का उल्लेख निम्नलिखित रूपो मे किया जा सकता है -

(1) बहुलवादियों की मान्यता है कि मानव जीवन बहुआयामी होता है इसलिए उसकी तरह-तरह की आवष्यकताएं होती है इन सभी आवष्यकताओं को अकेले राज्य पूरा नही कर सकता। अतः इन समुदायो का महत्व राज्य से कम नही होता है। राज्य मानव जीवन के राजनीतिक पहलू से सम्बधित है और बहुलवादियो के अनुसार उसे केवल अपने क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए। जिससे अन्य समुदाय स्वतन्त्र रूप से मानवीय जीवन के अन्य सभी पहलुओ का यथोचित विकास कर सकें। इस प्रकार बहुलवादी अन्य समुदायों को भी राज्य के समकक्ष तथा राज्य के समान ही अपने - अपने क्षेत्रों मे पूर्ण शक्ति देने का समर्थन करते हैं। लास्की के शब्दो मे ''समुदायो के अनेक प्रकारो मे से राज्य भी एक है और अन्य समुदायो की तुलना मे वह व्यक्ति की भक्ति का उच्चतर अधिकारी नहीं है।''

(2) बहुलवादी राज्य और समाज में अन्तर करते हैं तथा समाज को राज्य की अपेक्षा अधिक व्यापक संगठन करार देते हैं। समाज इतना व्यापक होता है कि राज्य रूपी संगठन भी उसी मे समाहित होता है। समाज अनेक समुदायो का समुच्चय होता है राज्य भी उन्ही मे एक है। राज्य समाज का एक ऐसा अंग है जो उद्देष्य और कार्यक्षेत्र के दृष्टि से समाज का साथी नही हो सकता है। मैकाइवर ने लिखा है कि राज्य एक ऐसा संगठन है जिसे समाज का समकालीन या सम विस्तार नहीं कहॉ सकता है राज्य का निर्माण तो समाज के अन्तर्गत एक निष्चत व्यवस्था के रूप में कुछ विषेष उद्देष्य की प्राप्ति हेतु ही किया गया है। लास्की का दावा है कि हम ब्रह्माण्ड नहीं है बल्कि अनेक ब्रह्माण्ड है और संगठन भी उतने ही

वास्तविकता लिए हुए हैं जितना कि राज्य। संगठनो का भी अपना एक संगठनात्मक ढाँचा होता है जो अपने आन्तरिक मामले में उतना ही स्वयत होते हैं जितना कि राज्य होते हैं। राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है जबकि संगठनो की सदस्यता ऐच्छिक होती है। राज्य का स्वरूप क्षेत्रीय सीमाओं द्वारा निर्धारित होता है जबकि संगठनो का क्षेत्र विभिन्न राज्यो की सीमाओ से परे भी देखने को मिलता है। मैकाइबर के शब्दो में यदि राज्य भंग होता है तो यह प्रकृति के अट्टहास की तरह है यदि यह दो टुकडो मे बंटता है तो यह हिंसा और प्रतिरोध का परिणाम है जबकि अन्य संगठनो के मामले में एसा नही देखने को मिलता है।

(3) बहुलवादी नियन्त्रित सम्प्रभुता का समर्थन करते है और कहते हैं कि सम्प्रभुता आन्तरिक तथा वाह्य दोनों क्षेत्रों में सीमित होती है। वाह्य क्षेत्र मे अनियन्त्रित सम्प्रभुता मानवता के लिए विनाशकारी साबित होगी जैसा कि दो विष्वयुद्वो के रूप में देखने को मिला हैं। वर्तमान परमाणु बंम के युग में वाह्य निरपेक्ष प्रभुसत्ता राष्ट्रो के अस्तित्व के लिए घातक साबित होगी आन्तरिक क्षेत्र में भी सम्प्रभुसत्ता अपने नागरिक तथा समुदायो के अधिकारों से सीमित होते हैं। व्लंटषली ने उचित ही कहा है कि राज्य सर्वसत्तावान नही है क्योकि वह बाहरी क्षेत्र में अन्य राज्यों के अधिकारो से सीमित है तथा आन्तरिक क्षेत्र मे वह स्वय अपनी प्रकृति तथा अपने नागरिको के अधिकारो से सीमित है।

(4) बहुलवादी केन्द्रीयकृत शासन नही बल्कि विकेन्द्रीकृत शासन सत्ता को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि क्षेत्रीय या स्थानीय समस्याए भी कम महत्व की नही होती हैं। इनका समाधन केन्द्रीकरण द्वारा नही बल्कि विकेन्द्रीकरण द्वारा ही सम्भव है। इनका मानना कि राज्य सत्ता व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर विभिन्न समुदायो में विभक्त कर दी जानी चाहिए। इस प्रकार एक एसे सामाजिक संगठन की स्थापना की जाय जिसमे सत्ता का स्वरूप अनिवार्य रूप से संघात्मक अर्थात विभिन्न स्तरों पर विभाजित हो। इस प्रकार का संघात्मक सामाजिक संगठन ही मानव जीवन के चहुमुखी विकास को सुनिष्चित करेगा। जिससे मानव को संतुष्टि प्राप्त होगी और वह आत्मिक विकास भी करेगा।

(5) यद्यपि बहुलवादी राज्य के सर्वोच्चता और निरंकुशता को तो अस्वीकारते है लेकिन फिर भी वे अराजकतावादियों या साम्यवादियो की भांति राज्य को समूल नष्ट नही करना चाहते है। वे समाज के विभिन्न संगठनो के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादो के निस्तारण के लिए अन्य संगठनो की अपेक्षा राज्य को प्राथमिकता देते हैं। फिर भी राज्य के उग्र या निरंकुष रूप को स्वीकार नही करते हैं।इसी कारण कहॉ जाता है कि बहुलवादी अराजकतवाद तथा अद्वैतवाद के बीच समन्वय स्थापित करते हुए अपनी धारणा को स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

(6)बहुलवाद अपने स्वरूप मे पूर्णतः लोकतान्त्रिक है क्योकि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक वह व्यावसायिक प्रतिनिधित्व तथा गुप्त मतदान का समर्थन करता है। यह एक एसे राज्य स्थापना करता है जिसमें सत्ता नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होता है। सत्ता का विभिन्न समुदायों में वर्गीकरण पूर्णतः जनतन्त्र के अनुरूप कहा जा सकता है।

10.4.5 बहुलवाद की समालोचना

यद्यपि बहुलवाद 20वीं शताब्दी का एक प्रमुख विचारधारा है। जो राज्य के सर्वोच्चता और निरंकुशता का प्रबल विरोध करता है। यह इसको विभाजित तथा प्रतिबन्धित भी करना चाहती है किन्तु यह कुछ काल्पनिक या गैर बैज्ञानिक उदारवादी आधरो पर खड़ा है। इसलिए आलोचको ने इसकी कटु आलोचनाएं की हैं। इनमें से कुछ प्रमुख का उल्लेख निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है:

(1) बहुलवादी राज्य की सम्प्रभुता को विभिन्न संघो या समुदायो मे विभाजित कर देना चाहते हैं। जबकि सम्प्रभुता को राज्य की आत्मा माना जाता है।इसके विभाजन का अर्थ होगा राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर देना। गिलक्राइस्ट ने कहा है कि यदि एक राज्य प्रभुसत्ता छोड़ देता है तो यह राज्य का अन्त होगा क्योंकि राज्य के विचार के लिए प्रभुसत्ता आवष्यक है। राज्य की नियन्त्रणकारी शक्ति को समाप्त करना अराजकता को जन्म देगा क्योंकि उस स्थिति मे प्रत्येक संघ को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार होगा। नियन्त्रण के अभाव में इन संघो के मध्य टकराव उत्पन्न होग जिसकी तार्किक परिणति अराजकता होगी। गिलक्राइस्ट के षब्दो में ‘‘यदि बहुलवाद को तार्किक निष्कर्ष तक ले जाया जाय तो इसका अर्थ होगा समाज का विघटन और शन्ति एवं व्यवस्था के स्थान पर विभिन्न समुदायों द्वारा अपनी-अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए संघर्ष।‘‘समाज में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य के पास नियन्त्रणकारी शक्ति का होना आवश्यक है।

(2) बहुलवाद पर एक गम्भीर आरोप यह भी लगाया जाता है कि यह अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है। एक तरफ तो बहुलवादी सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य की शक्तियों को सीमित करके शक्ति और स्वायत्तता का विकेन्द्रीकरण विभिन्न समुदायों में करना चाहते हैं तो वही दूसरी तरफ जब वे व्यवहारिक धरातल पर आते हैं तो महसूस करते कि राज्य के पास इतनी शक्ति अवश्य होनी चाहिए जिससे वह विभिन्न समुदायों के क्रियाकलापों को समन्वित करके विनियमन की भूमिका अदा कर सके । प्रश्न उठता है कि बाध्यकारी शक्ति के अभाव में राज्य इस कार्य को किस प्रकार कर पायेगें । निस्सन्देह व्यक्ति समूहो में संगठित होता हैं और ये समूह मानव व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने में प्रशंसनीय भूमिका अदा करते है। परन्तु इससे किसी भी रुप में राज्य की प्राथमिकता प्रभावित नही होती हैं। कोकर के शब्दों में यह बड़ा मनोरंजक अन्तर्विरोध हैं। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वे बड़े जोष के साथ प्रभुसत्ता का विरोध करते हैं और उसे राजनीति की शब्दावली तक से निकाल देना चाहते हैं किन्तु दूसरी ओर जब

वे राज्य के वास्तविक संगठन का वर्णन करते हैं तो उन्हें विवश होकर राज्य के सर्वोपरि स्थिति और प्रभुसत्ता को स्वीकार करना पड़ता है।

(3) बहुलवादी विचारधारा की यह मान्यता भी भ्रामक प्रतीत होती हैं कि समाज के विभिन्न संगठनों का कार्य क्षेत्र पूर्णतः पृथक होता हैं और मानवीय कार्यो को ऐसे विभागो में विभक्त किया जा सकता है जिसका एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो। जबकि वर्तमान सामाजिक जटिलताओं में मानव के सर्वांगीण विकास के लिए आवष्यक है कि व्यक्ति के लिए कार्य करने वाले सभी समुदायों में आपसी सहयोग और समन्वय होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जबकि इन संगठनों को नियन्त्रित व निर्देशित करने की शक्ति किसी एक संगठन या समुदाय के पास अवश्य हों। यह धारणा राज्य के सर्वोच्चता की उपादेयता को स्वयं सिद्ध कर देती है।

(4) बहुलवाद की आलोचना इस दृष्टि से भी की जाती है कि यह धारणा जिस निरंकुश अद्धैतवादी सम्प्रभुता के विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आयी है। वह केवल कल्पना मात्र है। हीगल के अतिरिक्त अन्य कोई भी सम्प्रभुता का समर्थक राज्य को उतनी निरंकुशता प्रदान नहीं करता जितनी की बहुलवादियों ने कल्पना की है। बोदां, हॉब्स, रूसो, ऑस्टिन आदि ने सम्प्रभुता पर प्राकृतिक, नैतिक या व्यवहारिक कुछ न कुछ नियन्त्रण अवष्य स्वीकार किया है। कोकर के अनुसार इनमें से किसी भी दार्शनिक का यह दावा नहीं था कि सम्प्रभुता की अवज्ञा करना, उसको चुनौती देना, उसकी आलोचना करना, अथवा विरोध करना अवष्यमेव अनैतिक, तर्कहीन, असामाजिक तथा अव्यवहारिक है। आशीर्वादम ने लिखा है कि बहुलवादी जिस अद्वैतवादी शत्रु पर आक्रमण करते हैं बहुत कुछ सीमा तक वह एक कल्पानात्मक जीव है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर बहुलवादियों द्वारा एकलवादी सम्प्रभुता का विरोध भी त्रृटिपूर्ण है। यह सत्य है कि राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय आचार-व्यवहार और कानून का आदर करना चाहिए। लेकिन कानूनीतौर पर राज्य इन सीमाओं का पालन करने के लिए बाध्य नहीं होता है। जनमत या नैतिकता के दबाव में वह भले ही इसका पालन करें। स्वयं कई अद्वैतवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की सम्प्रभुता को सीमित माना है। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से वाह्य सम्प्रभुता भले ही अक्षुण्ण प्रतीत हो व्यवहार में उस पर कई प्रतिबन्ध होते हैं।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी बहुलवाद के महत्व को पूर्णतः नकारा नही जा सकता है। यह सामूहिक या सामुदायिक जीवन के महत्व को स्थापित करता हैं। राज्य की निरपेक्ष सम्प्रभुता के विरूद्ध प्रजातन्त्र के अनुरूप यह राज्य शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर बल देता है। वर्तमान जटिलतापूर्ण सामाजिक जीवन में मानवीय जीवन के सर्वांगीण विकास में समुदायों के महत्व को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता है। समाज के संघात्मक प्रवृत्तियों ने सत्ता के संघात्मक स्वरूप को अनिवार्य बना दिया है। आन्तरिक स्तर

पर जनमत तथा नागरिको के अधिकार सम्प्रभु शक्ति को सीमित करते हैं तो वाह्य या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ, आसियान, सार्क आदि जैसे क्षेत्रिय संगठनों ने भी राष्ट्रीय राज्य की निरंकुशता को सीमित किया है। ये प्रवृत्तियां बहुलवादी धारणा के अनुरूप कही जा सकती है।

अभ्यास प्रश्न 4

(1) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

(2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1. एक के स्थान पर अनेक की स्थापना ही बहुलवाद है- असत्य है। / सत्य है

2. बहुलवाद का आधार मानव का बहुआयामी जीवन नहीं है असत्य है। / सत्य है -

3. -

(क) आशीर्वादम मेटलैण्ड (घ) लिण्डसे (ग) बार्कर (ख)

4. लोकतन्त्र के अनुरूप है -

(क इनमें से कोई नहीं (ग) बहुलवाद (ख) एकलवाद (

10.5 सारांश

ऑस्टिन के अनुसार सम्प्रभुता राज्य में किसी एक व्यक्ति या समुदाय में निहित होती है जो स्वोंच्च सत्ताधारक होता है। उसके आदेशों का पालन जन सामान्य के लिए अनिवार्य होता है। यदि कोई व्यक्ति या समुदाय कानूनो अर्थात सम्प्रभु के इच्छा(आदेशों) की अवहेलना करता है तो सम्प्रभु उसे कठोर से कठोर दण्ड दे सकता है। ऑस्टिन का सम्प्रभु बैधानिक है उसके व्यवहारिक जीवन में उतनी सर्वोच्चता नहीं मिल सकती हैं। जितना की ऑस्टिन ने कल्पना की है बर्तमान अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में यह काफी सीमित हो चुकी हैं।

10.6 शब्दावली

वैधानिक- विधि सम्मत अर्थात विधि के अनुरूप होना।

राजनीतिक समाज- ऐसा समाज जो राज्य के क्रियाकलापों में सहभागी हो।

अद्वैतवाद- इसके समान किसी और का न होना

परम्परा- ऐसी व्यवस्था जो दीर्घ काल से समाज के लोगों द्वारा स्वीकार की जाती हो।

निरंकुश - जिस पर किसी भी प्रकार का अंकुश न हो।

अविभाज्य- जिसका विभाजन असम्भव हो।

कानून- राज्य का ऐसा आदेश जो समाज में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के उद्देष्य से निर्गत होता है तथा इसका उल्लघंन करने पर दण्ड का प्रावधान होता है।

बहुलवाद- एक के स्थान पर अनेक की स्थापना ही बहुलवाद है।

समुदाय- मानव द्वारा अपनी आवष्यकताओं को पूर्ण करने के उद्देष्य से निर्मित समूह

बहुआयमी- जिसके कई पक्ष होते हैं।

व्यवसायिक प्रतिनिधित्व- कार्य या व्यवसाय के आधार पर प्रतिनिधि का निर्धारण

राज्य पूजा का सिद्धान्त- राज्य को रहस्यमय देवता मान लेना

लोक कल्याणकारी- समाज के सभी लोगों के न्यूनतम आवष्यकताओं को पूरा करने का प्रयास

अराजकतावाद- राज्य के अस्तित्व को समाप्त कर देने का समर्थन करने वाली विचारधारा

भूमण्डलीकरण- दुनिया के देशों की दूरी का सिमट सा जाना या दुनिया के देशों में निकटता का बढ़ना

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. (ख) ऑस्टिन 2. (ग) ऑस्टिन 3. सत्य है। 4. असत्य है।

अभ्यास प्रश्न 2 1. बहुलवाद 2. सत्य है। 3. आशीर्वादम

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 गार्नर-- पॉलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेंट

2.ऑस्टिन--- लेक्चर्सऑन जुरिसप्रडेंस

3.गेटिल ---पोलिटिकल साइंस

४ .डॉ. पुखराज जैन -- राजनीतिक सिद्धान्त

5.एस.सी. सिंघल--- राजनीतिक सिद्धान्त

10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

१ .वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली

२ .डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

3.राजनीति के सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेषालय दिल्ली विष्वविद्यालय

4. जे0सी0जौहरी एवं सीमा चौधरी ----आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त , स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.सम्प्रभुता के अद्वैतवादी अवधारणा का विस्तृत वर्णन करें।

2.ऑस्टिन सम्प्रभुता को विधिक दृष्टि से असीमित मानता है लेकिन व्यवहार में इस पर कई प्रतिबन्ध (सीमाए) हैं। व्याख्या करें।

3.ऑस्टिन के सम्प्रभुता पर बहुलवादी आक्षेपों का विस्तृत वर्णन करें।

4.ऑस्टिन के सम्प्रभुता के लक्षणोंकी चर्चा करें।

5.भूमण्डलीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ,पर्यावरणीय समस्याओं ने सम्प्रभुता को किस हद तक प्रभावित किया है। इस सन्दर्भ में अपना विचार व्यक्त करें।

6. बहुलवाद की मूल मान्यताओ का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

इकाई 11: स्वतंत्रता ,समानता और अधिकार

11.0 प्रस्तावना
11.1 उददेश्य
11.2 स्वतन्त्रता : अर्थ, परिभाषा
11.3 स्वतन्त्रता का नकारात्मक दृष्टिकोण
11.4 स्वतंत्रता का सकारात्मक दृष्टिकोण
11.5 स्वतंत्रता पर समकालीन बहसें
11.6 स्वतंत्रता के विविध रूप
11.7 समानता के बुनियादी सिद्धांत
11.8 समानता के अर्थ के सम्बन्ध में इसके दो पहलू
11.9 समानता के विभिन्न प्रकार
11.10 समानता और नारीवाद
11.11 स्वतंत्रता और समानता में सम्बन्ध
11.12 अधिकार : अर्थ और परिभाषा
11.12.1 अधिकारों का वर्गीकरण
11.13 अधिकार के विभिन्न सिद्धांत
11.14 सारांश
11.15 शब्दावली
11.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.17 संदर्भ ग्रन्थ सूची
11.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.19 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

स्वतंत्रता, जिसे अक्सर आज़ादी कहा जाता है, राजनीतिक दर्शन और सामाजिक विमर्श में एक मौलिक अवधारणा है। इसमें व्यक्तिगत स्वायत्तता और बाहरी ताकतों द्वारा जबरदस्ती या उत्पीड़न की अनुपस्थिति का विचार शामिल है। स्वतंत्रता व्यक्तियों को सरकार, समाज या अन्य संस्थाओं के अनुचित हस्तक्षेप के बिना विकल्प चुनने, अपने लक्ष्यों का पीछा करने और अपनी मान्यताओं को व्यक्त करने का अधिकार देती है।

स्वतंत्रता की अवधारणा पूरे इतिहास में लोकतांत्रिक समाजों और मानवाधिकार आंदोलनों की आधारशिला रही है। इसे मानवीय गरिमा और एक न्यायपूर्ण एवं न्यायसंगत समाज की नींव का एक अनिवार्य पहलू माना जाता है। स्वतंत्रता के विभिन्न रूप, जैसे राजनीतिक स्वतंत्रता (सरकार में भाग लेने और निर्णय लेने में अपनी बात रखने का अधिकार), आर्थिक स्वतंत्रता (अत्यधिक नियमों के बिना व्यापार और वाणिज्य में संलग्न होने की स्वतंत्रता), और नागरिक स्वतंत्रता (व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अनुचित सरकारी हस्तक्षेप के खिलाफ सुरक्षा), मानव अधिकारों और व्यक्तिगत कल्याण की सुरक्षा के लिए केंद्रीय हैं।

समानता एक मौलिक और सार्वभौमिक अवधारणा है जो मानव अधिकारों, सामाजिक न्याय और नैतिक सिद्धांतों के केंद्र में स्थित है। यह सभी व्यक्तियों के साथ उनकी जाति, लिंग, धर्म, सामाजिक आर्थिक स्थिति या किसी अन्य विशेषता की परवाह किए बिना निष्पक्षता के साथ व्यवहार करने के विचार का प्रतीक है। समानता की अवधारणा एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहती है जहां सभी को समान अवसर, अधिकार और संसाधनों तक पहुंच प्राप्त हो, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूरी क्षमता तक पहुंचने और सम्मानजनक जीवन जीने की अनुमति मिले।

समानता की अवधारणा आधुनिक राजनीतिक विमर्श और विचार में एक केंद्रीय केंद्र बिंदु के रूप में उभरी है, जो जन्म के आधार पर सामाजिक पदानुक्रम की ऐतिहासिक स्वीकृति से एक महत्वपूर्ण प्रस्थान का प्रतीक है। अतीत में, प्राकृतिक पदानुक्रम की धारणाएँ प्रचलित थीं, लेकिन समकालीन राजनीतिक सोच मूल रूप से सभी मनुष्यों की अंतर्निहित समानता में मूलभूत विश्वास पर टिकी हुई है। इस बदलाव को 1711 9 में फ्रांसीसी क्रांति और अमेरिकी गृहयुद्ध जैसी महत्वपूर्ण घटनाओं के माध्यम से प्रमुखता से प्रदर्शित किया गया, जिसने लोकतंत्र, समानता और स्वतंत्रता के सिद्धांतों को रेखांकित किया। फ्रांसीसी क्रांति ने मध्ययुगीन पदानुक्रम को चुनौती दी, जबकि अमेरिकी गृहयुद्ध ने नस्लीय असमानताओं पर प्रकाश डाला। फिर भी, समानता के विचार को अपनाना बाधाओं से रहित नहीं था।

20वीं सदी की शुरुआत में, आर.एच. टावनी ने ब्रिटिश समाज में प्रचलित "असमानता के धर्म" के बारे में चिंता व्यक्त की। उन्होंने न केवल असमानताओं के अस्तित्व पर बल्कि ऐसी असमानताओं के खतरनाक सामान्यीकरण पर भी अफसोस जताया। हालाँकि, समय के साथ, समानता की धारणा को व्यापक स्वीकृति मिली, जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुए परिवर्तनों से उत्प्रेरित हुई और उपनिवेशवाद और महिला आंदोलन से प्रेरित हुई। आज, समानता मानव समाज की संरचना के लिए आधारशिला के रूप में खड़ी है, फिर भी विवादास्पद बहस इसके दायरे और अनुप्रयोग के इर्द-गिर्द घूमती है। विशेष रूप से विवादास्पद धन और आय वितरण में समानता का अनुप्रयोग है, जिसमें समता-विरोधी विचार पुनरुत्थान का अनुभव कर रहे हैं। इसे राजनीतिक अर्थव्यवस्था की एक धारा द्वारा बढ़ावा दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि समतावादी उपाय बाजार की दक्षता में बाधा डालते हैं और अंततः सभी के लिए नकारात्मक परिणाम पैदा करते हैं।

अधिकार सामाजिक जीवन की वह परिस्थितियां हैं जिनके आभाव में कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता"। लोकतान्त्रिक देशों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सूचीबद्ध कर दिया जाता है। संविधान द्वारा प्रदान किये गये अधिकारों की सूची को अधिकारों का घोषणा पत्र कहा जाता है। यह घोषणा पत्र अधिकारों के उल्लंघन होने पर उपचार भी सुनिश्चित करता है । भारत के संविधान निर्माताओं ने हर व्यक्ति के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय उपलब्ध कराने के लिए मूल अधिकारों का प्रावधान किया।

11 .1 उद्देश्य

1. स्वतंत्रता के अर्थ और परिभाषा को जान पायेंगें।

2. स्वतंत्रता के विविध रूपों को समझ पायेंगें।

3. स्वतंत्रता के दृष्टिकोण सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रता को जान पायेंगें।

4. समानता के अर्थ को समझ सकेगें।

5. समानता के विभिन्न प्रकारों को जान पायेंगें।

6. समानता के बुनियादी सिद्धांतों को जान पायेंगें।

7. समानता और स्वतंत्रता के मध्य सम्बन्ध को जान पायेंगें।

8. यह समझ सकेगें कि समानता और स्वतन्त्रता एक दूसरे के पूरक है।

9. अधिकार और उसके विभिन्न प्रकारों को भी समझ सकेगें।

11.2 स्वतंत्रता: अर्थ, परिभाषा

स्वतन्त्रता का अंग्रेजी रूपान्तर 'लिबर्टी' लैटिन भाषा के 'लिबर' शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है 'बन्धनों का अभाव'। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए मनुष्य असीमित स्वतन्त्रता का उपभोग कर ही नहीं सकता। उसे सामाजिक नियमो की मर्यादा के अन्तर्गत रहना होता है। अतः राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की जिस रूप में कल्पना की जाती है, उस रूप में स्वतन्त्रता मानवीय प्रकृति और सामाजिक जीवन के इन दो विरोधी तत्वों (बन्धनों व अभाव और नियमों के पालन) में सामंजस्य का नाम है। और इनकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि ''स्वतन्त्रता व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है बशर्ते कि इनसे दूसरे व्यक्ति की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न पहुँचे।

शीले के अनुसार - ''स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है''

प्रो0 लास्की के शब्दों में, ''स्वतन्त्रता मेरा अभिप्राय यह है कि उन सामाजिक परिस्थितियों के अस्तित्व पर प्रतिबन्ध न हो, जो आधुनिक सभ्यता में मनुश्य के सुख के लिए नितान्त आवश्यक है।

गैटल ने कहा है, ''स्वतन्त्रता का समाज में केवल नकारात्मक स्वरूप ही नहीं है, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है। स्वतन्त्रता के सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप ही नहीं, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है।'' स्वतन्त्रता के सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप की नकारात्मक स्वरूप से भिन्नता बताते हुए टी0एस0 ग्रीन ने लिखा है कि ''जिस प्रकार सौन्यर्य कुरूपता के अभाव का नाम ही नहीं होता, उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों के अभाव का नाम नहीं है। आगे चलकर ग्रीन ही स्वन्त्रता के सकारात्मक रूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''स्वतन्त्रता ऐसे कार्य करने और उपयोग करने की शक्ति कानाम जो करने योग्य या उपभोग के के योग्य हो।''

अतः स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि ''स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी अवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाऐं प्राप्त हो।''

11.3 स्वतन्त्रता का नकारात्मक दृष्टिकोण

स्वतंत्रता की नकारात्मक धारणा का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी दर्शन के साथ हुआ। नकारात्मक स्वतंत्रता मुख्यतः दो पूर्व मान्यताओं पर आधारित है: (1) हर व्यक्ति बेहतर तरीके से अपना हित जानता है। यह सूत्र इस मान्यता पर टिका है कि वह एक विवेकशील प्राणी है। () राज्य की भूमिका बहुत ही सीमित है। व्यक्ति अपना सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है और राज्य व्यक्ति के लक्ष्यों और उद्देश्यों के बारे में फैसला नहीं कर सकता।

उदारवादी विचारकों के अनुसार नकारात्मक स्वतंत्रता बाहरी बाधाओं या हस्तक्षेप की अनुपस्थिति है। दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति को तब नकारात्मक रूप से मुक्त माना जाता है जब कोई बाहरी बाधाएं, प्रतिबंध या दबाव उसे वह करने से नहीं रोकता जो वह चाहता है। नकारात्मक स्वतंत्रता गैर-हस्तक्षेप पर जोर देती है, और यह अक्सर सीमित सरकार के विचार और व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा से जुड़ी होती है। नकारात्मक स्वतंत्र के समर्थक प्राकृतिक दशा में विश्वास रखते हैं जिसमें व्यक्ति को असीमित प्राकृतिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है. लॉक के अनुसार " सामाजिक समझौते के उपरान्त राज्य की उत्पत्ति का उद्देश्य मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकारों का संरक्षण करना है।

इस विचार के समर्थक जॉन लॉक, डेविड ह्यूम, आदम स्मिथ, थॉमस पेन, हर्बर्ट स्पेंसर, बेन्थम, ज़े.एस.मिल थे. 0 वीं शताब्दी में इसयाह बर्लिन, मिल्टन फ्रीडमैन, हेयक, नौजिक आदि रहे हैं।

स्वतंत्रता की धारणा को नकारात्मक स्वतंत्रता और सकारात्मक स्वतंत्रता में वर्गीकरण का श्रेय इसयाह बर्लिन को जाता है। बर्लिन ने 1958 में अपनी प्रसिद्ध एवं विख्यात पुस्तक "Two Concepts on Liberty" प्रकाशित की। उन्होंने 1969 में इस पुस्तक का संशोधन किया और इस पुस्तक को "Four Essays on Liberty" के नाम से प्रकाशित किया।

स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण का सबसे अधिक प्रमुख रूप में प्रतिपादन **जे0एस0 मिल** के द्वारा 1859 ई0 में प्रकाशित अपने निबन्ध 'स्वतन्त्रता' में किया गया है। मिल का कथन है कि व्यक्ति का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का उच्चतम एवं अधिकतम विकास है और यह विकास केवल स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है। यदि व्यक्ति को यह स्वाधीनता न दी जाए तो मानव जीवन का मूल लक्ष्य ही विफल हो जाएगा। समाज की उन्नति और विकास के लिए भी व्यक्ति को अधिकतम स्वाधीनता देना आवश्यक है। इस प्रकार मिल के अनुसार, "व्यक्ति के जीवन में राज्य का न्यूनतम हस्तक्षेप और अधिकतम सम्भव सीमा तक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की छूट ही स्वतन्त्रता है और वह इस अपनाने पर बल देता है"। मिल व्यक्ति-स्वतता की प्रबलतम समर्थक है।

मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दो पहलुओं पर बल देता है- विचार स्वन्त्रता और कार्य स्वतन्त्रता।

मिल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा राज्य के द्वारा किसी भी प्रकार की विचारधारा या भावभिव्याप्ति पर बन्धन नहीं लगाया जाना चाहिए।

कार्य स्वतन्त्रता के विषय में, मिल मानव कार्यो को दो भागों में विभाजित करता है - (1) स्व-विषयक () पर-विषयक। स्व-विषयक अर्थात व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित () पर-विषयक अर्थात ऐसे कार्य, जिनका प्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियों के जीवन पर पड़ता है।

मिल का कथन है कि स्व-विषयक कार्यो में व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त होनी चाहिए, लेकिन पर-विषयक कार्यो में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित होती है, विशेषकर जबकि उसके कार्यो से समाज के अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचती हो।

मिल व्यक्ति के जीवन पर 'न्यूनतम प्रतिबन्धों की स्थिति' को स्वतन्त्रता का नाम देते हुए स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है। आज की परिस्थितियों में मिल की इस स्वतन्त्रता को वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता है।

फ्रेडरिक हेयक नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक रहे हैं। हेयक के अनुसार कोई भी व्यक्ति तभी स्वतंत्र है जब वह किसी और व्यक्ति की मनमानी इच्छा के दमन के अधीन नहीं है।

11.4 स्वतंत्रता का सकारात्मक दृष्टिकोण

सकारात्मक स्वतंत्रता, स्वयं को नियंत्रित करने और अपने तर्कसंगत हितों के अनुरूप कार्य करने में सक्षम होने का विचार शामिल है। यह बाहरी बाधाओं की अनुपस्थिति से परे है और व्यक्ति की जिम्मेदार विकल्प चुनने और अपने जीवन का स्वामी बनने की क्षमता पर जोर देता है। जबकि नकारात्मक स्वतंत्रता बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त होने के बारे में है, सकारात्मक स्वतंत्रता स्व-निर्देशित, सार्थक और तर्कसंगत जीवन जीने के लिए स्वतंत्र होने के बारे में है। नकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक उन विशिष्ट क्षेत्रों की सुरक्षा पर ध्यान केंद्रित करते हैं जहां कोई व्यक्ति स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकता है, सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थकों का लक्ष्य अधिक महत्वाकांक्षी है: उनका लक्ष्य स्व-निर्धारित कार्रवाई के दायरे को उसकी पूर्ण सीमा तक विस्तारित करना है। वे दो अलग-अलग दृष्टिकोणों के माध्यम से इस उद्देश्य को आगे बढ़ाते हैं।

सबसे पहले, सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक आंतरिक प्रतिबंधों को कार्रवाई में बाधा मानते हैं। उदाहरण के लिए, रूसो का मानना था कि इच्छाओं या जुनून के आगे झुकना स्वतंत्रता के विपरीत है। उनके अनुसार, इच्छाएँ अक्सर पर्यावरण और पालन-पोषण जैसे बाहरी कारकों से प्रभावित होती हैं।

रूसो के अनुसार, सच्ची स्वतंत्रता सचेतन और तर्कसंगत रूप से उन इच्छाओं को पूरा करने का चयन करने में निहित है जो वास्तव में किसी के स्वयं को प्रतिबिंबित करती हैं, न कि केवल भूख के आगे झुकना। कांत ने एक समान दृष्टिकोण साझा किया, जिसमें कहा गया कि वास्तविक स्वतंत्रता में तर्कसंगत सिद्धांतों के आधार पर इच्छाओं का चयन करना शामिल है जिनका किसी ने समर्थन किया है।

दूसरे, सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक लोकतांत्रिक निर्णय लेने वाले तंत्र के माध्यम से स्व-निर्धारित कार्रवाई का विस्तार करना चाहते हैं। केवल व्यक्तिगत जीवन पर कानूनों के प्रभाव को कम करने पर ध्यान केंद्रित करने के विपरीत, सकारात्मक स्वतंत्रता लोकतांत्रिक भागीदारी द्वारा परिभाषित स्व-निर्मित कानूनों के तहत रहने पर जोर देती है। रूसो की लोकतंत्र की वकालत इस दृष्टिकोण का उदाहरण देती है, जिसमें कहा गया है कि सच्ची स्वतंत्रता के लिए कार्यों को नियंत्रित करने वाले नियमों को आकार देने में अपनी बात कहने की आवश्यकता होती है। रूसो के लिए, नागरिक स्वतंत्रता में सामूहिक कानून में भाग लेना शामिल है जो सामान्य हित के साथ संरेखित होता है, जिससे व्यक्तियों को अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण रखने की अनुमति मिलती है। वां। ग्रीन ने सकारात्मक स्वतंत्रता का भी समर्थन किया, इसे एक सकारात्मक शक्ति या दूसरों के साथ साझा की गई क्षमता के रूप में परिभाषित किया, जो व्यक्तियों को कुछ सार्थक करने या आनंद लेने और खुद को सर्वश्रेष्ठ बनाने में सक्षम बनाता है।

दोनों जे.एस. मिल और टी.एच. ग्रीन ने व्यक्तियों को उनकी क्षमता तक पहुंचने में सक्षम बनाने में स्वतंत्रता के मूल्य को पहचाना, फिर भी वे इसकी परिभाषा पर असहमत थे। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है: व्यक्तिगत स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है, और इसके मूल्य पर आम सहमति अलग-अलग व्याख्याओं को क्यों जन्म देती है? स्वतंत्रता को परिभाषित करने में यह विचलन अवधारणा की सूक्ष्म और बहुआयामी प्रकृति को रेखांकित करता है, जो व्यक्तिगत एजेंसी, सामाजिक भागीदारी और एक सार्थक और पूर्ण जीवन की खोज के बीच जटिल परस्पर क्रिया को दर्शाता है।

सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा में बुनियादी विचार यह है कि हर व्यक्ति के आत्मभाग के दो भाग होते है-उच्चतर आत्म और निम्नतर आत्म। व्यक्ति का उच्चतर आत्म उसका तार्किक आत्म होता है और व्यक्ति के निम्नतर आत्म पर उसका प्रभुत्व होना चाहिए। सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि किसी तरह की दखलंदाजी न हो बल्कि इसमें यह विचार भी शामिल है कि व्यक्ति अपना मालिक हो और उसके उच्चतर आत्म का निम्नतर आत्म पर प्रभुत्व हो।

इस अवधारणा के समर्थक टी.एच.ग्रीन, बोसांके, हौबहाउस,लिंडसे, बार्कर, लास्की, मैकाइवर आदि थे।

मैक्फर्सन ने अपनी पुस्तक Democratic Theory में सकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थन किया है। मैक्फर्सन के अनुसार सकारात्मक स्वतंत्रता मानव के पूर्ण रूप में कार्य करने की स्वतंत्रता है। किसी व्यक्ति की सकारात्मक स्वतंत्रता वास्तव में विकासशील अर्थ में व्यक्ति की शक्ति है। मैक्फर्सन के अनुसार मनुष्य की विकासात्मक शक्ति का अधिकतम विस्तार ही उसकी "सृजनात्मक स्वतंत्रता की कुंजी है"।

स्वतंत्रता की दो प्रचलित धारणाओं की सीमाओं को चुनौती देते हुए, समकालीन स्वतंत्रता सिद्धांतकार स्वतंत्रता के लिए आवश्यक सामाजिक पूर्वापेक्षाओं के निर्माण से जूझ रहे हैं। ये पूर्वापेक्षाएँ भौतिक और कानूनी प्रतिबंधों से कुछ डोमेन की पारंपरिक सुरक्षा के साथ-साथ व्यक्तियों को शिक्षा, आय और स्वास्थ्य देखभाल जैसे संसाधनों के न्यायसंगत प्रावधान से भी आगे जाती हैं। इन पहलुओं के साथ-साथ, दो अतिरिक्त प्रावधानों को स्वतंत्रता के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है, हालांकि वे कम सर्वसम्मत सहमति प्राप्त करते हैं।

स्वतंत्रता की तीसरी सामाजिक स्थिति किसी व्यक्ति के समाज के भीतर उसके सांस्कृतिक संदर्भ की मान्यता और मूल्यांकन के इर्द-गिर्द घूमती है। यह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि स्वायत्त प्राथमिकताओं के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सांस्कृतिक संदर्भ पर यह जोर सांस्कृतिक अधिकारों की वकालत के महत्व को रेखांकित करता है, जिसका अर्थ है कि यदि किसी समाज के भीतर विविध संस्कृतियों को समान रूप से सम्मान नहीं दिया जाता है तो सच्ची स्वतंत्रता से समझौता किया जाता है। संक्षेप में, यह स्थिति यह तर्क देती है कि विभिन्न संस्कृतियों का असमान मूल्यांकन उस समाज के भीतर व्यक्तियों की समग्र स्वतंत्रता को कम कर देता है।

स्वतंत्रता की चौथी सामाजिक स्थिति सामूहिक स्वतंत्रता की अवधारणा पर केंद्रित है, जो सार्वभौमिक मताधिकार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसी मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता से परे फैली हुई है। यह स्थिति उस चिंता को संबोधित करती है जो तब उत्पन्न होती है जब स्वतंत्रता को कुछ व्यक्तियों द्वारा दूसरों पर हावी होने की क्षमता के रूप में देखा जाता है। इस आपत्ति का प्रतिकार करने के लिए, उन तर्कों का पता लगाना आवश्यक हो जाता है जो एक व्यक्ति की स्वतंत्रता और दूसरों की स्वतंत्रता के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित करते हैं। दूसरे शब्दों में, सच्ची स्वतंत्रता में यह मान्यता शामिल है कि प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता से जुड़ी हुई है और उस पर निर्भर है।

11.5 स्वतंत्रता पर समकालीन बहस

नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता के आसपास के पारंपरिक विमर्श से आगे बढ़ते हुए, हम इस बात पर गौर करते हैं कि नारीवाद स्वतंत्रता की अवधारणा से कैसे जूझ रहा है। स्वतंत्रता की धारणा,

ऐतिहासिक रूप से, महिलाओं की चेतना में अपनी उत्पत्ति पाती है, विशेष रूप से प्राचीन ग्रीस में स्पष्ट है। ग्रीस में राज्य गठन के शुरुआती चरणों के दौरान, महिलाएं, जो सबसे पहले गुलाम थीं, स्वतंत्रता की एक अलग धारणा रखती थीं। यह धारणा, जिसे "व्यक्तिगत स्वतंत्रता" कहा जाता है, नकारात्मक स्वतंत्रता की आधुनिक अवधारणा से भिन्न थी। यह केवल बाहरी बाधाओं का अभाव नहीं था, जैसा कि नकारात्मक स्वतंत्रता से पता चलता है, बल्कि यह प्रेम, रिश्तेदारों की बहाली और साझा अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ एक दृष्टिकोण था।

स्वतंत्रता की इस वैकल्पिक समझ को पश्चिमी दुनिया में 1960 के दशक के बाद के महिला आंदोलन साहित्य में प्रमुखता मिली। इस परिप्रेक्ष्य पर विशेष रूप से महिला मनोविश्लेषणात्मक विचारकों द्वारा जोर दिया गया, जिन्होंने पता लगाया कि माँ-प्रधान पालन-पोषण का लड़कों और लड़कियों पर अलग-अलग प्रभाव कैसे पड़ता है। माँ के साथ प्रारंभिक संबंध बाहरी दुनिया के प्रति बच्चे की प्रतिक्रियाओं को आकार देता है, और यह प्रक्रिया सहजीवन, अलगाव और व्यक्तिगतकरण के चरणों के माध्यम से सामने आती है। पितृसत्तात्मक समाजों में, लड़के और लड़कियाँ अपनी माताओं की अलग-अलग प्रतिक्रियाओं के कारण इन चरणों को विशिष्ट तरीकों से अनुभव करते हैं।

11.6 स्वतन्त्रता के विविध रूप

फ्रांसीसी विद्वान मॉण्टेस्क्यू ने एक स्थान पर कहा है कि स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जिसके इतने अधिक अर्थ होते है और जिसके नागरिकों के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो। मॉण्टेस्क्यू के इस कथन का कारण यह है कि राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता के विविध रूप प्रचलित हैं, जिसमें अग्रलिखित प्रमुख हैं:-

1. प्राकृतिक स्वतन्त्रता:- इस धारणा के अनुसार प्रकृति की देन है और मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्रता होता है। इसी विचार को व्यक्त करते हुए केसो ने लिखा है कि "मनुष्य स्वतन्त्रत उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र यह बन्धनों में बंधा हुआ है"।

प्राकृतिक स्वतन्त्रता का आशय मनुष्यों की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता से है। संविदावादी विचारकों का मत है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व व्यक्तियों को इसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। संयुक्त राज्य अमरका की 'स्वाधीनता घोषणा' और फ्रांस की 'राज्यक्रान्ति' में इसी प्रकार की स्वत़ता का प्रतिपादन किया गया है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति प्रदत्त और निरपेक्ष होती है अर्थात् समाज या राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार से सीमित या प्रतिबन्धित नहीं कर सकता है।

परन्तु प्राकृतिक स्वतन्त्रता की यह धारणा पूर्णतया भ्रमात्मक है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की स्थिति में तो 'मत्स्य न्याय' का व्यवहार प्रचलित होगा और परिणामतः समाज में केवल कुछ ही व्यक्ति अस्थायी रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। व्यवहार में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है। केवल शक्तिशाली व्यक्तियों की स्वतन्त्रता।

. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता:- इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के उन कार्यो पर केाई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, जिनका सम्बन्ध केवल उसके ही अस्तित्व से हो। इस प्रकार के व्यक्तिगत कार्यो में भोजन, वस्त्र धर्म और पारिवारिक जीवन को सम्मिलित किया जा सकता है। व्यक्तिगत स्वन्त्रता के समर्थकों के अनुसार इनसे सम्बन्धित कार्यो में व्यक्तियों को पूर्ण स्वन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्तिवादी और कुछ सीमा तक बहुलवादी विचारकों ने इस स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया है। मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए ही कहते है कि "मानव समाज को केवल आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। अपने ऊपर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा परा व्यक्ति सम्प्रभु हैं।

8. नागरिक स्वतन्त्रता:- नागरिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति की उन स्वतन्त्रताओं से है जो व्यक्ति या राज्य का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। नागरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर और अधिकार प्रदान करना होता है। अतः स्वभाव से ही यह स्वतन्त्रता असीमित या निरंकुश नहीं हो सकती है।

नागरिक स्वतन्त्रता के दो प्रकार होते है - (1) शासन के विरोध की स्वतन्त्रता () व्यक्ति को व्यक्ति और व्यक्तियों के समुदाय से स्वतन्त्रता। शासन के विरूद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता लिखित या अलिखित संविधान द्वारा मौलि अधिकारों के माध्यम से या अन्य किसी प्रकार से स्वीकृत की जाती है। नागरिक स्वतन्ता का दूसरा रूप मनुष्य के वे अधिकार है जिन्हें वह राज्य के अन्य समुदायों और मनुष्यों के विरूद्ध प्राप्त करता है।

4. राजनीतिक स्वतन्त्रता:- अपने राज्य के कार्यो में स्वततंतापूर्वक सक्रिय भाग लेने की स्वतन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है। लास्की के अनुसार, "राज्य के कार्यो में सक्रिय भाग लेने की शक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता हैं"। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त होते है -

(1) मतदान देने का अधिकार

(2) निर्वाचित होने का अधिकार

(3) उचित योग्यता होने पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार और

(4) सरकार के कार्यो की आलोचना का अधिकार। इन अधिकारों से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक प्रजातन्त्रात्मक देश में ही प्राप्त की जा सकती है।

5. आर्थिक स्वतन्त्रता:- वर्तमान समय में आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की ऐसी स्थिति से जिसमें व्यक्ति अपने आर्थिक प्रयत्नों का लाभ स्वयं प्राप्त करने की स्थिति में हो तथा किसी प्रकार उसके श्रम का दूसरे के द्वारा शोषण न किया जा सके। लास्की के अनुसार, "आर्थिक स्वतन्त्रता की अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका कमाने की समुचित सुरक्षा तथा सुविधा प्राप्त हो। व्यक्ति को बेरोजगारी और अपर्याप्ता के निरन्तर भय से मुक्त रखा जाना चाहिए जो कि अन्य किसी भी अपर्याप्ता की अपेक्षा व्यक्तित्व की समस्त शक्ति को बहुत अधिक आघात पहुंचाती है। व्यष्टि को कल को आवश्यकताओं से मुक्त रखा जाना चाहिए।"

6. नैतिक स्वतन्त्रता:- व्यक्ति को अन्य प्रकार की सभी स्वतन्त्रताएं प्राप्त होने पर भी यदि वह नैनिक दृष्टि से परतंत्र हो, तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक स्वतन्त्रता ही वास्तविक स्वतन्त्रता एवं महान स्वतन्त्रता है। नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति की उस मानसिक स्थिति से है जिसमें वह अनुचित लोभ-लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखता हो।

काम्टे के विचार में व्यक्ति की विवेकपूर्ण इच्छा शक्ति ही उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता है।

11.7 समानता के कुछ बुनियादी सिद्धांत

समतावादी समानता पर एक सूक्ष्म दृष्टिकोण रखते हैं जो हर किसी के समान होने या समान बनने की धारणा से परे है। यह केवल गणितीय अवधारणा नहीं है, और कई मूल सिद्धांत समतावादी रुख को रेखांकित करते हैं। आइए इनमें से कुछ मूलभूत सिद्धांतों पर गौर करें:

बुनियादी जरूरतें और जीवन स्तर: समतावादी इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का मौलिक अधिकार है। वे जीवन स्तर में महत्वपूर्ण असमानताओं से चिह्नित समाज को अस्वीकार करते हैं, इसके बजाय एक ऐसी सामाजिक संरचना की वकालत करते हैं जहां रहने की स्थिति न केवल न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करती है बल्कि सभी के लिए एक पूर्ण और संतोषजनक जीवन में भी योगदान देती है।

समान सम्मान और गरिमा: समतावादी दृष्टिकोण का केंद्र समान सम्मान का सिद्धांत है। समतावादी किसी भी प्रकार के अपमानजनक व्यवहार या मानवीय गरिमा को कमजोर करने वाली परिस्थितियों

का विरोध करते हैं। वे जिस आदर्श समाज की कल्पना करते हैं वह आपसी सहानुभूति और समझ में निहित है, जो साझा मानवता के माहौल को बढ़ावा देता है।

आर्थिक समानता: समतावादी न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि राष्ट्रों के बीच भी विशाल आय और धन असमानताओं के आलोचक हैं। वे एक ऐसी प्रणाली की वकालत करते हैं जो संसाधनों का अधिक न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित करे। इसमें आर्थिक संस्थानों और कार्यस्थलों पर लोकतांत्रिक नियंत्रण, सभी के लिए सुलभ गरिमापूर्ण और सार्थक कार्य अवसरों को बढ़ावा देना शामिल हो सकता है।

राजनीतिक समानता: वोट देने या पद के लिए चुनाव लड़ने के मूल अधिकार से परे, समतावादियों के अनुसार, राजनीतिक समानता में नागरिक अधिकारों और सक्रिय लोकतांत्रिक भागीदारी की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है। समतावादी आदर्शों का उद्देश्य व्यक्तियों को अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रभाव डालने, नियंत्रण और एजेंसी की अधिक महत्वपूर्ण भावना को बढ़ावा देने के लिए सशक्त बनाना है।

सामाजिक समानता: समतावाद का विस्तार लिंग, जाति, जातीयता और धर्म जैसे कारकों के आधार पर सामाजिक असमानताओं को संबोधित करने तक है। समतावादी भेदभाव को खत्म करने और इन आयामों में निष्पक्षता और समावेशिता को बढ़ावा देने का प्रयास करते हैं।

यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि हालांकि ये सिद्धांत समानता के प्रमुख पहलुओं को शामिल करते हैं, लेकिन ये संपूर्ण नहीं हैं। समतावाद की ताकत असमानता और अन्याय के उभरते रूपों को संबोधित करने के लिए चल रहे सुधार और अनुकूलन की क्षमता में निहित है। मूल सिद्धांत मार्गदर्शक रोशनी के रूप में कार्य करते हैं, एक ऐसे समाज की दृष्टि को आकार देने में मदद करते हैं जहां व्यक्तियों को महत्व दिया जाता है, सम्मान दिया जाता है, और समान स्तर पर पूर्ण जीवन जीने में सक्षम किया जाता है।

11 .8 समानता के अर्थ के सम्बन्ध में इसके दो पहलू

1 समानता का नकारात्मक पहलू:

नकारात्मक समानता, जिसे अक्सर औपचारिक समानता कहा जाता है, कानून के तहत समान व्यवहार सुनिश्चित करने और कुछ विशेषताओं के आधार पर भेदभाव की अनुपस्थिति पर केंद्रित है। यह

अवधारणा इस बात पर जोर देती है कि व्यक्तियों के साथ उनके मतभेदों की परवाह किए बिना निष्पक्ष और बिना पक्षपात के व्यवहार किया जाना चाहिए। यहाँ नकारात्मक समानता के प्रमुख पहलू हैं:

समान अधिकार और सुरक्षा: नकारात्मक समानता यह सुनिश्चित करती है कि सभी व्यक्तियों को समान कानूनी अधिकार, सुरक्षा और अवसर प्राप्त हों। यह गारंटी देता है कि जाति, लिंग, धर्म या सामाजिक स्थिति जैसे कारकों के आधार पर किसी के साथ अनुचित व्यवहार या भेदभाव नहीं किया जाएगा।

सार्वभौमिक अनुप्रयोग: नकारात्मक समानता का सिद्धांत सार्वभौमिक रूप से सभी व्यक्तियों पर लागू होता है, चाहे उनकी पृष्ठभूमि कुछ भी हो। इसका उद्देश्य एक समान अवसर स्थापित करना है जहां हर कोई समान नियमों और मानकों के अधीन हो।

कानूनी ढाँचा: नकारात्मक समानता अक्सर कानूनों, संविधानों और भेदभाव-विरोधी क़ानूनों में निहित होती है। यह भेदभावपूर्ण प्रथाओं को चुनौती देने और कानूनी रास्तों के माध्यम से उपचार खोजने के लिए एक आधार प्रदान करता है।

समान अवसर: समान व्यवहार पर ध्यान केंद्रित करने का उद्देश्य व्यक्तियों को अपने लक्ष्यों और आकांक्षाओं को आगे बढ़ाने के लिए समान अवसर प्रदान करना है। यह योग्यता और इस विचार को बढ़ावा देता है कि सफलता व्यक्तिगत प्रयास और क्षमताओं पर आधारित होनी चाहिए।

2 समानता का सकारात्मक पहलू:

सकारात्मक समानता, जिसे वास्तविक या भौतिक समानता के रूप में भी जाना जाता है, औपचारिक समानता से परे जाती है और अंतर्निहित संरचनात्मक और प्रणालीगत कारकों को संबोधित करने पर ध्यान केंद्रित करती है जो असमानताओं में योगदान करते हैं। इसका उद्देश्य ऐसी स्थितियाँ बनाना है जहाँ सभी को आवश्यक संसाधनों, अवसरों और कल्याण तक समान पहुंच प्राप्त हो। यहाँ सकारात्मक समानता के प्रमुख पहलू हैं:

संसाधनों का पुनर्वितरण: सकारात्मक समानता असमानताओं को कम करने के लिए संसाधनों और अवसरों के पुनर्वितरण की वकालत करती है। इसमें प्रगतिशील कराधान, सामाजिक कल्याण कार्यक्रम और हाशिए पर रहने वाले समूहों के उत्थान के लिए सकारात्मक कार्रवाई पहल शामिल हो सकती है।

न्यायसंगत परिणाम: सकारात्मक समानता का लक्ष्य न्यायसंगत परिणाम प्राप्त करना है, न कि केवल समान व्यवहार। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करके विशेषाधिकार प्राप्त और वंचितों के बीच अंतर को कम करना है कि हर किसी को सम्मानजनक और पूर्ण जीवन जीने का उचित मौका मिले।

संरचनात्मक अन्याय को संबोधित करना: सकारात्मक समानता उन ऐतिहासिक अन्यायों और प्रणालीगत बाधाओं को दूर करने का प्रयास करती है जिन्होंने असमानता में योगदान दिया है। यह स्वीकार करता है कि कुछ समूह वंचित स्थिति से शुरू कर सकते हैं और सच्ची समानता प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त समर्थन की आवश्यकता है।

सामाजिक समावेशन: कानूनी अधिकारों से परे, सकारात्मक समानता सामाजिक समावेशन और भागीदारी पर केंद्रित है। इसका उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जहां हर कोई मूल्यवान महसूस करे और उनके जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णयों को आकार देने में उनकी आवाज हो।

समग्र दृष्टिकोण: सकारात्मक समानता शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, आवास और आर्थिक अवसरों जैसे कारकों पर विचार करते हुए कल्याण के लिए एक समग्र दृष्टिकोण अपनाती है। यह मानता है कि सच्ची समानता के लिए जीवन के कई आयामों को संबोधित करने की आवश्यकता है।

संक्षेप में, नकारात्मक समानता कानून के तहत समान व्यवहार और भेदभाव की अनुपस्थिति पर जोर देती है, जबकि सकारात्मक समानता संसाधन पुनर्वितरण के माध्यम से संरचनात्मक असमानताओं को संबोधित करने और न्यायसंगत परिणाम बनाने पर केंद्रित है। न्यायसंगत और निष्पक्ष समाज की खोज में दोनों पहलू महत्वपूर्ण हैं, और वे व्यापक समानता प्राप्त करने के प्रयासों में एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं।

11.9 समानता के विभिन्न प्रकार

1 औपचारिक समानता

जॉन लॉक, एक प्रमुख अंग्रेजी दार्शनिक, ने पुरुषों की प्राकृतिक समानता में निहित समानता की अवधारणा की दृढ़ता से वकालत की, हालांकि महिलाओं को उनके ढांचे से विशेष रूप से बाहर रखा गया। इमैनुएल कांट ने साझा मानवता के परिणामस्वरूप सार्वभौमिकता और समानता पर जोर देकर इस परिप्रेक्ष्य को और मजबूत किया। इसने औपचारिक समानता की अवधारणा को जन्म दिया, जिसमें कहा गया कि सभी व्यक्तियों के साथ उनकी सामान्य मानवीय स्थिति के आधार पर समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

औपचारिक समानता की एक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति कानूनी समानता के सिद्धांत में निहित है, जो यह निर्देश देती है कि कानून को सभी व्यक्तियों के साथ जाति, नस्ल, लिंग, धर्म या सामाजिक पृष्ठभूमि जैसे कारकों के आधार पर भेदभाव किए बिना व्यवहार करना चाहिए। हालाँकि यह सिद्धांत नस्ल, लिंग और सामाजिक स्थिति में निहित विशेषाधिकारों को चुनौती देने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन इसकी सीमाएँ हैं। यह इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि कुछ व्यक्तियों को जाति, लिंग या सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण भारी बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है, जिससे उनके लिए कानून द्वारा घोषित औपचारिक समानता से पूरी तरह से लाभ उठाना असंभव हो जाता है।

मार्क्स ने इस अपर्याप्तता को पहचानते हुए अपने निबंध 'यहूदी प्रश्न पर' में इस मुद्दे पर गहराई से विचार किया। उन्होंने तर्क दिया कि यद्यपि औपचारिक समानता प्रगति को चिह्नित करती है, लेकिन यह वास्तव में मानव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती है। बाज़ार की गतिशीलता कुछ सामाजिक बाधाओं को ख़त्म कर सकती है, लेकिन साथ ही उन्होंने निजी संपत्ति के अस्तित्व द्वारा समर्थित वर्ग-आधारित असमानताएँ भी पैदा की हैं। मार्क्सवादियों ने समानता के इस रूप को "बाज़ार समानता" का नाम दिया है, यह दावा करते हुए कि यह केवल समाज की गहरी असमान संरचना को छुपाता है।

समकालीन समय में, समतावादी विचार इस धारणा से परे विकसित हुआ है कि सभी मनुष्य स्वाभाविक रूप से समान हैं और इसलिए उनके पास समान अधिकार होने चाहिए। समझ "समानता" शब्द के अधिक निर्देशात्मक उपयोग की ओर स्थानांतरित हो गई है। समतावादी आज उन नीतियों का समर्थन करते हैं जो केवल व्यक्तियों की वर्णनात्मक विशेषताओं पर भरोसा किए बिना समानता के आदर्श को बढ़ावा देते हैं, यह मानते हुए कि कई महत्वपूर्ण पहलुओं में मनुष्यों के बीच पर्याप्त अंतर मौजूद हैं।

2. अवसर की समानता

अवसर की समानता एक अवधारणा है जो व्यक्तिगत आत्म-विकास में बाधा डालने वाली बाधाओं को हटाने में निहित है। इसमें यह सुनिश्चित करना शामिल है कि व्यक्तियों को स्थिति, पारिवारिक या सामाजिक पृष्ठभूमि जैसे कारकों के बजाय अपनी प्रतिभा और क्षमताओं के आधार पर करियर बनाने का मौका मिले। मुख्य विचार एक समान अवसर स्थापित करना है, विशेषकर जीवन के शुरुआती बिंदु पर। हालाँकि, अवसर की समानता के निहितार्थ जटिल हो सकते हैं। इसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धा करने के लिए समान अवसर प्रदान करना है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि समग्र समानता की ओर ले जाए। असमान परिणामों को स्वीकार्य माना जाता है क्योंकि उनका श्रेय अलग-अलग प्राकृतिक

प्रतिभाओं, कड़ी मेहनत या भाग्य को दिया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह निर्माण योग्यता आधारित आदर्श द्वारा छिपी एक पदानुक्रमित प्रणाली का समर्थन करता है।

प्रकृति और परंपरा के बीच का अंतर, जिस पर यह अवधारणा आधारित है, हमेशा स्पष्ट नहीं होती है। अवसर की समानता के संस्थागतकरण में करियर को प्रतिभा के लिए खुला रखना और सकारात्मक भेदभाव लागू करना जैसे उपाय शामिल हैं। ये उपाय उचित प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप होने वाले असमान परिणामों को वैध बनाते हैं।

हालाँकि, अवसर पर यह जोर व्यक्तियों को समुदाय की भावना से अलग कर सकता है, प्रतिस्पर्धी मानसिकता को बढ़ावा दे सकता है। इसके अलावा, यह पीढ़ियों के बीच असमानताओं को कायम रख सकता है, जिससे सफलता और विफलता के बीच कृत्रिम अलगाव हो सकता है।

समतावादी अवसर की समानता को अस्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन वे व्यापक समझ की वकालत करते हैं। वे हर किसी को सार्थक और संतोषजनक तरीके से अपनी क्षमताओं को विकसित करने के साधन प्रदान करना चाहते हैं। केवल प्रक्रियाओं पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय, उनके लिए अवसर की वास्तविक समानता का अर्थ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ बनाना है जो सभी व्यक्तियों को पूर्ण जीवन जीने में सक्षम बनाती हैं। लक्ष्य यह सुनिश्चित करना नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति एक सार्थक जीवन प्राप्त करे, बल्कि एक ऐसा ढाँचा स्थापित करना है जहाँ ऐसे जीवन का अवसर सभी के लिए सुलभ हो।

3 परिणामों की समानता

समानता की अवधारणा पर एक और दृष्टिकोण परिणामों की समानता पर केंद्रित है, जो जीवन के शुरुआती बिंदु से अंतिम परिणाम पर ध्यान केंद्रित करता है। उल्लेखनीय रूप से, मार्क्स जैसे लोगों ने तर्क दिया कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा बाधित समानता की कोई भी धारणा स्वाभाविक रूप से सीमित है। मार्क्स ने पूर्ण सामाजिक समानता की वकालत की, एक ऐसी दृष्टि जिसे केवल निजी संपत्ति के उन्मूलन के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। परिणामों की समानता के समर्थकों का तर्क है कि जब तक समान परिणामों का आश्वासन नहीं होता, समानता के अन्य रूपों की गारंटी अपर्याप्त रहती है।

परिणामों की समानता के विरोधियों का दावा है कि इसके अनुसरण से गतिरोध, अन्याय और यहाँ तक कि अत्याचार भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, हेयक का मानना है कि चूंकि व्यक्तियों की अलग-अलग आकांक्षाएं और लक्ष्य होते हैं, इसलिए उनके साथ समान व्यवहार करने से असमानता हो सकती है। आलोचकों का तर्क है कि समानता की मुहिम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कीमत पर आ

सकती है। उनका तर्क है कि समाजवादी समतावादी उपायों का कार्यान्वयन व्यक्तिगत गरिमा और आत्म-सम्मान को कमजोर करता है, और इसके साथ जुड़ा पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण व्यक्तियों को तर्कसंगत विकल्प बनाने की क्षमता से वंचित करता है।

11.10 समानता और नारीवाद

नारीवादी समानता के मुद्दे को लैंगिक दृष्टिकोण से देखते हैं। इस संदर्भ में एक प्रभावशाली कृति सुज़ैन ओकिन की पुस्तक "जस्टिस, जेंडर एंड द फ़ैमिली" (1911 0) है। विभिन्न क्षेत्रों में समानता के सिद्धांतों का विस्तार करके समान अवसर या पुनर्वितरणात्मक न्याय को बढ़ावा देने वाले कानून वास्तव में समानता स्थापित नहीं कर सकते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि ये नियम और सिद्धांत ऐसे माहौल में काम करते हैं जो पहले से ही लैंगिक असमानता, सामाजिक मानदंडों द्वारा कायम असमानता से दूषित है। इनमें से कई मानदंड महिलाओं के खिलाफ खुले तौर पर भेदभाव नहीं कर सकते हैं, लेकिन उनका संचयी प्रभाव असमानता को सुदृढ़ और वैध बनाना है। नतीजतन, भले ही कानून स्पष्ट रूप से लिंग के बीच अंतर नहीं करता है, फिर भी महिलाएं अक्सर खुद को विशिष्ट व्यवसायों तक ही सीमित पाती हैं। करियर बनाने वाली विवाहित महिलाओं को लैंगिक पूर्वाग्रहों से प्रभावित समाज में विशेष नुकसान का सामना करना पड़ सकता है।

नारीवादी विश्लेषण इस बात पर ज़ोर देता है कि महिलाओं द्वारा सामना की जाने वाली वास्तविक असमानता, जैसे कि पारिवारिक निर्णय लेने में उनका सीमित प्रभाव, बच्चों की देखभाल के लिए उनकी ज़िम्मेदारी, और बाद में कार्यबल में कम भागीदारी, प्राकृतिक या सहज विकल्पों से नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से निर्मित भूमिकाओं से उत्पन्न होती है।

फिर भी, यह एक जटिल मामला है, और नारीवादी लिंग भेद को खत्म करने के लिए, विशेष रूप से पारिवारिक मामलों में, राज्य को शामिल करने में संकोच कर सकते हैं। हालांकि सामाजिक प्रथाओं और निर्मित भूमिकाओं में लैंगिक असमानता को पहचानना और जिम्मेदार ठहराना अपेक्षाकृत सरल है, लेकिन प्रभावी उपायों को लागू करना चुनौतीपूर्ण है। लैंगिक समानता की दिशा में सार्थक प्रगति इस बात पर निर्भर करती है कि महिलाएं स्वयं अपनी असमान स्थिति और अपनी अधीनस्थ पारिवारिक भूमिकाओं के प्रति जागरूक हों। जब महिलाएं इन सामाजिक संरचनाओं को नया आकार देने में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं तभी लैंगिक समानता हासिल करने में महत्वपूर्ण प्रगति हासिल की जा सकती है।

11.11 स्वतन्त्रता और समानता में सम्बन्ध

स्वतंत्रता और समानता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है जबकि समानता का तात्पर्य प्रत्येक प्रकार के सभी व्यक्तियों को समान समझने से है। इन व्यक्तियों का विचार है कि यदि सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है तो जीवन के परिणाम नितान्त असमान होगें और शक्ति के आधार पर सभी व्यक्तियों को समान कर दिया जाए तो यह समानता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी।

राजनीतिक विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता का जो तात्पर्य लिया जाता है, उस अर्थ में स्वतन्त्रता और परस्पर विरोधी नहीं वरन् पूरक है। स्वतन्त्रता की ठीक परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि ''स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबंध हों, विशेषाधिकार का नितान्त अभाव हो और व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएं प्राप्त हो ।'' इसी प्रकार समानता की सही रूप में परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि ''समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके जिसका मूल सामाजिक वैषम्य है।''

स्वतंत्रता और समानता की इन परिभाषा के अनुसार स्वतन्त्रता और समानता दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एकदूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस संबंध में एक्टन ने लिखा है कि ''विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार केरूप में प्रारम्भ होते है, विश्लेषण करने पर एक दूसरे के लिए आवश्यक हो जाती सकती है।'' यदि समान अवसरों के द्वारा सबके लिए खुले रहते है तो व्यक्ति अपनी रूचि के अनुसार अपनी शक्तियों का विकसा करने की यथार्थ स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। जिस समाज में किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक अन्तर पाये जाते है, वहां वह वर्ण अन्य वर्गो पर दबाव डालने की अनुचित शक्ति प्राप्त कर लेता है और निम्न वर्गो को केवल नाम मात्र की ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है।

वास्तव में, समानता के द्वारा स्वतन्त्रता के आधार के रूप में कार्य किया जाता है। एक ऐसा राज्य में जिसमें समानता नहीं हैं, स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती। इस बात को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है:-

1. यदि राजनीतिक समानता नहीं होगी, तो स्वतन्त्रता व्यर्थ हो जाएगी और जनता के एक बहुत बड़े भाग को शासन में कोई भाग प्राप्त नहीं होगा।

. यदि नागरिक समानता नहीं होगी, तो जो व्यक्ति नागरिक अयोग्यताओःसे पीड़ित है, उन्हें स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होगी।

3. यदि सामाजिक समानता नहीं होगी,तो स्वतन्त्रता पर कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार हो जाएगा।

4. यदि आर्थिक समानता नहीं होगी, तो धन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाएगा और केवल वही वर्ग स्वतन्त्रता का लाभ उठा सकेगा।

ऐसी स्थिति में डा0 आर्शीवादम् ने ठीक ही कहा है कि ”फ्रांस के क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न मूर्ख, जब उन्होने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था।

11.12 अधिकार: अर्थ, परिभाषा

मूल अधिकार हमारे नैसिर्गिक अधिकार हैं ,जो कि एक मानव जीवन को संरक्षित, सवंर्धित तथा विकसित होने के अवसर प्रदान करते हैं। यदि कोई भी समाज अपने नैतिक व अवधराणात्मक मूल्यों के स्तर पर इनके लिए तैयार नहीं होता है तो कानूनी कितना भी कठोरता हो उनका उपयोग सम्भव नहीं होगा। मूल अधिकार किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसके इन्सान होने की रक्षा के लिए बने हैं और इसीलिए समाज में प्रत्येक व्यक्ति के पास यह मूल्य होने चाहिए कि वह सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय के लिए इनका उपयोग अपने हित में कर सके और दूसरे व्यक्ति की स्वन्तन्त्रता तथा अधिकारों में बाधा न पहुचाये।

"अधिकार" की अवधारणा एक नैतिक या कानूनी अधिकार या दावे को संदर्भित करती है जो किसी व्यक्ति के पास है, जो उन्हें विशिष्ट तरीके से कार्य करने या व्यवहार करने की स्वतंत्रता देता है। अधिकार मनुष्यों में अंतर्निहित हैं और अक्सर उनकी गरिमा, स्वायत्तता और कल्याण सुनिश्चित करने के लिए मौलिक माने जाते हैं।

प्रकृति के द्वारा मनुष्य को विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ प्रदान की गयी है, लेकिन इन शक्तियों का स्वयं अपने ओर समाज के हित के रूप में उचित प्रयोग करने के लिए कुछ बाहरी सुविधाओं की आवश्यकता होती है। राज्य का सर्वोत्तम लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है अतः राज्य के द्वारा व्यक्ति को प्रदान की जाने वाली इन बाहरी सुविधाओं का नाम ही अधिकार है।

अधिकार राज्य के अंतर्गत व्यक्ति को प्राप्त होने वाली ऐसी अनुकूल परिस्थितियां और अवसर हैं जिनसे आत्म-विकास में सहायता मिलती है।

अधिकारों की अवधारणा को अक्सर "नकारात्मक" और "सकारात्मक" अधिकारों के संदर्भ में तैयार किया जाता है। नकारात्मक अधिकार हस्तक्षेप या हानि से मुक्ति को संदर्भित करते हैं, जिसका अर्थ है कि दूसरों को इन अधिकारों में बाधा या उल्लंघन नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर, सकारात्मक अधिकारों का तात्पर्य यह है कि उन अधिकारों को पूरा करने के लिए दूसरों को कुछ सामान या सेवाएँ प्रदान करने का दायित्व है।

लोकतांत्रिक समाजों में, अधिकारों की सुरक्षा और संवर्धन आमतौर पर कानूनी ढांचे, संविधान और अंतर्राष्ट्रीय संधियों के माध्यम से सुरक्षित किया जाता है। मानवीय गरिमा को बनाए रखने, सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने और एक न्यायसंगत और न्यायसंगत समाज को प्राप्त करने के लिए अधिकारों का सम्मान आवश्यक माना जाता है।

प्रमुख विद्वानों द्वारा अधिकार की निम्नलिखित शब्दों में परिभाषाएं की गयी हैं:-

बोसांके के अनुसार, "अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है।"

लास्की के अनुसार, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां है जिनके अभाव में सामान्यता कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है।"

बार्कर क अनुसार " अधिकार न्याय की उस सामान्य व्यवस्था का परिणाम हैं जिस पर राज्य के कानून आधारित है।"

अधिकार सामान्यतया व्यक्ति की उन मांगों में से है जिन्हें समाज स्वीकार करता है व राज्य संरक्षित करता है। वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक तथा अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है, मूल अधिकार कहलाते हैं। मूल अधिकार न्याय योग्य होते हैं अर्थात न्यायपालिका इन अधिकारों की रक्षा के लिए सभी आवश्यक कदम उठा सकती है।

अधिकार व कर्तव्य आपस में नजदीकी से जुड़े हुए हैं मतलब हर अधिकार के साथ कर्तव्य भी होता है।अधिकार को क़ानूनी मंजूरी के साथ समाज की मंजूरी भी जरुरी है। पहले समाज में आम नागरिक के अधिकारों को कोई मान्यता नही दी जाती थी। अधिकार आधुनिक युग की देन हैं । अधिकारों की प्राप्ति के लिए लम्बा संघर्ष करना पड़ा है । फ्रांस की क्रांति, अमेरिकी क्रांति, के बाद अधिकारों को

व्यापक रूप में स्वीकृत किया गया। सबसे पहले अमेरिकी संविधान में मूल अधिकारों को स्थान मिला। रुसी क्रांति ने सामाजिक- आर्थिक अधिकारों को बढ़ावा दिया।

अधिकारों की प्रकृति

1 अधिकार किसी व्यक्ति के भले के लिए आवश्यक हैं। अधिकार एक निष्पक्ष इच्छा है जो स्वार्थरहित होता है। अधिकार वह हैं जो हम किसी से उम्मीद करते हैं और लोग जो हमसे चाहते हैं अधिकार में समाज कल्याण की भावना छुपी होती है।व्यक्ति की निष्पक्ष इच्छा प्रत्येक के हित के लिए होती है।

2 अधिकारों को केवल समाज में ही प्रयोग किया जा सकता है।

3 अधिकार राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त दावे हैं।

4 हर अधिकार के पीछे कर्तव्य छिपा होता है। अधिकार और कर्तव्य एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं।

5 कोई भी अधिकार असीमित नहीं होता उसकी अपनी सीमायें होती हैं।

6 समय के साथ अधिकारों में भी परिवर्तन आता है।

7 लोकतंत्र अधिकारों को कायम रखता है। लोकतंत्र में ही अधिकारों का आनंद उठाया जा सकता है ।

11.12.1 अधिकारों का वर्गीकरण

साधारणतया अधिकार दो प्रकार के होते हैं - **(1) नैतिक अधिकार और (2) कानूनी अधिकार**

(1) नैतिक अधिकार:- नैतिक अधिकार वे अधिकार होते हैं जिनका सम्बन्ध मानव के नैतिक आचरण से होता है। अनेक विचारकों के द्वारा इन्हें अधिकार के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता है, क्योंकि वे अधिकार राज्य द्वारा रक्षित नहीं होते है। इन्हें धर्मशास्त्र, जनमत या आत्मिक चेतना द्वारा स्वीकृत किया जाता है और राज्य के कानूनों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(2) कानूनी अधिकार:- ये वे अधिकार है जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है और जिनका उल्लंघन कानून से दण्डनीय होता है। कानून का संरक्षण प्राप्त होने के कारण इन अधिकारों को लागू करने के लिए राज्य द्वारा आवश्यक कार्यवाही की जाती है।

कानूनी अधिकार के दो भेद किये जा सकते है:

1.सामाजिक या नागरिक अधिकार,

2. राजैनतिक अधिकार

1.सामाजिक या नागरिक अधिकार:- प्रमुख सामाजिक या नागरिक अधिकार निम्नलिखित हैं –

नागरिक अधिकार वे आधारभूत विधायी अधिकार हैं जो किसी उदार लोकतान्त्रिक राज्य में समान नागरिकता की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति के पास होने चाहिए। 1950 और 1960 के दशक में "नागरिक अधिकार" नामक शब्दावली अफ्रीकी-अमेरिकियों की समानता के लिए किये जाने वाले संघर्ष से जुडी है जिनका उद्देश्य समान नागरिकता की यह स्थिति प्राप्त करना था.

1.समानता का अधिकार:- समानता का अधिकार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार है और जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते सम्मान और महत्व प्राप्त होना चाहिए और जाति धर्म व आर्थिक स्थिति के भेद के बिना सभी व्यक्तियों को अपने जीवन का विकास करने के लिए सुविधाऐं प्राप्त होनी चाहिए। समानता का अधिकार प्रजातंत्र की आत्मा है और इसके अग्र भेद हैं:-

a. राजनीतिक समानता का अधिकार:- इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार बिना किसी पक्षपात के देश के शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए।

b. सामाजिक समानता का अधिकार:- इसका तात्पर्य यह है कि समाज में धर्म, जाति, भाषा, सम्पत्ति या लिंग के आधर पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

c. आर्थिक समानता का अधिकार:- वर्तमान समय में आर्थिक समानता का तात्पर्य यह लिखा जाता है कि मानव के आर्थिक स्तर में गम्भीर विषमताएँ नही होनी चाहिए और सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों का न्यायसंगत वितरण किया जाना चाहिए। टोनी के शब्दों में, "आर्थिक समानता का अर्थ ऐसी विषमता के अभाव से है जिसका उपयोग आदि के दबाव के रूप में किया जा सके"।

d. स्वतन्त्रता का अधिकार:- स्वतन्त्रता का अधिकार जीवन के लिए परम आवश्यक है क्योंकि इस अधिकार के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समजा का विकास सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता का तात्पग्र उच्छंखलता या नियन्त्रणहीनता न होकर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण अवसरों की प्राप्ति है। लास्की के शब्दों में, "इसका तात्पर्य उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने तरीके से बिना किसी बाहरी बन्धन के अपने जीवन का विकास कर सके।

"स्वतन्त्रता के अधिकार" के भेद निम्नलिखित हैं:-

(1). व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार:- व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपना सामान्य जीवन विवेक के अनुसार व्यतीत कर सकें। कानून के उल्लंघन किये बिना किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और न्यायालय द्वारा अभियोग की पुष्टि बिना उसे बन्दी नहीं बनाया जा सकता।

(2). विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार:- प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार विचार रखने और भाषण लेख, आदि के माध्यम से इन विचारों को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ,सुकरात ने विचार स्वातन्त्रता को त्यागने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझा था।

(3). समुदाय निर्माण की स्वतन्त्रता का अधिकार:- संगठन ही मानव जीवन की उन्नति का मूलमन्त्र है। इसलिए व्यक्ति को अपने समान विचावर वाले व्यक्तियों के साथ मिलकर संगठन का निर्माण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(4). सम्पत्ति का अधिकार:- मानव जीवन के लिए सम्पत्ति आवश्यक है। सम्पत्ति के अधिकार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने द्वारा कमाए गये धन को चाहे तो आज की आवश्यकताओं पर खर्च कर सकता है या अर्जित करके रख सकता है, सरकार बिना मुआवजा दिये बिना किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का अधिग्रहण नहीं कर सकती।

(5). रोजगार का अधिकार:- व्यक्ति को स्वयं अपने परिवार के भरण पोषण, आवास एवं शिक्षा के लिए धन की आवश्यकता होती है और व्यक्ति यह आर्थिक शक्ति किसी न किसी प्रकार का काम किये बिना प्राप्त नहीं कर सकता।

(6) शिक्षा का अधिकार:- वर्तमान समय में यह बात सर्वमान्यहै कि नागरिकों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। केवल इतना ही नहीं, शासन को धनवान एवं निर्धन दोनों ही वर्गों को शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए।

(7) जीवन का अधिकार:- जीवन के अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है और राज्य इस बात की व्यवस्था करेगा कि कोई दूसरा व्यक्ति या राज्य व्यक्ति के जीवनका अन्त न कर सके। यह मानव के सभी अधिकारों में सबसे अधिक मौलिक व आधारभूत अधिकार है।

(8) राजनीतिक अधिकार:- राजनीतिक अधिकारों का तात्पर्य उन अधिकारों से है जो व्यक्ति के राजनैतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक होते हैं और जिनके माध्यम से व्यक्ति प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष रूप शासन प्रबन्ध में भाग लेते हैं। साधारणतया एक प्रजातंत्रात्मक राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किये जाते हैं-

1. मत देने का अधिकार:- वर्तमान समय के विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्रीय व्यवस्था सम्भव नहीं रही है और इसलिए प्रतिनिधित्मक प्रजातन्त्र के रूप में एक ऐसी व्यवस्था की गयी है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन में कार्य किया जाता है। इस प्रकार जनता मताधिकार के माध्यम से हीदेश के शासन में भाग लेती है।

2. निर्वाचित होने का अधिकार:- प्रजातंत्र में शासक और शासित का कोई भेद नही होता और योग्यता सम्बन्धी कुछ प्रतिबंधों के साथ सभी नागरिकाकें को जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार होता है।

3. सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार:- व्यक्ति को सभी सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार होना चाहिए और इस सम्बन्ध में योग्यता के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार पर भेद नहीं किया जाना चाहिए।

4. आवेदन-पत्र और सम्मति देने का अधिकार:- लोकतंत्र का आदर्श यह है कि शासन का संचालन जनहित के लिए किया जाए। अतः नागरिकोकं को अपनी शिकायतें दूर करने या शासन को आवश्यक सम्मति प्रदान करने के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कार्यपालिका या व्यवस्थापिता अधिकारियों का प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए इसके अन्तर्गत ही शासन की आलोचना का अधिकार भी सम्मिलित किया जाता है।

5.राज्य के विरूद्ध विद्रोह का अधिकार: राज्य के प्रति भक्ति और राज्य की आज्ञाओं का पालन व्यक्ति का कानूनी कर्तव्य होता है और इसलिए व्यक्ति को राज्य के विरूद्ध विद्रोह का कानूनी अधिकार तो प्राप्त हो ही नही सकता लेकिन व्यक्ति को राज्य के विरूद्ध विद्रोह का नैतिक अधिकार अवश्य ही प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि शासन के अस्तित्व का उद्देश्य जन-इच्छा को कार्यरूप में परिणत करते हुए सामान्य कल्याण होता है और यदि शासन सामान्य कल्याण की साधना में असफल हो जाता है या शासन जन-इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता है तो उसे शासन को आस्तित्व में बने रहने का कोई नैतिक अधिकार शेष नहीं रह जाता है। नागरिकों को इस प्रकार की सरकार को पदच्युत करने का अधिकार होता है और यदि वो संवैधानिक मार्ग से इच्छित परिवर्तन न किया जा सके तो व्यक्ति को अधिकार है कि वह शक्ति के आधार पर वांछित परिवर्तन करने का प्रयत्न करें।

लास्की ने कहा है कि ''नागरिकता व्यक्ति के विवेकपूर्ण निर्णय का जनकल्यण में प्रयोग है'' ऐसी परिस्थितियों में यदि व्यक्ति को इस बात का विश्वास हो जाए कि विद्यमान शासन व्यवस्था सर्व-

सामान्य के हित में कार्य नहीं कर सकती तो राज्य के प्रति विद्रोह व्यक्ति का नैतिक अधिकार ही नहीं वरन एक नैतिक कर्तव्य भी हो जाता है जैसा गांधी जी कहते है ''व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी अन्तरात्म के प्रति होता है।'' अतः विरोध किया जा सकता है।

11.13 अधिकारों के सिद्धांत

प्राकृतिक अधिकार का सिद्धांत –

कुछ अधिकार राज्य की उत्पत्ति से पहले से मौजूद थे इन्हें प्रकृतिक अधिकार कहा जाता है। इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य का जन्म हुआ। सामाजिक समझौतावादी विचारकों ने इस बात को रखा। जॉन लॉक ने जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार को प्रकृतिक अधिकार में रखा। प्राकर्तिक अधिकारों की संकल्पना से क्रांतियां हुई जैसे अमरीकी स्वतंत्रता घोषणा पत्र में कहा गया कि मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है ।जीवन, स्वतंत्रता और सुख की साधना के अधिकार से मनुष्य को वंचित नही किया जा सकता है। फ्रांस की क्रांति की घोषणा में स्वतंत्रता, समानता, सुरक्षा और सम्पति को संपति को मनुष्य के प्रमुख प्रकृतिक अधिकारों में रखे गये।

क़ानूनी अधिकारों का सिद्धांत –

इस सिद्धांत के अनुसार अधिकार राज्य की देन हैं। जब तक राज्य किसी अधिकार को मान्यता नहीं देता है तब तक उसे किसी भी अर्थ में अधिकार नहीं माना जा सकता। बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों को नकारते हुए विधि के शासन का समर्थन किया। क़ानूनी अधिकार सिद्धांत के अनुसार अधिकार राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकार , अधिकार कहलाते हैं । हर देश में अधिकार अलग अलग तरह के होते है।

ऐतिहासिक सिद्धांत –

इस सिद्धांत के अनुसार मानव को अधिकार इतिहास परंपरा या मान्यता से प्राप्त हैं, न कि राज्य या समाज से। एडमंद बर्क ने इस सिद्धांत का समर्थन किया कि इतिहास अधिकारों का निर्माण करता है। लम्बे समय तक विद्यमान परम्पराएँ ही अधिकारों का रूप धारण कर लेते है।

समाजकल्याण का सिद्धांत -

इस सिद्धांत के अनुसार अधिअक्र समाज कल्याण के लिए ही होते हैं। जो समाज के लिए उपयोगी है उसे अधिकार मानना चाहिए। उपयोगितावाद ने इस अधिकार के सिद्धांत को समर्थन दिया उनके मत में अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख अधिकार का अधर होना चाहिए। जो अधिकार व्यक्ति को

मिलते है उनकी सामाजिक उपयोगिता है जैसे व्यक्ति को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है लेकिन समज के हित में इस पर कई बार प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है।

लोकतंत्रीय सिद्धांत –

इस व्यवस्था में नकारात्मक और सकारात्मक अधिकार एक- साथ प्रदान किये जा सकें। लास्की के अनुसार, किसी भी राज्य की पहचान उन अधिकारों से होती है जिनकी वह रक्षा करता है। लास्की लोकतंत्रीय सिद्धांत के समर्थक हैं इन्होने उदारवाद से जुड़े राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ समाजवाद से जुड़े हुए आर्थिक अधिकारों की भी रक्षा पर बल दिया है। उसने माना कि राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। ग्रीन की तरह लास्की ने तर्क दिया कि अधिकार राज्य की देन नहीं हैं बल्कि उनका स्थान राज्य की सत्ता से ऊँचा है। लास्की ने कल्याणकारी राज्य के विचार को बढ़ावा दिया। कुछ पुचिवादी प्रणाली को खत्म करने की जगह उसमें संशोधन करने के सुझाव दिए जिससे इस प्रणाली में जनसाधारण के दमन और उत्पीडन की जगह स्वतंत्रता और सुरक्षा एक-साथ प्रदान कर सके। लास्की का मानना है कि उदार लोकतंत्र जनसाधारण के व्यापक कल्याण का साधन बन सकता है।

मार्क्सवादी सिद्धांत –

मार्क्सवाद के अनुसार, किसी भी राज्य में, किसी भी युग में प्रचलित अधिकार प्रभुत्वशाली वर्ग के अधिकार होते हैं। इस लिए कामगार वर्ग के अधिकारों की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि यह वर्ग पूंजीपति वर्ग को परे हटाकर स्वयं सत्ता संभाल ले। अधिकार राज्य के वर्ग चरित्र के साथ जुड़े रहते है, इसलिए पूंजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं के अंतर्गत अधिकारों का स्वरुप भिन्न-भिन्न होता है। पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत कानून की दृष्टि से सब नागरिकों के सामान अधिकार स्वीकार किये जाते है परन्तु वास्तविकता स्तर पर सारे अधिकार पूंजीपति वर्ग के अधिकार होते हैं।

मार्क्सवाद के अनुसार, समाजवादी स्थिति है जब कामगार वर्ग पूंजीपतियों को हटाकर उत्पादन के प्रमुख साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित कर देता है। पहले सर्वहारा का अधिनायकतंत्र स्थापित किया जाता है, आगे चलके राज्य लुप्त हो जाता है और वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज अस्तित्व में आ जाता है। जिसे साम्यवाद कहा जाता है। समाजवाद में वर्ग-विभाजन बना रहता है परन्तु कामगार वर्ग प्रभुत्वशाली बना रहता है इसी लिए उसे वास्तविक अधिकार प्राप्त होते है। माक्सवादी चिंतन के प्रभाव से जब रूस में 1917 की क्रांति के बाद जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित की गई, उसमें नागरिकों की आर्थिक सुरक्षा और बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति पर विशेष दिया गया।

अभ्यास प्रश्न --

१.अधिकार वह मांग है जिसे समाज स्वीकार करता और राज्य लागू करता है।"किसका कथन है?

२.अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां है जिनके अभाव में सामान्यता कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है। किसका कथन है ?

३.व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दो पहलुओं- विचार स्वन्त्रता और कार्य स्वतन्त्रता पर कौन बल देता है ।

४.स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है. किसका कथन है ?

५.स्वतन्त्रता का अंग्रेजी रूपान्तर क्या है?

६.'लिबर्टी' लैटिन भाषा के किस शब्द से निकला है।

७.स्वतन्त्रता समानता और भातृत्व का नारा किस देश ने दिया।

11.14 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि स्वतन्त्रता और समानता दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एकदूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस संबंध में एक्टन ने लिखा है कि "विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार केरूप में प्रारम्भ होते है, विश्लेषण करने पर एक दूसरे के लिए आवश्यक हो जाती है।" यदि समान अवसरों के द्वारा सबके लिए खुले रहते है तो व्यक्ति अपनी रूचि के अनुसार अपनी शक्तियों का विकसा करने की यथार्थ स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। जिस समाज में किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक अन्तर पाये जाते है, वहां वह वर्ण अन्य वर्गो पर दबाव डालने की अनुचित शक्ति प्राप्त कर लेता है और निम्न वर्गो को केवल नाम मात्र की ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। साथ ही यह भी जानने को मिला कि अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां है जिनके अभाव में सामान्यता कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता है।"

इस प्रकार हमने देखा की किस प्रकार से व्यक्ति के स्वतंत्र विकास के लिए स्वतंनत्रता, समानता और अधिकार तीनों महत्वपूर्ण हैं .क्योकि यदि किसी समाज में समकक्षों में समानता न हो और समान लोगों को स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के अवसर न हों तो समाज गतिहीन हो जायेगा।

11.15शब्दावली

राजनीतिक समानता --राजनीतिक समानता का अभिप्राय सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अधिकार एवं अवसर प्राप्त होते है

प्राकृतिक समानता:- प्राकृतिक समातना के प्रतिपादक इस बात पर बल देते हैं कि प्रकृति ने मनुष्यों को समान बनाया है और सभी मनुष्य आधारभूत रूप में बराबर है।

कानूनी अधिकार:- ये वे अधिकार है जिनकी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है और जिनका उल्लंघन कानून से दण्डनीय होता है।

11.16अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.बोसांके २.लास्की ३.मिल ४. शीले. ५.'लिबर्टी' ६.'लिबर' ७. फ्रांस

11.17संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 गार्नर-- पॉलिटिकल साइंस एण्ड गवर्नमेंट

2.ऑस्टिन--- लेक्चर्सऑन जुरिसप्रडेंस

3.गेटिल ---पोलिटिकल साइंस

४ .डॉ. पुखराज जैन -- राजनीतिक सिद्धान्त

5.एस.सी. सिंघल--- राजनीतिक सिद्धान्त

६.ओ.पी.गाबा - राजनीतिक सिद्धान्त

७.जे.सी.जौहरी -- राजनीतिक सिद्धान्त

11.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

१ .वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली

२ .डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

11.19निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं ? इसके विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिये ?

2. स्वतंत्रता को परिभाषित करते हुए सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रता की चर्चा कीजिये।

2.समानता से आप क्या समझते हैं ? समानता और स्वतंत्रता के संबंधों की व्याख्या कीजिये .

3. कल्याणकारी राज्य की संकल्पना के अंतर्गत अधिकारों के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों का वर्णन कीजिये।

इकाई- 12 :शक्ति सत्ता और वैधता

12.0 प्रस्तावना
12.1 उददेश्य
12.2 शक्ति क्या है ?
12.2.1 शक्ति का स्वरूप
12.2.2 शक्ति के स्रोत
12.3 सत्ता
12.3.1 सत्ता के आधार अथवा स्रोत
12.3.2 सत्ता के प्रकार
12.4 प्रभाव
12.4.1 प्रभाव के प्रमुख स्रोत
12.5 सारांश
12.6 शब्दावली
12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.10 निबन्धात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने स्वतन्त्रता. समानता का अध्ययन किया जिसमें पाया कि दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एकदूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस संबंध में एक्टन ने लिखा है कि "विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार केरूप में प्रारम्भ होते है, विश्लेषण करने पर एक दूसरे के लिए आवश्यक हो जाती है।" इस प्रकार हमने देखा की किस प्रकार से व्यक्ति के स्वतंत्र विकास के लिए स्वतंनत्रता, समानता और अधिकार तीनों महत्वपूर्ण हैं .क्योकि यदि किसी समाज में समकक्षों में समानता न हो और समान लोगों को स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के अवसर न हों तो समाज गतिहीन हो जायेगा।

इस इकाई में शक्ति सत्ता और प्रभाव के अर्थ और इनके विभिन्न पक्षों का अध्ययन करेगें। और ये देखेगें कि शाक्ति किस प्रकार इच्छा के विपरित भी कार्य कराने में सक्षम होती हैं और इसी शाक्ति को वैद्यता प्राप्त हो जाती है तो वह सत्ता का स्वरुप ग्रहण कर लेती है। और उसे शाक्ति प्रयोग का वैधानिक हक प्राप्त हो जाता है।

12.1 उददेश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम.....

1-शाक्ति के अर्थ को समझने में सक्षम होगें।

2-शाक्ति और सत्ता के अन्तर को समझ सकेगें।

3-यह स्पस्ट कर सकेंगे कि वैध शाक्ति ही सत्ता हैं।

4-प्रभाव के अर्थ और उसके विभिन्न पक्षेा को समझ सकेगें।

5-सत्ता के विभिन्न प्रकारों को जान सकेगें।

12.2 शक्ति क्या है ?

साधारणतयाः लोग जो कुछ नहीं करना चाहते,उनसे वैसा कराने की क्षमता को 'शक्ति की संज्ञा' दी जाती है। दूसरे शब्दों में जब एक व्यक्ति दूसरे की इच्छा के विरूद्ध ससे किसी निर्णय का पालन कराता है, तब पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के ऊपर शक्ति का प्रयोग करता है। **कौटिल्य** ने "दण्ड शक्ति" जो शक्ति का ही पर्याय है, को सम्पूर्ण सांसारिक जीवन का मूल आधार माना जाता है।

मैक्स बेबर के अनुसार " शक्ति का अर्थ है- किसी सामाजिक सम्बन्ध के अन्तर्गत एक कर्ता के द्वारा दूसरों की इच्छा के विरूद्व अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने की संभावना।"

आर0एम0मैकाइवर के अनुसार "यह किसी भी सम्बन्ध के अन्तर्गत ऐसी क्षमता है जिसमें दूसरों से कोई काम लिया जाता है या आज्ञा पालन कराया जाता है।"

बर्ट्रेंड रसेल के शब्दों में शक्ति से तात्पर्य "मन चाहा प्रभाव पैदा करना।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसके पास शक्ति है, वह दूसरों का अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की क्षमता रखता है। इस तरह शक्ति की चिर- प्रचलित अवधारणा मुख्यतः दूसरों के ऊपर प्रयुक्त शक्ति का संकेत देती है।

12.2.1 शक्ति का स्वरूप

राजनीति हमारे जीवन का ऐसा क्षेत्र है जहॉ सबके लिए नियम बताए जाते हैं. निर्णय भी वहीं पर होते है, समाज के सभी व्यक्तियों के लिए अधिकतर कर्तव्य, और दायित्व निर्धारित किये जाते है।

कोई भी नियमों को धरातल पर उतारने के लिए या साकार रूप देने के लिए शक्ति की जरूरत होती है, अन्यथा वो केवल कही हुई बातें रह जायेंगी। शासन में शक्ति का वहीं स्थान है जो गाड़ी में ईन्जन का है। शक्ति के बिना राजनीति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाज में शक्ति,सुरक्षा और न्याय को लाने का केवल यही एक साधन है। हेरल्ड लासवेल कहते है कि राजनीति का सरोकार शक्ति को सॅवारने और मिल बॉटकर उसका प्रयोग करने से है। इससे भी आगे बढ़कर काइकेल कार्टिस शक्ति के स्वरूप के बारे अलग ढंग से परिभाषा देते है, उनके अनुसार "राजनीति का अर्थ शक्ति और उसके प्रयोग के बारे में व्यवस्थित विवाद हैं, इसके अन्तर्गत प्रतिस्पर्धा मूल्यों , विचारों ,व्यक्तियों,हितों और मॉगों में से किसी-न- किसी का चयन करना होता है।"

12.2.2 शक्ति के स्रोत

शक्ति क्या है और उसका स्वरूप कैसा है इसकी चर्चा हम ईकाई के प्रारम्भ में कर चुके है। शक्ति की उपज कहा से है, इसे जानने के लिए शक्ति के स्रोतों का अध्ययन करना होगा। शक्ति के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैः-

1.आर्थिक व भौतिक साधनः- आर्थिक व भौतिक साधन शक्ति प्राप्त करने के बाहरी तत्व है। आर्थिक व भौतिक साधन शक्ति के वे तत्व है जो समाज व्यक्ति की पहचान का स्तर तय करत है। सम्पत्ति है। आज समाज के लिए सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है यह आन्तरिक रूप से कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकती लेकिन आज के उदारीकरण के युग में शक्ति का यह स्रोत बहुत प्रभावशाली सिद्व हो रहा है। इस प्रकार भौतिकवादी युम में सम्पत्ति शक्ति का सबसे बडा साधन है। यह समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्तर तय करती है।

2.ज्ञान और विचार शक्तिः- ज्ञान,शक्ति प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन है । जिसके व्यक्ति के पास ज्ञान का भण्डार होगा व मनुष्य अपने तथ्यों को आसानी से प्राप्त कर लेता है। जिससे समाज में उसका अलग स्थान बनता है। उससे व्यक्ति प्रभावित होता है और समाज में प्रभाव जमाकर वह शक्ति आर्जित कर लेता है। ''चमत्कार को नमस्कार'' वाली कहावत ज्ञान द्वारा शक्ति प्राप्त करने के साधनों पर सटीक बैठती है।

3.बल अथवा दमनः- बल अथवा दमन भी शक्ति प्राप्त करने का एक स्रोत है। प्राचीन काल समाज ''मत्सय न्याय'' था। जहॉ बलिष्ठ लोग कमजोर और कुचले लोगों का शोषण करते थे। यह भय पर आधारित है। इस भय के कारण दमनकारी व्यक्ति अपनी शक्ति को बढा़ता जाता है। जिससे समाज में उसका भय का वातावरण बना रहें।

4.संगठनः- ''संगठन में शक्ति है'' यह उक्ति शक्ति के विषय में सही चरित्रर्ता होती है। यह सामान्य सी बात है कि यदि आपको अपनी बात मनवानी है तो एक समूह तैयार करना पड़ता है। यदि आप अकेले है तो जिससे आप अपनी बात मनवाना चाहते है जरूरी नही है कि वो व्यक्ति या सरकार आपकी बातें माने। इसलिए विभिन्न ईकाईयों या समूह अपने हितों की पूर्ती के संगठन का निर्माण करते है। जिससे उनकी शक्ति में वृद्वि हो जाती है। और इसी शक्ति के कारण वे अपने हितों की पूर्ति के लिए समाज पर शासन पर दबाब डालते है। आज के समय में, दबाब समूह जैसे कि मजदूर संघ, व्यापारी संघ, धाग संघ इसके महत्वपूर्ण उदाहरण है।

5.व्यक्तित्वः- व्यक्तित्व भी शक्ति प्राप्त करने का स्रोत है। जिस व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली होगा, वह मनुष्य समाज अपना अलग अलग स्थान रखता है। व्यक्तित्व मनुष्य में आत्म विश्वास बढ़ाता है।

प्रभावशाली व्यक्तित्व वाला मनुष्य जब आत्मविश्वास से भरा होता है तो वह समाज में उसको प्रतिष्ठा प्रदान कराता है। प्रतिष्ठा ही मनुष्य को शक्ति प्रदान करती है। यदि व्यक्ति का व्यक्तित्व बुरे आचरण वाला हो, तो वह शक्ति को भय का रूप देता है तथा भय से जो शक्ति प्राप्त होती है वह अवनति का मार्ग प्राप्त करती है।

6.विश्वासः- यदि शक्ति में विश्वास हो तो यही शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत होती है। चाहे व्यक्ति के पास कितनी शक्ति क्यों न हो और उस शक्ति को प्राप्त करना का साधन चाहे जो रहा हो। किन्तु यदि शक्ति में विश्वास नही होता है तो फिर शक्ति शून्य है। इसलिए मनुष्य के लिए यह अति आवश्यक वह शक्ति में विश्वास रखे।

शक्ति के प्रकार या आयामः- राजनीति में शक्ति का प्रयोग बहुत विस्तृत क्षेत्र में होता है। अनेक विद्वानों ने शक्ति के अलग-अलग प्रकारेां का वर्णन किया है। मैक्स बेबर के अनुसार शक्ति का सही रूप औचित्यपूर्ण शक्ति इसके अलावा में शक्ति नहीं "दमन" होता है। औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख प्रकार बताये है। 1.कानूनी या वैधानिक 2. परम्परागत 3. करिश्माई शक्ति। लेकिन शक्ति जिस रूप में राजनीति को प्रभावित करती है उनसे मौटे तौर पर तीन प्रकार की शक्ति होती है।

1. राजनीतिक शक्ति 2. आर्थिक शक्ति और 3. वैचारिक शक्ति

1. राजनीतिक शक्ति:- सामान्य रूप राजनीतिक शक्ति से अभिप्राय है, समाज के मूल्यवान संसाधनों को अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न, समूहों के हित में या विभिन्न कार्यक्रमों में लगाने की शक्ति। इनमें नीतियों का निर्माण और इन्हें लागू करना, कानूनों का निर्माण करना, कानून का उल्घन्न करने वाले को दंड देना आदि। इस प्रकार पुलिस न्यायालय, काराग्रह आदि शक्ति भी राजनीतिक शक्ति के उपकरण हैं। राजनीतिक शक्ति का प्रयोग सरकार के विभिन्न अंगों के द्वारा किया जाता है जैसे कानून का निर्माण विधानमण्डल के द्वारा किया जाता है, कार्यपालिका कानून को लागू करता है तथा न्यायापालिका कानून की व्याख्या का काम करती है,रक्षा करती नौकरशाही तथा पुलिस के माध्यम से । लोगों से कानून व नियमों का पालन करवाने में राजनीतिक शक्ति एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

मार्क्सवादी लोग भी शक्ति की अवधारणा में विश्वास करते है। मार्क्सवादी राजनीतिक शक्ति को पूंजीपति वर्ग के हाथों का एक ऐसा औजार मानते है जिसके द्वारा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति (पूंजीपति) गरीब लोगो का शोषण कर सके। मार्क्स राजनीतिक और आर्थिक शक्ति में अन्तर नही मानता है। बल्कि उसकी मान्यता है कि राजनीतिक शक्ति के उत्पादन के स्तर पर उन आर्थिक सम्बन्धों का परिणाम होती है, जिसके माध्यम से शासक वर्ग आर्थिक स्तर पर सम्पन्न वर्ग के हितों की पूर्ती के

लिए बनायें रखना चाहता है। कुछ लोग राजनीतिक शक्ति और राजनीतिक क्षमता में अन्तर करते है जबकि ये दोनो एक दूसरे की पूरक है।

2. आर्थिक शक्तिः- आर्थिक शक्ति से आशय है कि जब कोई सम्पन्न व्यक्ति या राष्ट्र अपने धन, सम्पदा,उत्पादन के साधनों के बल पर निर्धन लोगों या निर्धन राष्ट्रों के जीवन की परिस्थितियों पर नियन्त्रण स्थापित करता है तो उसमें आर्थिक शक्ति निहित होती है। आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति पर हमेशा प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए, उदारीकरण के दौर में बड़े बड़े जमीदार, उघोगपति और व्यापारिक घराने सरकार की नीतियों औी निर्णयों को प्रभावित करते है और विकास की प्राथमिकताओं को निर्धारित के लिए अपने हितों केा बढावा देते है।

आज के इस युग में ,आर्थिक शक्ति के स्वामी भिन्न-भिन्न तरीको से राजनीति को प्रभावित करते है। उनके दबाब समूह ज्यादातर ताकतवर और प्रभावशाली होते है। उदाहरण के तौर पर भारत में व्यापारिक संगठन,किसान संगठन निर्बल और कमजोर होते है। वे सरकार को प्रभावित नही कर पाते है। कहा तो यह भी जाता है कि हमारी सरकार पूंजीपतियों के हाथ का खिलौना है। वे सरकार को अपने हितों के अनुसार नीतियॉ बनाने के लिए बाध्य करते है। क्योंकि जितने भी मुख्य समाचार पत्र पत्रिकाओं है उन पर व्यापारिक घरानों का कब्जा है। इसके अलावा बड़े-बड़े पूंजीपति और धन्ना सेठ अक्सर चोरी-छिपे राजनीतिक दलों और चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को भारी वित्तीय सहायता देते है। चाहे राजनीतिक जनसाधारण के हितों की दुहाई देते हो, परन्तु भीतर से वे अपने वित्तदाताओं के हितो की रक्षा के लिए संकल्पबद्व होते है।

3. विचाराधारात्क शक्ति:- वैचारिक शक्ति वह शक्ति है जिसके माध्यम से शासक वर्ग जनता के धार्मिक,नैतिक व सामाजिक मूल्यों को ,भावनाओं,परम्पराओं आदि को समक्षकर इस तरह प्रयोग करते हैं, जिससे साधारण जनता उनकी स्वामी भक्त बनी रहे और बिना किसी झंझट के आज्ञा पालन करती रहें।

वर्तमान समय यें, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्थाएं प्रचलित हैं, और उन्हें वैधता प्रदान करने के लिए पूंजीवाद,उदारवाद,साम्यवाद या समाजवाद इत्यादि को सर्वोत्तम शासन प्रणाली सिद्व करने की कोशिश की जाती है। ये सारे वादे इन विचारधाराओं से सम्बन्धित है।

राजनीतिक विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह कि जब लोग मन से शासक वर्ग की नीतियों व निर्णयों का समर्थन करने लगते है और उन्हें चुनौती नहीं देना चाहते तब शक्ति शासक वर्ग की सत्ता को और सुदृढ़ बनाती है। मार्क्सवादी विचाराकों के अनुसार वैचारिक शक्ति समाज में उपस्थित अन्य

शक्तियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है। यदि आर्थिक शक्ति , राजनीतिक शक्ति में बदलाव लाना चाहती है तो वह वैचारिक शक्ति का सहारा लेगी। मार्क्सवादी विचारक का चिन्तन का विषय ही यह है कि छोटा सा पूंजीपति वर्ग बहुसंख्यक सम्पन्न वर्ग पर, खुली प्रतियोगिता के बावजूद अपना प्रभुत्व कैसे जमाने में सफल रहता है। यह स्वाभाविक सी बात है समाज में जो वर्ग उत्पादन का स्वामी होता है वह मानसिक साधनों का भी स्वामी बन जाता है। इसी तरह पोलने का कथन है कि ''वैचारिक शक्ति समाज में सामंजस्य स्थापित करने तथा वर्ग विशेष के अधिपत्य को मजबूत करने का कार्य करती है। ''

12.3 सत्ता

''सत्ता किसी व्यक्ति, संस्था, नियम का आदेश का ऐसा गुण या क्षमता है जिसके कारण उसे सही या प्रमाणित मानकर स्वेच्छा से उसके निर्देशों का पालन किया जाता है।'' जब तक किसी समाज या राज्य में सत्ता का प्रयोग नही होता तब तक नीतियॉ, नियम और निर्णय लागू या स्वीकार नही किये जा सकते है। अतः सत्ता को राज्य रूपी ''शरीर की आत्मा'' कहा जा सकता है। कोई भी राजनीतिक गतिविधि या कार्यक्रम सत्ता के आधार पर ही सम्भव होते है। सत्ता, शक्ति, प्रभाव तथा नेतृत्व का मुख्य साधन है। अपने सभी स्वरूपों में सत्ता शक्ति,प्रभाव,वैधता व नेतृत्व से जुड़ी हुई है।

सत्ता की निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है।

थियो हैमेन के शब्दों में, ''सत्ता वह वैधानिक शक्ति हैं जिसके जोर पर अधिनस्थों से कार्य करता है। उन्हें इस के लिए बाध्य किया जा सकता हैं। आदेश का पालन न करने पर शासक उनके विरूद्व कार्यवाही कर सकता है। यहॉ तक कि उन्हें कार्य से भी अलग कर सकता है।''

बायर्सटेड के शब्दों में, ''सत्ता शक्ति के प्रयोग का वैधानिक अधिकार है स्वयं शक्ति नहीं।''

ऐलन के शब्दों में, ''दिये गये कार्यो को सम्पन्न कराने के लिए दी गयी शक्तियॉ व अधिकार सत्ता है।''

12.3.1 सत्ता के आधार अथवा स्रोत

राजनीतिक अथवा प्रशासनिक सत्ता का शक्ति,प्रभाव आदि से निकट सम्बन्ध है परन्तु सत्ता का अपना स्वतन्त्र आस्तित्व है। सत्ता के अनेक स्रोत होते है।सत्ता का मूल आधार औचित्यपूर्णता होती है। इसके अतिरिक्त अन्य आधारों में विश्वास विचारों की एकरूपता,विभिन्न शक्तियॉ पर्यावरणात्मक दबाब,आन्तरिक संरचनाए,प्रशासनिक संगठन आदि होते हैं। सत्ता के निम्नलिखित स्रोत है।

1. धर्मः- धर्मसत्ता का महत्वपूर्ण आधार रहा है। प्राचीन काल से मध्ययुग तक धर्म का समाज पर प्रभाव रहा है। राजा के धर्म के अधीन होता था तथा राज्य में सभी नियम,कानून व सिद्वान्त धर्म पर आधारित थे। इस प्रकार धार्मिक नियमों का पालन कानून की भॉति किया जाता था।

2. शक्तिः- अध्ययन करते से ज्ञात होता है कि शक्ति प्राचीन काल से ही सत्ता का मूल आधार रही है। प्राचीनकाल में समाज अशन्तिव तनाव व्यापत रहता था। ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' वाला नियम प्रचलित था। जो व्यक्ति अधिक शक्ति सम्पन्न होता था। वह समाज के दूसरे लोगों से अपनी आज्ञा का पालन करता था। राज्य के निर्माण,विस्तार और विकास में शक्ति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हॉब्स मैकियावे लो, मार्क्स आदि महान विचारकों ने शक्ति को राज्य सत्ता का एकमात्र आधार माना है। आधुनिक युग में भी सत्ता का आधार कानूनी शक्ति ही है।

3. पैतृक वंशः- पैतृक वंश परम्परा भी सत्ता का आधार रही है। प्राचीनकाल में जिन राज्यों के अन्दर राजतन्त्र विघमान था। जहॉ राजाओं की सत्ता का आधार पैतृक वंश की परम्परा थी। राजतन्त्र राजसिंहासन उत्तराधिकार में प्राप्त होता है। राज्य के लोग राजा के आदेशों का पालन इसलिए कहते है क्योंकि उनके पहले के परिवार के लोग भी अपने समकालीन राजाओं की आज्ञाओं का पालन करते रहे है।

4. दैवी अधिकारः- मध्ययुगीन राजाओं ने अपनी सत्ता का आधार दैवी अधिकार बताया था। वेा कहते है कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है तथा उन्हें शासन करने की सत्ता ईश्वर से प्राप्त हुई है। और उनके आदेशों की अवहेलना करने का अर्थ है कि आप ईश्वर के आदेशों की अवहेलना कर रहे हो। फ्रांस में लुई14 वॉ अपने आपको ईश्वर का इत कहता था। लेकिन वर्तमान समय में दैवी अधिकारों को सत्तमा का आधार स्वीकार नहीं किया जाता है।

5. संविधानः- आधुनिक समय में राज्य में शासक की सत्ता का आधार उन राज्यों का संविधान होता है। संविधान में वे सिद्वान्त,नियम कानून निहित होते है जिनके आधार पर सत्ता की संरचना की जाती हे। उदाहरण के तौर पर, भारत के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री,राज्यपाल,मुख्यमंत्री आदि की सत्ता का आधार वह संविधान है जो 26 जनवरी 1950 ई0 को लागू किया गया।

6. औचित्यपूर्णताः- आधुनिक समय मे सत्ता का सबसे प्रमुख आधार औचित्यपूर्ण है। सत्ता के पीछे बाध्यकारी कानूनी शक्ति का होना ही जरूरी नहीं है। उसमें औचित्यपूर्णत ऐसी विचार है जो विश्वास पर आधरित होता है। जब लोग सत्ता की संरचना,कार्यो,नीतियों और निर्णयों के प्रति व्यापक विश्वास रखें और पूर्णसमर्थन दे तो उसे औचित्यपूर्णता कहते है।

12.3.2 सत्ता के प्रकारः

सत्ता को समझने के लिए विद्वान अपनी संकल्पनाओं को निरन्तर परिष्कृत करने का प्रयास करते रहते हैं। मैक्सवेबर ने सत्ता के तीन प्रकार बताये है। परम्परागत,बौद्विक कानूनी और चमत्कारपूर्ण।

1. परम्परागतः- समाज में, जब प्रजा या अधीनस्थ,वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों का पालन इस आधार पर मानते है कि हमेशा से ऐसा होता आया है तो सत्ता का यह प्रकार परम्परागत कहा जाता है। अर्थात कुछ लोग सत्ता को अपने ऊपर इसलिए स्वीकार कर लेते है, क्योंकि उनका यह विश्वास होता है कि इन नियमों का अनुसरण अति प्राचीन काल से किया जा रहा है। अतः जो परम्परागत या प्रथा दीर्घकाल से अपनायी जा रही है वह निराधार नही हो सकती है । कबीलों,गॉवों के बड़े-बूढ़ों द्वारा सत्ता का प्रयोग ऐसे विश्वासों पर ही होता है।

2.बौद्विक कानूनीः- जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते है कि वह नियम उन उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के साथ सम्मत है जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते है, तब इस स्थिति में सत्ता को बौद्विक कानूनी माना जाता है। अध्किारी तन्त्र बुद्विसम्पन्न कानूनी अधिकार को सर्वोत्तम उदाहरण है। उदाहरण के लिए, जब भारत में लोक सभा चुनाव के बाद लोकसभा सदस्य अपने नेता का चुनाव करके उसे प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठा दे तो यह सत्ता का बौद्विक कानूनी आधार होता है।

3.चमत्कारपूर्णः- इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है। लोग कुछ ऐसे नेताओं की सत्ता को स्वीकार करने या उन्हें सत्ता प्रदान करने के लिए तैयार होते हैं, जिनकी शक्ति ने तो परम्परा के आधार पर मिल तो है और न ही बौद्विक कानूनी प्रणालियों में , वे ऐसे नेता भी नही होते है जिनकी जनता के बीच कोई पारम्परिक प्रतिष्ठ है। इस प्रकार के नेता कभी कभी असामान्य काम कर जाते हैं जिससे वो इतिहास के पन्नों में दर्ज हो जाते है। ऐसे नेता ही चमत्कारी नेता कहलाती है। गॉधी,लेनिन और हिटलर आदि ऐसे ही चमत्कारपूर्ण नेता थे।

शक्ति और सत्ता-

राजनीति के अन्तर्गत किसी भी निर्णय को लागू करने के लिए शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। जहॉ कहीं पर भी आधुनिक समय में सत्ता का प्रयोग होता है वह सत्ता शक्ति का पर्याय बन जाती है और शक्ति की भूमिका सबसे प्रभावशाली वहॉ सिद्व होती है जहॉ शक्ति केवल बल प्रयोग का साधन नही रह जाती बल्कि वैधता के साथ मिलकर सत्ता का रूप धारण कर लेती है। अतः सत्ता वह शक्ति है। जिसे न्यायचित माना जाता है। जिसे सभी वैध स्वीकार करते हैं या तो उसके निर्णयों पर सहमति देते है या फिर असहमति प्रदान करते है। शक्ति से संघर्ष होने पर व्यक्ति या तो समर्थन करता है या विरोध प्रकट करता हैं जबकि सत्ता से संघर्ष की स्थिति में प्रायः एक ही मार्ग दिखाई देता है उसका पालन।

सत्ता औचित्य युक्त होती है इसलिए इसका विरोध शासन के लिए ठीक नहीं माना जाता है। इस प्रकार शक्ति में बल निहित होता है और सत्ता में शक्ति बल के पीछे जब सहमति होती है तब वह शक्ति का रूप ले लेता है। और शक्ति के साथ जब औचित्यपूर्णता जुड़ जाती है। तब वह सत्ता का रूप धारणा कर लेती है। जब तक राज्य में व्यवस्था कायम रहती है तब तक जनसामान्य और समाज उसका समर्थन करता रहता है किन्तु बिना बल शक्ति प्रभावी नहीं दिखाई देती है। इस प्रकार सत्ता में शक्ति और शक्ति में बल का समावेश रहता है।

12.4 वैधता

शक्ति सत्ता और वैधता में अंतरसंबंध है और यह राजनीति विज्ञान महत्वपूर्ण अवधारणा है। शक्ति के साथ जब वैधता जुड़ जाती है तब वह सत्ता कहलाती है। राजनीति विज्ञान में वैधता (Legitimacy) समान्यत: शासकीय कानून अथवा व्यवस्था के मध्य अधिकार और प्राधिकरण की स्वीकृति है।

वैधता वास्तव में शक्ति और सत्ता के बीच की कड़ी है। वैधता ऐसा तत्व है जो पाशविक शक्ति को मानी सत्ता के रूप में ढाल देता है और लोग अपनी इच्छा से उस सत्ता को मानते है। जॉन लॉक से पहले राज-पद को दैवीय उत्पत्ति के सिध्दांत को वैधता का आधार माना गया था। जॉन लॉक ने इसका खंडन करते हुए लोगों की सहमती को राज्य की वैधता का आधार बनाया। वहीं रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार को राज्य की वैधता का आधार बनाकर लोकतंत्र की भावना को बढ़ावा दिया। आज की लोकतंत्रीय प्रणालियों में जनता की भागीदारी को राज्य की वैधता का प्रमाण माना जाता है। कभी-कभी लोकतंत्र और अधिनायक-तंत्र में अंतर करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि लोकतंत्र का प्रधान लक्षण वैधता है जबकि अधिनायकतंत्र मुख्यतः शक्ति या बल- प्रयोग के सहारे टिका होता है।

राज्य के पास शक्ति या दमनात्मक बल होता है जिस प्रयोग प्रयोग राज्य कर सकता है इसी लिए लोग राज्य की आगया का पालन करते हैं। यहाँ तक कि जब वास्तविक रूप में जबरदस्ती (दमन) का उपयोग नही किया जा रहा हो तब भी इसका खतरा मौजूद रहता है।

राज्य को राज्य की अवज्ञा करने वाले लोगों पर नियंत्रण रखने के लिए एक दमनकारी तंत्र बनाये रखना चाहिए लोगों को लगातार दबाव की धमकी में रखने से लगातार टकराव की स्थिति पैदा रहेगी। इससे राज्य खुद को सत्ता में बनाये रखने के के सवाल में उलझा रहेगा।

नागरिकों को केवल बल के द्वारा नियंत्रित करना सम्भव नहीं हैं और उचित भी नहीं है। सत्ता को लोगों को आज्ञाकारिता इस आधार पर मिलती है कि जो राज्य शासन कर रहा है वह उनके लिए अच्छा और लाभदायक है। वह सरकार आमतौर पर स्वीकार्य होती है जो कानून द्वारा स्थापित

प्रक्रियाओं के माध्यम से सत्ता में आई है। राज्य और सरकार का गठन नियमों और प्रक्रियाओं का पालन करते हुए उचित रूप से किया गया है इसलिए लोगों को इसका पालन करना चाहिए। यह लोकप्रिय विश्वास ही राज्य को वैधता प्रदान करता है। मैक्स वेबर ने सबसे पहले एक व्यवस्थित सिध्दांत दिया जिसके द्वारा वैधता प्राप्त की जा सकती है। यदि सत्ता को लम्बे समय तक कायम रखना है तो उसे सार्वजनिक स्वीकृति मिलनी ही चाहिए। राजनीतिक सत्ता शासन करने के अधिकार की स्वीकृति पर आधारित है राजनीतिक शक्ति की नींव वैधता है।

वैधता को उस राजनीतिक स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सत्ता धारक सत्ता पर अपनी पकड़ को उचित ठहराने में सक्षम होते हैं।

डोल्फ स्टर्नबर्जर ने इसे शासकीय शक्ति की नींव माना है जिसके अनुसार सरकार को यह चेतना रहती है कि उसे शासन करने का अधिकार है तथा दूसरी ओर शासितों द्वारा उस अधिकार को स्वीकार किया जाता है।

एच. जी. वेल्स के अनुसार, लोकतान्त्रिक राजनीति की स्थिरता व्यवस्था न केवल आर्थिक विकास पर निर्भर करती हैं, बल्कि इस पर भी निर्भर करती है वैधता लोगों के विश्वास पर टिकी है। मौजूदा राजनीतिक संस्था को लोगों की सहमती ही वैध बनती है।

जहाँ लोग परिवर्तन के लिए सहमत होते हैं वहाँ सरकारें अपनी वैधता खो देती हैं और राजनीतिक संस्थाएं परिवर्तित हो जाती हैं परिवर्तन के संकट के परिणामस्वरूप वैधता का संकट उत्पन्न होता है।

सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं की प्रभावशीलता वैधता पर निर्भर करती है, लेकिन लोकतंत्रीय व्यवस्था में वैधता का महत्त्व सर्वाधिक है। लोकतंत्र जन सहमती पर आधारित शासन होता है, अतः लोकतंत्र में भय और आतंक के आधार पर जनता से आज्ञा पालन करा पाना कठिन हो जाता है। एस. एम . लिपसेट " किसी विशिष्ट लोकतंत्र की स्थिरता न केवल आर्थिक विकास पर ही, अपितु वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था की वैधता और क्षमता पर भी निर्भर करती है।" वैधता के अंतर्गत राजनीतिक व्यवस्था के सामान्य जन को यह विश्वास होता है कि सत्ता धारक की सत्ता और उसका प्रयोग सामान्य स्वीकृत नियमों पर आधारित है।

डेविड एप्टर ने कुछ कारन बताये है जिनकी वजह से वैधता को खोया जा सकता है –

1 राजनीति के कुछ महत्वपूर्ण सदस्य यदि सरकार से अपना समर्थन वापस ले लें तो वैधता समाप्त हो सकती है।

2 एक नए जागरूक राजनीतिक समूह के उदय के कारण भी वैधता समाप्त हो सकती है।

3 राजव्यवस्था के राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण सदस्यों को राजनीतिक व्यवस्था द्वारा हटाये जाने के कारण वैधता समाप्त हो सकती है।

वैधता की विशेषताएं

1 वैधता राजनीतिक रूप से सत्ता की कार्यात्मकता पर निर्भर करती है।

2 वैधता लोगों की दायित्व पालन करने की भावना पर निर्भर करती है।

3 प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक वैधता की अवधारणा की प्रत्योज्यता होती है।

4 वैधता सरकार के आदर्श प्रकार पर निर्भर करती है।

5 वैधता विश्वास विकसित करने व्यवस्था है।

6 वैधता में प्रभाव भी शामिल होता है।

7 वैधता सम्बंधित मूल्यों पर निर्भर करती है।

8 वैधता शक्ति को सत्ता में परिवर्तित करने का गुण है।

9 वैधता विशाल सामाजिक स्वीकृति पर आधारित है।

वैधता को प्राप्त करने व स्थिर रखने के उपाय

1 नई परिस्थितियों के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन किया जाये।

2 देश की स्थापित परम्पराओं की रक्षा की जाये।

3 जिस विधान के आधार पर शक्ति ग्रहण की गयी हो उसकी रक्षा की जाये।

4 वैधता बनाये रखने के लिए नेतृत्व में चमत्कारक गुण होना चाहिए।

5 लोकतान्त्रिक ढाचे में सशस्त्र सेनाओं को राजनीतिक सत्ता के अधीन होना चाहिए।

वैधता का स्तर हर स्थिति में अलग-अलग होता है यह राज्य के प्रदर्शन पर निर्भर करता है। हालाँकि कानून है कि राज्य की आज्ञा का पालन सभी को करना होता हर जो आज्ञा का पालन नहीं करते हैं उनके खिलाफ दंडात्मक करवाई की जा सकती है। कई विद्वानों का मत है कि कोई भी स्जसन- प्रणाली सम्पूर्ण जनता की दृष्टि से पूर्ण रूप से वैध नहीं हो सकती है। अत्यत लोकप्रिय शासन-प्रणाली के

अंतर्गत भी थोड़े बहुत विरोध के स्वर सुनाई देते है ।वैधता को मापना आसन नहीं है परन्तु यदि राजनीतिक प्रणाली के अंतर्गत कानूनों का उल्लंघन नहीं हो रहा हो, हिंसा की घटनाएँ नही हो रही हैं और असहमति-आन्दोलन नहीं हो रहे हों तो वैधता को मापा जा सकता है। किसी प्रणाली में शासन और प्रशासन में फैला हुआ भ्रष्टाचार उसकी वैधता को समाप्त कर सकता है। यह भी संभावना रहती है कि लोग कुछ नेताओं के पार्टी अपनी आस्था न रखें पर राजनीतिक प्रणाली की वैधता में उनका भरोसा रहे। यदि पत्रकार, बुद्धिजीवी व न्यायाधीश सतर्क और ईमानदारी से काम करें तो राजनीतिज्ञों व अधिकारीयों के भ्रष्टाचार में नियंत्रण रहता है और वैधता भी सुरक्षित रहती है।

2. वस्तुनिष्ठ प्रश्नः-

(1.) शक्ति की अवधारणा सर्वप्रथम किसने दी।

(a) मैकियावली (b) लासवेल

(c) कार्ल मार्क्स (d) बेकर

(2.) शक्ति के स्रोतों के सम्बन्ध में एक ठीक है-

(a) ज्ञान (b) साधन

(c) निपुणता (d) उपर्युक्त सभी

(3.) जिसकी लाठी उसकी भैंस कौन सी शक्ति का रूप है-

(a) ज्ञान (b) साधन

(c) निपुणता (d) उपर्युक्त सभी

(4.) सत्ता का निम्न आधार है

(a) संविधान (b) बल

(c) अनैतिकता (d) उपरोक्त सभी

(5) लैटिन शब्द 'लेगितिमस' का अर्थ है :

(a) वैध (b) हानिकारक

(b) प्राधिकरण(d)शक्तिशाली

12.5 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर राजनीति में शक्ति की भूमिका को देखते है कि प्रायः शक्ति को बल-प्रयोग की धारणा से साथ मिला दिया जाता है। आधुनिक राजनीति-चिन्तन के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि निकोलो मेकियावली और हॉब्स के समय से लेकर बीसबी सदी के अनुभवमूलक सिदान्तकारों तक शक्ति की अवधारणा ऐसी क्षमता के रूप में की गई है कि एक मनुष्य,दूसरे मनुष्य से उसकी इच्छा के विरूद्व आज्ञापालन कैसे करा सकता है? यदि हम दूसरों लोगों से आज्ञापालन कराने या कोई कार्य कराने में उनकी सहमति भी प्राप्त कर ले तो शक्ति की भूमिका ओर प्रभावशाली हो जाती है।

सहमति प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय वैधता है। शासक वर्ग जनता की सहमति प्राप्त करने के लिए 'विचारधारा' का सहारा लेता है। वह आपने आदेश को इस तरह से पेश करता है जैसे वो सर्व-हित के लिए किया गया हो जबकि वह अपने स्वार्थ पर टिका होता है। जैसे अरस्तू ने दास-प्रथा को उचित ठहराने के लिए यह तर्क दिया कि की दास में सदगुण की कमी पायी जाती है। अतः वह स्वामी से सदगुण का लाभ ले सकता है।

12.6 शब्दावली

लोकमत:- सार्वजनिक महत्व के किसी विषय पर जनता की आम राय,विचार या मत जिसका पता लगाया जा सके।

दबासमूहः- ऐसा संगठन जो अपने सदस्यों के किन्हीं संकीर्ण हितों की रक्षा के लिए सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।

विचारधारात्मक शक्तिः- प्रचलित या प्रस्तावित व्यवस्था को सर्वोत्तम व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करके या उसे लोगों की दृष्टि में उचित ठहराकर उसके लिए लोगों की सहमति और समर्थन प्राप्त करने की क्षमता।

12.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.b 2. b 3.b 4. a 5.a

12.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।

2.ओम प्रकाश गाबा,राजनीतिक सिद्वान्त की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स नोएडा।

3.डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्वान्त,जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

4. डॉ.पुखराज जैन व डॉ. बी. एल. फडिया , आधुनिक राजनीतिक सिध्दांत, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1 .वीरकेश्वर प्रसाद -राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली

2 .डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

12.10निबन्धात्मक प्रश्न

1- शक्ति से आप क्या समझते है? इसके स्रोतों का वर्णन कीजिए।

2- शक्ति को परिभाषित कीजिए। इसके विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए।

3- सत्ता को परिभाषित कीजिए। सत्ता के प्रकार बताइयें।

4-सत्ता से आप क्या समझते हैं? इसके कार्य और विशेषताएँ बताइये।

5- वैधता क्या है? वैधता को परिभाषित करते हुए , उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालिए ।

इकाई 13 : कानून की अवधारणा , न्याय की संकल्पना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 कानून का अर्थ एवं परिभाषा
13.3 कानून के आवश्यक तत्व
13.4 कानून के स्रोत
13.5 कानून के प्रकार
13.5.1 मेक्ल्वर के अनुसार कानून के प्रकार
13.6 न्याय : अर्थ और परिभाषा
13.7 न्याय के विचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
13.7 .1. प्राचीन सभ्यताओं में न्याय
13.7 .2.मध्ययुगीन काल में न्याय
13.7 .3 पुनर्जागरण काल में न्याय
13.7 .4 आधुनिक न्याय प्रणालियाँ
13.8 न्याय के विभिन्न आयाम
13.9 न्याय-रॉल्य के परिप्रेक्ष्य में
13.10 राल्य का न्याय सिद्धान्त
13.10.1 रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की आलोचनाएँ
13.11 सारांश
13.12 शब्दावली
13.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची
13.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.12 निबन्धात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई 12 में हमने शक्ति सत्ता और प्रभाव का अध्ययन किया है .जिसमें,शक्ति के अर्थ उसके स्वरूप और स्त्रोत तथा सत्ता के अर्थ ,सत्ता के आधार अथवा स्रोत, सत्ता के प्रकार, प्रभाव के अर्थ उसके प्रमुख स्रोत के बारे में जानकारी प्राप्त हुई . अध्ययन के आधार पर राजनीति में शक्ति की भूमिका को देखते है कि प्रायः शक्ति को बल-प्रयोग की धारणा से साथ मिला दिया जाता है।

हमें हर दिन अपने जीवन को आसान बनाने के लिए कुछ नियम-कानून की जरुरत होती है। कानून हमारे जीवन के हर एक पहलु को प्रभावित करता है। कानून ही हमें शिक्षा, स्वस्थ, रोजगार आदि महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सुरक्षा दिलाने का काम करता है। जब हम सड़क पर होते हैं तो तमाम सड़क कानूनों से बधे होते हैं और इन कानूनों के आभाव में अराजकता की स्थिति पैदा हो सकती है। कानून हर व्यक्ति के लिए इतना महत्वपूर्ण है कि उसकें बारे में जानकारी होना जरुरी है जैसे कानून का अर्थ , परिभाषा, स्रोत , प्रकार आदि।

न्याय एक मौलिक अवधारणा है जो मानव समाज और नैतिक सिद्धांतों के केंद्र में स्थित है। यह एक बहुआयामी और जटिल विचार है जिसमें निष्पक्षता, समानता और व्यक्तियों के साथ न्यायसंगत व्यवहार शामिल है। इसके मूल में, न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसका हक देने के विचार के इर्द-गिर्द घूमता है, चाहे वह अधिकारों, अवसरों या उनके कार्यों के परिणामों के संदर्भ में हो। यह सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक सीमाओं से परे निष्पक्षता और कानून के शासन के मूल्यों को बनाए रखने का प्रयास करता है।

न्याय की अवधारणा मानव सभ्यता के दौरान विकसित हुई है, जो प्राचीन सभ्यताओं के कानूनी प्रावधान, प्रसिद्ध दार्शनिकों के नैतिक सिद्धांतों और असमानताओं का मुकाबला करने के लिए उभरे सामाजिक न्याय आंदोलनों में अभिव्यक्ति पाती है। चाहे गलतियों को सुधारने के लिए प्रतिशोधात्मक न्याय की मांग हो या उपचार और मेल-मिलाप को बढ़ावा देने के लिए पुनर्स्थापनात्मक न्याय की, अपने अंतर्निहित उद्देश्य में इसका लक्ष्य एक संतुलित और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करना है।

न्याय के विचार के इस परिचयात्मक अन्वेषण में हम इसके ऐतिहासिक विकास, इसके विभिन्न आयामों और सामाजिक ताने-बाने को आकार देने में इसके महत्व पर गहराई से विचार करेंगे। हम यह भी समझेंगे कि न्याय कानून के शासन, नैतिकता और समानता की खोज के साथ-साथ समकालीन बहस और चुनौतियों में इसकी स्थायी प्रासंगिकता के साथ कैसे जुड़ा हुआ है।

इस इकाई में कानून की अवधारणा व न्याय की अवधारणा का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम यह जान सकेंगे –

1. कानून का अर्थ , परिभाषा , प्रकृति और स्रोतों को जान पाएंगे।
2. कानून का वर्गीकरण करने में सक्षम होंगे।
3. कानून का प्रवर्तन कैसे होता हैं जान पायेंगे।
4. न्याय के अर्थ और परिभाषा को समझ सकेंगें।
5. न्याय की धारणा के विकास को जान पायेंगें।
6. न्याय के विभिन्न आयामों की समझ पाएंगे।
7. राल्स के न्याय सिद्धांत के अर्थ के सम्बन्ध में।
8. राल्स के न्याय सिद्धांत के विशेषता के सम्बन्ध में।
9. वर्तमान सदर्भ में इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में।

13.2 कानून का अर्थ एवं परिभाषा

मनुष्य समाज में रहता है और हर मनुष्य के विचार, लक्ष्य और आदर्श अलग-अलग होते हैं। इस लिए उनके कार्यों को नियंत्रित करने के लिए कुछ एकसमान नियम होते हैं इन एकसमान नियमों को जो मानव व्यवहार को नियंत्रित करते है उन्हें कानून कहा जाता है। राजनीतिक सिध्दांतों में कानून का एक महत्वपूर्ण स्थान है। कानून राजनीति से करीब से जुड़ा हुआ है कानून के बिना राज्य अराजक हो जायेगा और राज्य के बिना कानून अर्थहीन है। कानून की अवधारणा सभ्य समाज के अस्तित्व के साथ ही उपजी है। राज्य अपने नागरिकों के लिए जो निर्देशात्मक नियम बनता है, उन्हें हम विधि या कानून कहते हैं। राज्य सभी संगठनो में सबसे ऊँचा स्थान रखता है इस लिए राज्य द्वारा दिए गये कानूनों का पालन सभी सदस्यों द्वारा किया जाता है। निर्देशात्मक कानून यह बताते हैं कि किस परिस्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिए या क्या नहीं करना चाहिए। लॉ शब्द पुराने ट्युटनिक मूल 'लैग' से बना है, जिसका अर्थ स्थिर या समान रूप से स्थित होना है। लॉ शब्द लेटिन भाषा के शब्द के जूस (jus) जो की jungere से जुड़ा है जिसका मतलब बंधन / बंधना है। कानून का सामान्य अर्थ मानवीय कार्यों को निर्देशित करने के लिए नियमों का समूह है।

कानून की कोई एक सामान्य परिभाषा नहीं है जिससे उसे पूर्ण रूप से समझा जा सके अलग अलग विद्वानों ने इसे अलग तरह से परिभाषित किया है।

अरस्तू " परिपूर्ण कानून मानव प्रकृति में निहित है और मानव प्रकृति से प्राप्त किया जा सकता है।

आस्टिन " कानून संप्रभु का आदेश है"

पेटन " कानून उन नियमों का निकाय है जो समुदायों में बाध्यकारी नियमों के रूप में प्रचलित होते हैं और जिसके द्वारा नियमों के बाध्यकारी प्रावधान का सक्षम बनाने के लिए नियमों को पर्याप्त अनुपालन सुनिश्चित किया जाता है।

ए. वी . डायसी " कानून जनमत का प्रतिबिम्ब है"

जर्मन न्यायशास्त्री इहरिंग के अनुसार " कानून राज्य की नियंत्रण की शक्ति है, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत और सामाजिक हितों का समन्वय करके उनकी रक्षा करना और संघर्ष के अवसरों को कम करना है। कानून द्वारा समाज में अच्छे जीवन की स्थितियों की गारंटी मिलती है।"

फेडरिक कार्ल वोन सेविग्नी (Savigny) " कानून समुदाय के भीतर अचेतन विकास का विषय है जिसे ऐतिहासिक परपेक्ष्य में समझा जा सकता है सेविने के सिद्धांत वोक्सजिस्ट के अनुसार कानून का तात्पर्य लोगों की इच्छा है।

रस्कोई पाउंड " कानून राजनैतिक रूप से संगठित समाज में बल के सुव्यवस्थित प्रयोग के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण है।

वुडरो विल्सन के अनुसार "कानून प्रचलित विचार और व्यवहार का वह अंश है जिसे एक सामान नियमों के रूप में स्पष्ट और औपचारिक मान्यता दी गयी हो, और इन नियमों को शासन की सत्ता और शक्ति का समर्थन प्राप्त हो।

जे. डब्लू. साल्मंड " कानून उन सिद्धांतों का समुच्चय है जिन्हें राज्य मान्यता देता है और न्याय के प्रवर्तन के दौरान लागू करता है।

कानून का पालन राज्य के सभी सदस्यों के लिए बाध्यकारी है। इनकी खास बात यह होती है कि हर सदस्य के लिए सामान रूप से लागू होते हैं। इन कानूनों की अवहेलना करने वालों को दण्ड दिया जाता है। इन्हें प्रयोग करने की निश्चत प्रक्रिया होती है।

13.3 कानून के आवश्यक तत्व

1 एकरूपता कानून की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

2 कानून के लिए समाज की जरुरत होती है क्योंकि समाज के संचालन के लिए नियमों की जरुरत होती है।

3 कानून बनाने व उन्हें लागू करने के लिए संप्रभु सत्ता की जरूरत होती है।

4 समाज के सदस्यों को कानून का पालन करना होता है अन्यथा राज्य द्वारा दण्डित होना पड़ता है।

5 कानून का मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करना होता है , जिससे मानवता का भला हो सके और कानून पालन समाज के हित के लिए भी किया जाता है।

6 कानून निश्चित व सर्व्यव्यापक होते हैं। कानून सभी पर सामान रूप से लागू होते हैं।

प्राचीन यूनान में प्लेटो व अरस्तू दोनों ने ही कानून के शासन का समर्थन किया। मध्य युग में कानून को ईश्वरीय विधान के रूप में माना गया। आधुनीक युग की शुरुआत में हॉब्स ने सबसे पहले माना कि कानून परामर्श नही बल्कि आदेश होता है। जॉन आस्टिन ने कानून को संप्रभु का आदेश बताया और इस बात पर बल दिया कि यदि कानून की अवमानना करने वाले को दंड दिया जायेगा। वहीं आधुनिक विचारक मेक्स वेबर ने कानून में बल प्रयोग को आवश्यक बताया। आधुनिक दृष्टी में कानून का मतलब बल प्रयोग ही नहीं है बल्कि उसकी प्रमाणिकता , सर्वमान्यता और उसे सिद्ध करने से है। नागरिक भी कानून का पालन इसी लिए करते हैं क्योंकि कानून सर्वमान्य नियमों का द्योतक है। इन नियमों का स्वभावतः पालन किया जाता है व समाज के लिए मूल्यवान समझे जाते हैं। जब कानून का पालन नहीं किया जाता है तब बल- प्रयोग या दंड के भय का प्रयोग किया जाता है। बल – प्रयोग के बिना भी कानून का पालन संभव है। इस प्रकार कानून का सार तत्व प्रमाणिकता है। प्रमाणिकता का अर्थ यह है कि नागरिक उस कानून को उचित, कल्याणकारी या सुविधाजनक मानकर अपने-आप उसका पालन करने को तत्पर हों। प्रमाणिकता ही कानून को स्थायी रूप देती है

। अगर कोई तानाशाह बल -प्रयोग करके मनमाने कानून लागू कर दे तो प्रमाणिकता के आभाव में वे नागरिकों से पूर्ण निष्ठा नही प्राप्त कर पाएंगे , धीरे-धीरे विद्रोह की भावना पनपते रहेगी और मौका मिलते ही तानाशाह के कानून को ख़त्म कर देंगे। यदि कानून प्रमाणिक होगा तो नागरिक सहर्ष उसका पालन करेंगे।

कानून का मुख्य लक्षण यह है कि उसे नागरिक अपनी इच्छा से माने। कानून प्रचलित मूल्यों के अनुरूप होना चाहिए और नागरिकों की सहमति पर आधारित व तर्कसंगत होना चाहिए।

13.4 कानून के स्रोत

कानून विकास का परिणाम है। कानून के विकास में अनेकों कारकों की भागीदारी रही है। इन कारकों को कानून के स्रोत कहा जाता है। जो निम्नलिखित हैं :

1 रीति-रिवाज या परम्पराएं (Customs)- परंपरा कानून का प्रारंभिक स्रोत है। रीति-रिवाजों का निर्माण नहीं होता वरन धीरे-धीरे उनका विकास होता है। ये समाज के वे प्रचलित नियम होते हैं, जिन्हें समाज के सभी लोग लम्बे समय से मानते चले आ रहे हैं। इन रीति रिवाजों के पीछे सामाजिक संगठन का नियंत्रण तथा समाज का नैतिक बल रहता है। यह समाज में ज्यादा प्रचलित हो जाते हैं तो राज्य द्वारा इन्हें कानून का रूप दे दिया जाता है।

2 धर्म – परम्पराओं की तरह धर्म भी कानून का आधार है। प्राचीन समाज में धर्म, विश्वास और इस तरह अन्य चीजे लोगों के जीवन से जुड़ी होती थी। अगर हम प्राचीन रोम का इतिहास देखें तो कानून बहुत हद तक धार्मिक नियमों पर आधारित था। आज भी भारत में विवाह और उत्तराधिकार के नियम धर्म पर आधारित हैं।

3 क़ानूनी टीकाएँ- अनेक विधिवेत्ताओं ने अलग-अलग देश के कानून के तत्व की व्याख्या देने के लिए अपनी टीकाएँ लिखी हैं। ऐसे प्रश्न जिनके विषय में कानून स्पष्ट नहीं है, उन पर उपयुक्त तर्क व प्रमाण देकर अपनी राय व्यक्त की है। विधिवेत्ता ने अपनी बात प्रभावशाली तरीके से की हो कि उसे कानून के बराबर माना जाने लगा हो। हालाँकि कुछ विरली टीकाओं को ही इतना महत्व मिलता है जैसे ब्रिटेन में कोक और ब्लेक्स्टन की टीकाओं को बहुत मान्यता दी जाती हैं। न्यायलय भी अपने निर्णयों के आधार के रूप में इन टीकाओं को लेते हैं।

4. न्याय-निर्णय – कई मामलों में कानून अस्पष्ट या अनिश्चित होता है ऐसे में न्यायाधीश उपुक्त तर्क व प्रमाण देकर अपना अभिमत देते हैं जो कानून की तरह मान्य होता है। समय समय पर न्यायलयों द्वारा दिए गये निर्णयों कानून को नई व्याख्या देते हैं जो भविष्य के लिए आधार बन जाते हैं।

5. साम्या (Equity)- जब कानून तो स्पष्ट हो पर न्यायाधीश को यह लगे कि संबद्ध पक्ष को सहायता (रिलीफ) देना न्याय होगा तो न्यायाधीस साम्या के सिध्दांत का प्रयोग करते हुए ऐसी सहायता की व्यवस्था करता है। यह भी एक तरह से न्यायाधीश निर्मित कानून है।

6.विधि-निर्माण – ऐसे कानून जो देश के विधानमंडल के द्वारा विधिवत पारित किये जाते हैं, वे कानून का मुख्य स्रोत हैं विधायिका कानून का प्रत्यक्ष स्रोत हैं। आज के युग में सरकार के तीन अंगों में से विधायिका कानून बनाती है। विधायिका नए कानून बनती है, पुराने कानूनों को संशोधित करते हैं। कानून बनाने का उद्देश्य लोक कल्याण करना होता है।

13.5 कानून के प्रकार

1.व्यक्तिगत कानून – ऐसे कानून जो व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों को निश्चित करते हैं। उद्धरण के लिए ऋण सम्बन्धी कानून।

2.संवैधानिक कानून – ऐसे कानून जो किसी संस्था द्वारा राज्य के शासन के लिए बनाये जाते हैं। ये कानून विधानमंडल द्वारा भी बनाये जा सकते हैं और परम्पराओं के द्वरा भी इनका विकास हो सकता है। ये लिखित या अलिखित हो सकते हैं।

3.साधारण कानून

ये वे लिखित कानून हैं जो राज्य के विधानमंडल द्वारा बनाये जाते हैं और व्यक्तियों एवं राज्यों के संबधों को निर्धारित करते हैं।

4.अध्यादेश

ये वे आदेश होते है जो असाधारण परिस्थितियों में राज्य की कार्यपालिका के प्रधान द्वारा जारी किये जाते हैं। ये एक निश्चित समय के लिए जारी किये जाते हैं और इनका प्रभाव वही होता है, जो विधानमंडल द्वरा पारित कानून का।

5.सामान्य कानून –

ये कानून प्राचीन रीति- रिवाज तथा परम्पराओं पर आधारित होते हैं। इंग्लेंड के शासन में इनका विशेष महत्व है।

13.5.1 मेक्ल्वर ने कानून को दो भागों में बांटा है

राष्ट्रीय कानून और अन्तराष्ट्रीय कानून

1.राष्ट्रीय कानून – राष्ट्रीय कानून को संवैधानिक कानून और साधारण कानून में उपविभाजित किया है। साधारण कानून व्यक्तियों से सम्बंधित कानून है जो दो तरह के हो सकते है – लोक कानून और व्यक्तिगत कानून। लोक कानून राज्य व व्यक्ति के संबंधों को नियंत्रित करता है। व्यक्तिगत कानून व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध से सम्बंधित है। लोक कानून को प्रशासकीय कानून व साधारण कानून में बांटा जा सकता है। प्रशासकीय कानून राज्य व अधिकारीयों से सम्बंधित है। साधारण कानून नागरिकों और राज्य के सम्बन्ध को सम्बंधित है। संवैधानिक कानून राज्य के ढाँचे , सरकार की प्रकृति और क्षेत्र से सम्बंधित है।

2.अन्तर्राष्ट्रीय कानून – शांति या युद्ध के समय एक राज्य का दूसरे राज्य के बीच सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों पर आधारित होता है।विश्व के स्वतंत्र राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को निर्धारित करने वाले कानूनों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहते हैं। ओपेन्हेम के अनुसार " अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रयासों और परम्पराओं का वह समूह है जो सभ्य राज्यों द्वारा अपने आपसी संबद्ध में क़ानूनी तौर पर बाध्य समझा जाता है।

कानून का लक्ष नागरिकों के सामाजिक जीवन को अधिक उन्नत और उत्कृष्ट बनाना है। कानून समाज के प्रचलित मूल्यों और मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करता है। कानून को सामाजिक परिवर्तन का सशक्त मध्यम बनाने के लिए जरुरी है कि कानून लोक मत पर आधारित हों। इस तरह लोकतंत्र को प्राथमिकता दी जाये और इसके साथ- साथ राज्य को शिक्षा, स्वस्थ , रोजगार आदि की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि इसके आभाव में लोग सशक्त लोकमत का निर्माण नहीं कर पाएंगे।

13.6 न्याय का अर्थ:

न्याय एक मौलिक अवधारणा है जो मानव समाज और नैतिक सिद्धांतों के केंद्र में स्थित है। यह एक बहुआयामी और जटिल विचार है जिसमें निष्पक्षता, समानता और व्यक्तियों के साथ न्यायसंगत व्यवहार शामिल है। इसके मूल में, न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसका हक देने के विचार के इर्द-गिर्द घूमता है, चाहे वह अधिकारों, अवसरों या उनके कार्यों के परिणामों के संदर्भ में हो। यह सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक सीमाओं से परे निष्पक्षता और कानून के शासन के मूल्यों को बनाए रखने का प्रयास करता है।

न्याय की अवधारणा मानव सभ्यता के दौरान विकसित हुई है, जो प्राचीन सभ्यताओं के कानूनी प्रावधान, प्रसिद्ध दार्शनिकों के नैतिक सिद्धांतों और असमानताओं का मुकाबला करने के लिए उभरे सामाजिक न्याय आंदोलनों में अभिव्यक्ति पाती है। चाहे गलतियों को सुधारने के लिए प्रतिशोधात्मक न्याय की मांग हो या उपचार और मेल-मिलाप को बढ़ावा देने के लिए पुनर्स्थापनात्मक न्याय की, अपने अंतर्निहित उद्देश्य में इसका लक्ष्य एक संतुलित और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करना है।

न्याय के विचार के इस परिचयात्मक अन्वेषण में हम इसके ऐतिहासिक विकास, इसके विभिन्न आयामों और सामाजिक ताने-बाने को आकार देने में इसके महत्व पर गहराई से विचार करेंगे। हम यह भी समझेंगे कि न्याय कानून के शासन, नैतिकता और समानता की खोज के साथ-साथ समकालीन बहस और चुनौतियों में इसकी स्थायी प्रासंगिकता के साथ कैसे जुड़ा हुआ है।

राजनीतिशास्त्र की अन्य अवधारणाओं की तरह 'न्याय' शब्द को परिभाषित करना आसान नहीं है. न्याय के लिए अंग्रेजी में जस्टिस (Justice) शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो लैटिनभाषा के 'जस' (Jus) शब्द से बना है। इसका मूल भाव Justice या Justica है जिसका अर्थ होता है जोड़ना अथवा बांधना। प्राथमिक रूप से जोड़ने,बाँधने अथवा सम्बद्ध होने का भाव न्याय में निहित है। वह यह है कि मनुष्यों के बीच मानवीय संबंधों का एक व्यवस्थित विधान होता है प्रोफ़ेसर बार्कर का मत है कि हम मानवीय संबंधों के साथ-साथ मूल्यों के संकलन तथा एक मूल्य को दूसरे मूल्य के साथ जोड़ने में भी न्याय तथा न्याययुक्त भाव की कल्पना कर सकते हैं। अतः बार्कर के अनुसार न्याय राजनीतिक मूल्यों का समाधानकर्ता तथा उनका समायोजन है। यह समाज में रह रहे लोगों के अधिकारों एवं कर्तव्यों में सामंजस्य एवं मधुर संतुलन स्थापित करता है।

संकीर्ण अर्थ में न्याय को एक कानूनी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, जिसमें न्यायसंगत कानून, अदालतें, स्वतंत्र एवंनिष्पक्ष न्यायिक व्यवस्था , कानून तथा अदालतों के समक्ष प्रत्येक नागरिक की समानता इत्यादि शामिल है। दूसरी ओर व्यापक अर्थों में न्याय के सम्बन्ध में दो विचार हैं। पहले

दृष्टिकोण के अनुसार न्याय की धारणा निरपेक्ष,शाश्वत एवं स्थायी है। प्लेटो,एक्विनास,अगस्टाइन जैसे अन्य दार्शनिकों ने शाश्वत न्याय का सिद्धांत मानते हुए न्याय की धारणा में काल और परिस्थितियों के साथ परिवर्तन होने को स्वीकार नहीं किया है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार न्याय एक सापेक्ष धारणा है तथा काल, स्थितियों और मूल्यों में परिवर्तन के अनुसार न्याय की धारणा , न्याय के आधार इत्यादि बदलते रहते हैं। अरस्तू, बेन्थम,मिल आदि दार्शनिकों ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

13.7 न्याय के विचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि:

न्याय की अवधारणा प्राचीन काल से ही मानव समाज की आधारशिला रही है, जो समुदायों के कार्य करने और व्यक्तियों के परस्पर क्रिया करने के तरीके को आकार देती है। पूरे इतिहास में, न्याय का विचार विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों के मूल्यों, विश्वासों और सामाजिक संरचनाओं के अनुसार विकसित और अनुकूलित हुआ है। प्राचीन मेसोपोटामिया के शुरुआती कानूनी संहिताओ से लेकर प्राचीन ग्रीस के दार्शनिक चिंतन और प्राचीन भारत के धार्मिक सिद्धांतों तक, न्याय ने नैतिक ढांचे और कानूनी प्रणालियों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

13.7.1. प्राचीन सभ्यताओं में न्याय:

दुनिया भर में, न्याय आंतरिक रूप से कानून के शासन, न्याय के मध्यस्थ के रूप में शासकों की भूमिका और एक सामंजस्यपूर्ण और न्यायसंगत अस्तित्व की खोज से जुड़ा हुआ था। इकाई के इस भाग में प्राचीन सभ्यताओं में न्याय के विभिन्न आयामों का पता लगाएंगे, और जान पाएंगे कि कैसे इस कालातीत सिद्धांत ने बाद के समाजों में न्याय के विकास के लिए आधार तैयार किया।

1. **मेसोपोटामिया:**

प्राचीन मेसोपोटामिया में, हम्बूराबी संहिता, जो सबसे पहले ज्ञात कानूनी संहिताओं में से एक थी, ने न्याय की उनकी अवधारणा को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संहिताओं को एक स्टील (Stele) पर अंकित किया गया था और इसमें जीवन के विभिन्न पहलुओं को नियंत्रित करने वाले कानूनों और विनियमों का संग्रह शामिल था।

"लेक्स टैलियोनिस" या "आंख के बदले आंख, दांत के बदले दांत" का सिद्धांत हम्मुराबी की संहिता की एक केंद्रीय विशेषता थी। इस सिद्धांत का उद्देश्य अपराधों के लिए आनुपातिक प्रतिशोध सुनिश्चित करना है और यह प्रतिशोधात्मक न्याय का एक उदाहरण है।

न्याय की अवधारणा सर्वोच्च प्राधिकारी और न्याय प्रदान करने वाले के रूप में राजा की भूमिका से गहराई से जुड़ी हुई थी। राजा को देवताओं के प्रतिनिधि के रूप में देखा जाता था और समाज में व्यवस्था और निष्पक्षता बनाए रखने के लिए जिम्मेदार माना जाता था।

2. प्राचीन मिस्र:

प्राचीन मिस्र में, न्याय सत्य, न्याय और सद्भाव की देवी माट (Ma'at) से जुड़ा था। माट ने ब्रह्मांडीय व्यवस्था और सत्य, संतुलन और धार्मिकता के सिद्धांतों का प्रतिनिधित्व किया जो मानव आचरण को निर्देशित करते थे।

प्राचीन मिस्र में न्याय की अवधारणा नैतिक और नैतिक व्यवहार के विचार से निकटता से जुड़ी हुई थी। मिस्रवासियों का मानना था कि माट के अनुसार रहने से एक न्यायपूर्ण और समृद्ध समाज का निर्माण होगा।

3. प्राचीन ग्रीस:

ग्रीक दर्शन में न्याय एक केंद्रीय विषय था, प्लेटो और अरस्तू जैसे प्रभावशाली विचारकों ने इसके विभिन्न पहलुओं की खोज की थी । प्लेटो के "रिपब्लिक" में उन्होंने न्यायपूर्ण समाज के संदर्भ में न्याय के विचार पर चर्चा की। प्लेटो के अनुसार, न्याय तभी प्राप्त किया जा सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपनी निर्दिष्ट भूमिका निभाए, और तीन वर्ग (शासक, संरक्षक और निर्माता) सद्भाव से काम करें।

अरस्तू के नैतिक सिद्धांतों ने एक गुण के रूप में न्याय की अवधारणा पर जोर दिया। उन्होंने वितरणात्मक न्याय (संसाधनों और सम्मानों का उचित वितरण) और सुधारात्मक न्याय (गलतियों को सुधारने और विवादों को सुलझाने से संबंधित) के बीच अंतर किया।

4. प्राचीन भारत:

प्राचीन भारतीय सभ्यताओं में, न्याय की अवधारणा "धर्म" के सिद्धांत से निकटता से जुड़ी हुई थी। धर्म में व्यक्तियों के नैतिक और नैतिक कर्तव्य शामिल हैं, जिनका पालन करने पर एक न्यायपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण समाज का निर्माण होगा।

वेदों और उपनिषदों सहित प्राचीन ग्रंथों ने धार्मिक आचरण और किसी के धर्म का पालन करने के महत्व पर जोर दिया, जिसमें स्वयं, परिवार, समुदाय और दुनिया के प्रति कर्तव्य शामिल थे।

5. प्राचीन हिब्रू:

प्राचीन हिब्रू सभ्यता में, न्याय का विचार हिब्रू बाइबिल (पुराने नियम) में उल्लिखित धार्मिक कानूनों और नैतिक उपदेशों से निकटता से जुड़ा हुआ था। दैवीय न्याय की अवधारणा ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, क्योंकि ईश्वर को अंतिम न्यायाधीश के रूप में देखा जाता था जो धर्मियों को पुरस्कृत करता था और दुष्टों को दंडित करता था। ईश्वर की दृष्टि में न्याय सुनिश्चित करने के लिए धार्मिक कानूनों का पालन आवश्यक था।

इन प्राचीन सभ्यताओं ने मानव समाज में एक मौलिक सिद्धांत के रूप में न्याय के विकास की नींव रखी। इन प्रारंभिक सभ्यताओं में न्याय की समझ अक्सर धार्मिक और नैतिक मान्यताओं के साथ जुड़ी हुई थी, जो नैतिक व्यवहार, कानून के शासन और सामाजिक व्यवस्था के रखरखाव के महत्व पर जोर देती थी। समय के साथ, न्याय की ये मूलभूत अवधारणाएँ बाद की सभ्यताओं की कानूनी प्रणालियों और नैतिक ढाँचों को विकसित और आकार देती रहीं।

13.7.2 मध्ययुगीन काल में न्याय:

मध्ययुगीन काल में, न्याय की अवधारणा विकसित होती रही और धार्मिक और दार्शनिक मान्यताओं, सामाजिक संरचनाओं और कानून के शासन के साथ गहराई से जुड़ी हुई थी। 5वीं से 15वीं शताब्दी तक फैले इस युग में सामंतवाद का प्रभुत्व, शक्तिशाली राजतंत्रों का उदय और जीवन के सभी पहलुओं पर ईसाई चर्च का प्रभाव देखा गया। परिणामस्वरूप, इस समय के दौरान न्याय को अक्सर धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक अधिकारियों के संयोजन द्वारा आकार दिया गया था।

1. **सामंती न्याय:** मध्ययुगीन यूरोप में सामंतवाद एक प्रमुख सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था थी। यह वफादारी और सैन्य सेवा के लिए भूमि के आदान-प्रदान पर आधारित था, जिसमें शीर्ष पर राजा या राजा के साथ एक पदानुक्रमित संरचना बनाई गई थी, जिसके बाद रईसों, शूरवीरों और किसानों को रखा गया था।

   सामंती व्यवस्था में न्याय स्थानीयकृत था, जिसमें स्वामी अपनी संपत्ति पर न्याय करते थे। स्वामी ने एक न्यायाधीश और कानून देने वाले के रूप में कार्य किया, अपने जागीरदारों के बीच विवादों को सुलझाया और यह सुनिश्चित किया कि उनके जागीरदार अपने दायित्वों का पालन करें।

2. **ईश्वरीय न्याय और चर्च:** मध्यकाल को ईसाई चर्च के महत्वपूर्ण प्रभाव से चिह्नित किया गया था। चर्च के पास आध्यात्मिक और लौकिक दोनों मामलों पर काफी अधिकार था, और दैवीय न्याय पर इसकी शिक्षाओं का मध्ययुगीन समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा।

   चर्च ने दैवीय न्याय के विचार पर जोर दिया, जहां ईश्वर को अंतिम न्यायाधीश के रूप में देखा जाता था जो धर्मियों को पुरस्कृत करता था और पापियों को दंडित करता था। दैवीय प्रतिशोध की संभावना ने व्यक्तियों के व्यवहार और नैतिक आचरण को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

3. **शाही संहिता और सामान्य कानून:** शक्तिशाली राजशाही के उदय के साथ, न्याय प्रशासन में शाही अदालतें अधिक प्रचलित हो गईं। राजा या सम्राट कानूनी मामलों में सर्वोच्च प्राधिकारी के रूप में निर्णय और निर्णय जारी करते थे।

   सामान्य कानून, प्रथागत प्रथाओं और न्यायिक मिसालों पर आधारित एक कानूनी प्रणाली, इस अवधि के दौरान विकसित होनी शुरू हुई। शाही न्यायाधीशों ने राज्य के चारों ओर यात्रा की, कानून के सुसंगत सिद्धांतों को लागू किया और धीरे-धीरे कानून का एक एकीकृत निकाय बनाया।

13.7 .3 पुनर्जागरण काल में न्याय:

14वीं से 14वीं शताब्दी तक फैले पुनर्जागरण काल के दौरान, नए दार्शनिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक विचारों के उभरने के साथ न्याय के विचार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस युग ने मध्य युग के सख्त धार्मिक हठधर्मिता से प्रस्थान को चिह्नित किया और न्याय, अधिकार और शासन की आधुनिक अवधारणाओं की नींव रखी। पुनर्जागरण ने मानवतावाद, कला और साहित्य का जश्न मनाया, जबकि ज्ञानोदय ने तर्क, व्यक्तिगत अधिकारों और ज्ञान और प्रगति की खोज पर जोर दिया। इन बौद्धिक और सांस्कृतिक आंदोलनों ने न्याय की समझ और अनुप्रयोग को बहुत प्रभावित किया।

1. **मानवतावाद और प्राकृतिक कानून:** पुनर्जागरण मानवतावाद ने मनुष्य के मूल्य और क्षमता पर जोर दिया, शास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन को बढ़ावा दिया और मानवीय कारण, गरिमा और व्यक्तिगत मूल्य की वकालत की।

   इस अवधि के दौरान प्राकृतिक कानून की अवधारणा को प्रमुखता मिली, जिसमें कहा गया कि कुछ नैतिक सिद्धांत प्रकृति में अंतर्निहित हैं और मानव तर्क के लिए सुलभ हैं। प्राकृतिक कानून को धार्मिक सिद्धांतों और सांस्कृतिक मानदंडों से परे, सार्वभौमिक और सभी व्यक्तियों पर लागू माना जाता था।

2. **सामाजिक अनुबंध और व्यक्तिगत अधिकार:** थॉमस हॉब्स, जॉन लोके और जीन-जैक्स रूसो जैसे प्रबुद्ध विचारकों ने सामाजिक अनुबंध के सिद्धांत को विकसित किया, जिसमें कहा गया कि व्यक्तियों ने अपने अधिकारों को सुरक्षित करने और अपने हितों की रक्षा के लिए सरकारें बनाने के लिए स्वेच्छा से एक सामाजिक समझौते में प्रवेश किया।

   इन दार्शनिकों ने जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार जैसे व्यक्तिगत अधिकारों के महत्व पर जोर दिया। उन्होंने तर्क दिया कि इन अधिकारों की रक्षा करना सरकारों की जिम्मेदारी है, और यदि वे ऐसा करने में विफल रहती हैं, तो लोगों को विद्रोह करने और नई सरकार बनाने का अधिकार है।

3. **समानता और कानून का शासन:** प्रबुद्धता काल ने दैवीय अधिकार और वंशानुगत विशेषाधिकार की धारणा को चुनौती देते हुए, कानून के समक्ष समानता के विचार का समर्थन किया। समानता के सिद्धांत का अर्थ है कि सभी व्यक्तियों के साथ कानून के तहत निष्पक्ष व्यवहार किया जाना चाहिए, चाहे उनकी सामाजिक स्थिति या पृष्ठभूमि कुछ भी हो।

   कानून का शासन न्याय का केंद्रीय सिद्धांत बन गया, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि कानूनों को लगातार और पूर्वानुमानित रूप से लागू किया जाना चाहिए, और शासकों सहित कोई भी कानून से ऊपर नहीं होना चाहिए।

4. **आपराधिक न्याय सुधार:** प्रबुद्ध विचारकों ने आपराधिक न्याय प्रणाली में सुधार की वकालत की। उन्होंने क्रूर और मनमाने दंडों का विरोध किया और सजा में आनुपातिकता की अवधारणा को बढ़ावा देने की मांग की, जहां दंड किए गए अपराध की गंभीरता के अनुरूप होना चाहिए।

   एक इतालवी दार्शनिक, सेसरे बेकरिया ने "ऑन क्राइम्स एंड पनिशमेंट्स" (1364) लिखा, जिसमें यातना, गुप्त परीक्षणों और मृत्युदंड के खिलाफ बहस की, और न्याय के लिए अधिक मानवीय और तर्कसंगत दृष्टिकोण की वकालत की।

5. **सहिष्णुता और धार्मिक स्वतंत्रता:** ज्ञानोदय में धार्मिक सहिष्णुता और अंतरात्मा की स्वतंत्रता को बढ़ावा देने वाले विचारों का विकास भी देखा गया। वोल्टेयर और जॉन लॉक जैसे दार्शनिकों ने चर्च और राज्य को अलग करने का तर्क दिया, जिससे व्यक्तियों को उत्पीड़न के डर के बिना अपने धर्म का पालन करने का अधिकार मिल सके।

   पुनर्जागरण और ज्ञानोदय काल ने न्याय के विचार में गहरा बदलाव लाया, तर्क के महत्व, व्यक्तिगत अधिकारों और एक न्यायसंगत और न्यायसंगत समाज की खोज पर जोर दिया।

इन दार्शनिक प्रगतियों ने आधुनिक कानूनी प्रणालियों और न्याय के सिद्धांतों के विकास के लिए आधार तैयार किया जो दुनिया भर के समाजों को आकार देना जारी रखता है।

13.7.4 आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ:

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ परिष्कृत और जटिल ढाँचे हैं जो समाजों को नियंत्रित करती हैं, विवादों को सुलझाने, न्याय को बनाए रखने और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक संरचित और व्यवस्थित दृष्टिकोण प्रदान करती हैं। ये कानूनी प्रणालियाँ विभिन्न ऐतिहासिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक प्रभावों से प्रेरणा लेते हुए समय के साथ विकसित हुई हैं। जबकि विशिष्ट संरचनाएं और प्रक्रियाएं देशों के बीच भिन्न-भिन्न होती हैं, वे आम तौर पर सामान्य विशेषताएं साझा करते हैं जो उनके कामकाज को रेखांकित करती हैं। यहां आधुनिक कानूनी प्रणालियों का विवरण दिया गया है:

कानून का स्रोत:

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ आम तौर पर कानून के कई स्रोतों पर आधारित होती हैं, जिनमें शामिल हैं:

संवैधानिक कानून: मौलिक कानून और सिद्धांत जो सरकार की संरचना और कार्यों के साथ-साथ नागरिकों के अधिकारों और स्वतंत्रता को परिभाषित करते हैं।

वैधानिक कानून: विधायी निकायों (जैसे, संसद या कांग्रेस) द्वारा अधिनियमित कानून जो शासन के विभिन्न पहलुओं को कवर करते हैं, जैसे कि आपराधिक कानून, अनुबंध कानून और संपत्ति कानून।

सामान्य कानून: अदालती फैसलों के माध्यम से स्थापित कानूनी सिद्धांत और मिसालें, जो भविष्य के मामलों के लिए मार्गदर्शक के रूप में काम करते हैं।

प्रशासनिक कानून: वैधानिक कानूनों को लागू करने और लागू करने के लिए सरकारी एजेंसियों द्वारा बनाए गए नियम और कानून।

अंतर्राष्ट्रीय कानून: राष्ट्रों के बीच समझौते और संधियाँ जो राज्यों के बीच संबंधों को नियंत्रित करती हैं और वैश्विक मुद्दों का समाधान करती हैं।

शक्तियों का पृथक्करण: कई आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का पालन करती हैं, जो सरकारी प्राधिकरण को तीन शाखाओं में विभाजित करती है: विधायी, कार्यकारी और न्यायपालिका। यह पृथक्करण किसी एक शाखा को अत्यधिक शक्ति के प्रयोग करने से रोकने और जाँच और संतुलन की एक प्रणाली बनाने के लिए डिज़ाइन किया गया है।

उचित प्रक्रिया और अधिकार:

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ उचित प्रक्रिया पर जोर देती हैं, यह सुनिश्चित करती हैं कि अपराध के आरोपी या कानूनी कार्यवाही में शामिल व्यक्तियों को उचित उपचार, कानूनी प्रतिनिधित्व तक पहुंच और सुनवाई का अधिकार मिले। व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा, जैसे निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार और गैरकानूनी हिरासत से मुक्ति, आधुनिक कानूनी प्रणालियों का एक मूलभूत पहलू है।

आधुनिक कानूनी प्रणालियाँ लगातार विकसित हो रही हैं, सामाजिक परिवर्तनों और प्रौद्योगिकी में प्रगति के अनुरूप ढल रही हैं। वे आवश्यक ढांचे के रूप में कार्य करते हैं जो न्याय को कायम रखते हैं, व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करते हैं, और निष्पक्ष और न्यायसंगत तरीके से संघर्षों और विवादों को हल करने के लिए एक तंत्र प्रदान करते हैं।

13.8 न्याय के विभिन्न आयाम

- **न्याय का कानूनी आयाम :** कानूनी शब्दावली में कानून की प्रणाली को न्याय की प्रणाली कहा जाता है।कानूनी प्रणाली का सम्बन्ध नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा से है। चूँकि नागरिकों को न्याय कानून के माध्यम से प्राप्त होता है, इसलिए राज्य की विधायी संस्थाएं कैसे कानून बनाती हैं? किस प्रकार उन्हें लागू करती है? और कैसे उनका पालन करवाती हैं- इस प्रकार के सभी प्रश्न न्याय के कानूनी पक्ष को महत्व प्रदान करते हैं।

  न्याय के कानूनी पक्ष में दो बातें महत्वपूर्ण हैं: पहला न्यायपूर्ण कानून का निर्माण और दूसरा, कानून के अनुसार न्याय मिलना। न्यायपूर्ण कानून के निर्माण का तात्पर्य है कि विधानमंडल द्वारा बांये गए कानून न्यापूर्ण एवं तर्कपूर्ण होने चाहिए। कानून सब लोगों के लिए समान हो और अवांछनीय भेदभाव न हो। न्यायपूर्ण कानून बनाने का अर्थ यह नहीं है कि हर व्यक्ति(बच्चा और बूढा) के लिए समान कानून हो बल्कि इसका अर्थ है समान व्यक्तियों के लिए समान कानून हो। न्यायपूर्ण आधार पर कानून असमान हो सकता है। उदहारण के तौर पर यदि सरकार राशन बाँटने की कोई योजना लाती है तो वह सभी परिवारों को समान रूप से राशन ना वितरित करते हुए प्रत्येक परिवार में सदस्यों की संख्या के आधार पर कम या ज्यादा राशन का वितरण सुनिश्चित करेगी तो इस प्रकार प्रथम दृष्टया देखने पर यह लग सकता है कि परिवारों को राशन बांटने में असमानता बरती गए है परन्तु यदि प्रत्येक परिवारों की आवश्यकता को ध्यान में रखा जाए तो यह नितांत न्यायपूर्ण व्यवस्था होगी।

- **न्याय का राजनीतिक आयाम:** वस्तुतः राज्य और जनता का सम्बन्ध राजनैतिक न्याय का प्रश्न है। सामान्य अर्थ में, बिना किसी भेदभाव के, हर व्यक्ति को राज्य सत्ता में हिस्सा मिलना

राजनीतिक न्याय है। अतः वयस्क मताधिकार, निर्वाचित सरकार एवं नागरिक अधिकारों की उपस्थिति राजनीतिक न्याय की स्थापना के लिए पूर्व शर्तों में से एक है। इस प्रकार राजनीतिक न्याय की स्थापना के लिए राजनीतिक सत्ता का उपयोग जन प्रतिनिधियों द्वारा जनता के हित में किया जाना चाहिए। शासन शासितों की इच्छा पर टिका होना चाहिए. इस प्रकार जनता की राज्य सत्ता में सक्रिय भागीदारी ही राजनीतिक न्याय है।

- **न्याय का सामाजिक-आर्थिक आयाम**: सामजिक न्याय का प्रश्न सामाजिक समानता और सामाजिक अधिकारों से जुड़ा है। अतः शोषण का निषेध, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा, भेदभाव की समाप्ति, कार्य की न्यायपूर्ण दशाएं, विचार अभियक्ति, विश्वास एवं पूजा की स्वतंत्रता सामाजिक न्याय की स्थापना की पूर्व शर्तों में से हैं। अपने व्यापक अर्थ में सामाजिक न्याय का तात्पर्य है कि सामाजिक जीवन में सभी को समान लाभ तथा लाभ के अवसर चंद लोगों के हाथों में न सिमट कर जन समान्य को- विशेषकर गरीब एवं असहाय वर्गों को भी उसका समुचित हिस्सा मिले ताकि वे सामान्य रूप से सुखी, सम्मानित और निश्चिन्त जीवन व्यतीत कर सकें।

  आर्थिक न्याय का विचार एवं सामाजिक न्याय के आदर्श आपस में इतने घुल मिल गए हैं कि ऐसा लगता है कि आर्थिक न्याय के बिना सामाजिक न्याय अधूरा है। सरल शब्दों में आर्थिक न्याय का अभिप्राय है- आर्थिक शोषण की समाप्ति, देश के भौतिक साधनों का उचित बँटवारा एवं अधिक से अधिक लोगों के हित में उसका उपयोग। लास्की के अनुसार समाज में सभी नागरिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होना ही आर्थिक न्याय है।

समानता और स्वतन्त्रता की तरह न्याय भी एक आधुनिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाता है, लेकिन फिर भी न्याय पर प्राचीन काल से विचार होता आया है। बदलते समय के अनुसार न्याय के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। जहाँ पहले न्याय से उत्पन्न सद्गुणों को एक व्यक्ति में खोजने का प्रयास किया जाता था तो आधुनिक दृष्टिकोण में न्याय के आदर्श को एक व्यवस्था में खोजने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में जहाँ पहले एक न्यायपूर्ण व्यक्ति की बात की जाती थी, तो वहीं अब सामाजिक न्याय के आदर्श को स्वीकार किया जाता है। सामाजिक न्याय की संकल्पना के अन्तर्गत यदि व्यवस्था न्यायपूर्ण नहीं होती तो सामाजिक परिवर्तन की माँग की जाती है।

न्याय के सर्वप्रथम दर्शन, ग्रीक, विचारकों प्लेटो और अरस्तू में मिलते हैं। प्लेटो ने चार सद्गुणों को स्वीकार किया, यथा-विवेक, साहस, संयम व न्याय। इन चारों में न्याय का सर्वाधिक महत्व है क्योंकि न्याय शेष तीनों सद्गुणों का संतुलन ही है और अन्तिम सद्गुण है। जबकि शेष तीनों सद्गुण साधन है। सरल शब्दों में प्लेटो के अनुसार उस व्यक्ति को न्यायपूर्ण कहा जायेगा जिसमें विवेक, साहस व संयम तीनों सन्तुलित अवस्था में हो। यहाँ प्लेटो के न्याय के आदर्श की तुलना भारतीय परम्परा के पुरुषार्थों से की जा सकती है क्योंकि जिस प्रकार भारतीय परम्परा में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के रूप में चार पुरुषार्थों को स्वीकार करते हुए मोक्ष को अन्तिम या सहायक पुरुषार्थ माना गया है। मोक्ष को साध्य एवं शेष तीनों पुरुषार्थों को साधन माना गया है, वहीं दूसरी तरफ अरस्तू के अनुसार- जो जिसके योग्य है, उसको उतना मिलना चाहिए, यही न्याय है। **अरस्तू** के न्याय में दो बातें मुख्य हैं-

1. वितरणात्मक न्याय एवं

2. सुधारात्मक न्याय।

अरस्तू के न्याय में योग्यता सापेक्ष होने के कारण अरस्तू का न्याय सापेक्ष न्याय है। समय के सापेक्षता में जिस न्याय की धारणा बदलती है वह न्याय, सापेक्ष न्याय है।

13.9 न्याय-रॉल्य के परिप्रेक्ष्य में

न्याय समाज का सबसे बड़ा सद्गुण है-रॉल्स। रॉल्य के अनुसार न्याय ही वह प्रक्रिया है जो सबके मध्य साम्य स्थापित करता है। रॉल्स की समस्या वितरण की है। रॉल्स अपने न्याय सिद्धान्त की शुरुआत उपयोगिता की आलोचना से शुरू करता है। उपयोगितावाद अपना एक सूत्र पहले ही सुरक्षित रखता है-वह अधिकमत व्यक्तियों का अधिकतम सुख है। रॉल्स इस तरह की कोई धारणा पहले से नहीं रखता अपितु वह शुद्ध विधि और प्रक्रिया पर जोर देता है। रॉल्स परिणाम को दृष्टि में रखकर पहले से कोई धारणा नहीं बनाता अपितु वह प्रक्रिया को लागू करने की बात करता है, परिणाम क्या होगा? सामने आयेगा। जैसे मार्क्सवादी अपना परिणाम घोषित किये है कि अन्त में वर्गहीन, राज्यहीन साम्यवादी समाज होगा अर्थात् मार्क्सवाद परिणाम को ध्यान में रखकर प्रक्रिया बनाता है। रॉल्स, मार्क्सवाद की तरह बिना परिणाम घोषित किये सिर्फ शुद्ध विधि एवं प्रक्रिया पर जोर देता है।

13.10 राल्स का न्याय सिद्धान्त

बीसवीं सदी तक आते-आते उदारवाद पर यह आरोप सामान्य हो गया कि उसके पास राजनीतिक जीवन हेतु कोई नैतिक आधार नहीं है और वह मुख्यतः उपयोगितावादी मान्यताओं से जुड़ा हुआ है। कुछ लेखकों ने इस समस्या का हल प्रस्तुत करने की, जिनमें 'जॉन राल्स' का नाम सर्वोपरि है। रॉल्स

की पुस्तक Theory of justice के समय अमेरिका में अल्पसंख्यक वर्गों विशेषतः अश्वेत जातियों के लिए समान अधिकारों का आन्दोलन अपने चरम पर था। पूँजीवादी व मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं ने वस्तुओं एवं सेवाओं को जुटाने में भारी सफलता प्राप्त की थी। परन्तु अभी भी

आय, शक्ति व सम्पदा की दृष्टि से घोर विषमता व्याप्त थी। ऐसी परिस्थिति में रॉल्स आर्थिक और सामाजिक स्तर पर पुनर्विरणात्मक न्याय का समर्थन करता है। रॉल्स के अनुसार राज्य का कार्य केवल सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा ही नहीं है, बल्कि सबसे अधिक जरूरतमन्द लोगों की आवश्यकताओं को उच्चतम सामाजिक आदर्श बनाकर मूल पदार्थों के पुनर्वितरण द्वारा न्याय उपलब्ध करवाना है।

जॉन रॉल्स अपने चिन्तन का आरम्भ उपयोगितावादी चिन्तन की आलोचना करता है, जिसमें अधिकतम की अच्छाई के हित में कुछ व्यक्तियों के हितों के बलिदान को औचित्यपूर्ण ठहराया जाता है अर्थात् उपयोगितावाद सम्पूर्ण की खुशी के बजाय अधिकांश की खुशी पर जोर देता है। उपयोगिता अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के सूत्र को अपनाता है। परन्तु उपयोगितावाद इस बात की परवाह नहीं करता कि उसके वितरण में किसको क्या मिला? रॉल्स की नजर में 'न्याय' मूलतः वितरण का सिद्धान्त है।

रॉल्स के विश्लेषण का आधार काण्ट का नैतिक दर्शन है। जॉन रॉल्स, काण्ट के चिन्तन के तीन तत्व स्वायत्तता, निरपेक्ष आदेश तथा लक्ष्यों के साम्राज्य की अवधारणा पर जोर देता है। अपने न्याय सिद्धान्त में रॉल्स अज्ञान के परदे की कल्पना करके वार्ताकारों की स्वायत्तता को सुनिश्चित करता है। निरपेक्ष आदेश से तात्पर्य है, व्यवहार के नियम जो ऐसे व्यक्तियों पर लागू होते हैं जिनकी प्रकृति स्वतन्त्र तथा समाज विवेकवान प्राणी की है। रॉल्स के वार्ताकारों का उद्देश्य केवल प्राथमिक वस्तुओं के वितरण का सूत्र तलाशने तक सीमित है।

रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त में काण्ट, लाक एवं रूसों को मिलाने की कोशिश की है। यद्यपि उसने उपयोगितावादी न्याय का विकल्प प्रस्तुत किया है। परन्तु उसमें उदारवादी धारणाओं की प्रधानता है जिसका वास्तविक वाहक उपयोगितावादी न्याय सिद्धान्त ही है। राल्स अपने पुनर्वितरणात्मक सूत्र से उस विकृति को ठीक कर उसे नैतिक स्वरूप देने की कोशिश करता है। इसीलिए यह भी कहा जाता है कि वह बेन्थम को काण्ट से जोड़ देता है।

रॉल्स न्याय के नियमों का पता लगाने के लिए अनुबन्धमूलक सामाजिक दर्शन का अनुकरण करता है। जिस तरह से हाब्स, लॉक, रूसो ने अपने समझौता सिद्धान्त में प्राकृतिक अवस्था की परिकल्पना की है, उसी तरह रॉल्स ने मूल स्थिति ;व्तपहपदंस च्वेपजपवदद्ध की कल्पना अपने न्याय सिद्धान्त में की है। मूल स्थिति का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें मुक्त व स्वतन्त्र, स्त्री व पुरुष एक सामाजिक

समझौता हेतु एक साथ मिलते है। परम्परागत समझौतावादियों के प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों व रॉल्स के मूलस्थिति के व्यक्तियों के प्रकृति में भारी अन्तर है। रॉल्स की मूलस्थिति के व्यक्ति जंगली व असभ्य न होकर विवेकवान हैं। समझौते में पूर्वाग्रह से तथा निष्पक्षता लाने के लिए रॉल्स ने अज्ञान के पर्दे की कल्पना की है।

अज्ञान के पर्दे के पीछे बैठे बुद्धिमान, नैतिक वार्ताकारों को अपनी व्यक्तिगत क्षमता के साथ-साथ अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति का ज्ञान नहीं है। वार्ताकार अपने हितों, आवश्यकताओं, निपुणताओं, योग्यताओं आदि के संज्ञान से परे हैं, परन्तु उन्हें अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान व न्याय का बोध है। ये वार्ताकार जोखिम से डरते हैं। अगर व्यक्ति को अपने वर्ग, स्थान, स्थिति या सामाजिक प्रतिष्ठा की जानकारी है तो न्याय का कोई निश्चित निष्पक्ष सिद्धान्त तय कर पाना उसके लिए सम्भव नहीं होगा। क्योंकि इन सूचनाओं की उपस्थिति में निष्पक्ष एवं सार्वभौमिक न्याय के स्थान पर सापेक्ष एवं व्यक्तिगत हित स्थापित हो जायेगा।

रॉल्स के अनुसार न्याय, वितरण का गुण है। इसका सम्बन्ध समाज में वस्तुओं एवं सेवाओं के वितरण से है। रॉल्स इन वस्तुओं को मौलिक पदार्थों ;च्तपउंतल ळववकेद्ध की संज्ञा देता है। इसके अन्तर्गत दो तरह की प्राथमिक वस्तुएँ हैं- प्रथम, सामाजिक प्राथमिक वस्तुएँ, यथा-अधिकार व स्वतन्त्रता, शक्तियाँ व अवसर, आय व सम्पदा, आत्मसम्मान के साधन आदि। इन्हें सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वितरित किया जाता है। द्वितीय-प्राकृतिक प्राथमिक वस्तुएँ, यथा- स्वास्थ्य, बुद्धि, साहस, काल्पनिक शक्ति क्षमता जो कि सामाजिक संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वितरित नहीं किया जाता। परन्तु इनसे प्रभावित अवश्य होता है। जैसे-व्यक्ति स्वास्थ्य, बुद्धि लेकर पैदा होता है, परन्तु सामाजिक संस्थाएँ अस्पताल खोलकर स्वास्थ्य और विद्यालय खोलकर बुद्धि का विकास सुनिश्चित कर सकती है। रॉल्स के वार्ताकार सिर्फ प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं के विवरण का सूत्र अथवा सिद्धान्त समझौते के माध्यम से तय करते हैं।

रॉल्स के अनुसार वार्ताकारों द्वारा न्याय के निम्नलिखित सूत्र स्वीकार किये जायेंगे-

1.समान स्वतन्त्रता का सिद्धान्त।

2.सामाजिक, आर्थिक विषमताओं का ऐसा प्रबन्धन ताकि-

a.हीनतम को अधिकतम लाभ हो अर्थात भेदमूलक सिद्धान्त।

b.ये विषमताएँ उन पदों एवं स्थितियों के साथ जुड़ी हो, जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सुलभ हो अर्थात् अवसर की समानता।

उपरोक्त सिद्धान्तों का वरीयताक्रम तय किया गया है जो अपरिवर्तनीय है। इसमें समान स्वतन्त्रता ऊपर है, समानता का सिद्धान्त द्वितीय है और भेदमूलक सिद्धान्त अन्तिम है। यहाँ प्रथम सूत्र का ध्यान संविधान निर्माण में तथा द्वितीय व अन्तिम सूत्र का ध्यान नीति व एकरूपता बनाने का है।

नागरिकों की मूल स्वतन्त्रताओं से तात्पर्य राजनीतिक स्वतन्त्रता से है, जिसके अन्तर्गत मत का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने की स्वतन्त्रता, विधि का शासन, मनमानी गिरफ्तारी के विरूद्ध संरक्षण तथा सम्पत्ति की स्वतन्त्रता आदि। ये सभी स्वतन्त्रताएँ समाज के सभी व्यक्ति को समान रूप से मिलनी चाहिए। सभी स्वतन्त्रताएँ समान महत्व की हैं अर्थात् एक स्वतन्त्रता के लिए दूसरी स्वतन्त्रता का बलिदान नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रताओं के मध्य सन्तुलन के लिए सीमा व नियन्त्रण भी लगाये जा सकते हैं। नियम विहीन स्थिति में स्वतन्त्रताएँ आपस में टकरायेंगी और व्यापक स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा पैदा होगी।

न्याय सिद्धान्तों के क्रम में स्वतन्त्रता का स्थान सबसे पहले है। समान स्वन्त्रताओं की पूर्ण सन्तुष्टि के बाद ही हम न्याय के दूसरे सिद्धान्त की तरफ बढ़ सकते हैं। दूसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध आय, सत्ता, श्रम पद आदि के बँटवारे से है, जहाँ अवसर सभी के लिए खुले होने चाहिए। यह बँटवारा असमान भी हो सकता है परन्तु इससे हीनतम को अधिकतम लाभ पहुँचना चाहिए। असमान बँटवारे की, किसी को अवसर की समानता से वंचित करके सुनिश्चित नहीं किया जायेगा।

प्राथमिक सामाजिक वस्तुओं के सन्दर्भ में रॉल्स कहता है कि प्राथमिक वस्तुओं की एक-दूसरे से अदला-बदली नहीं की जा सकती अर्थात् स्वतन्त्रता के लिए समानता को और समानता के लिए स्वतन्त्रता को छोड़ा नहीं जा सकता। इतना ही नहीं अपितु प्राथमिक वस्तुओं के असमान वितरण को उसी स्थिति में मान्य ठहराया जा सकता, जबकि असमान वितरण से सबसे बदतर वर्ग को लाभ मिलता हो तथा प्रत्येक की स्थिति में सुधार होता हो।

न्याय की प्राथमिकताओं को सुनिश्चित करने के बाद रॉल्स प्रक्रियात्मक न्याय के तीन भेद बताता है। प्रथम-पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय अर्थात् निष्पक्ष न्याय का स्वतन्त्र आधार हो और उसे सुनिश्चित करने की विधिक प्रक्रिया हो। द्वितीय-अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय अर्थात् निष्पक्ष न्याय का स्वतन्त्र आधार हो परन्तु उसे सुनिश्चित करने की विधि व प्रक्रिया मौजूद न हो। तृतीय- शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय- इसका सम्बन्ध उस स्थिति से है, जहाँ निष्पक्ष निष्कर्ष का स्वतन्त्र आधार नहीं होता। केवल निष्पक्ष विधि व प्रक्रिया के आधार पर न्याय सुनिश्चित किया जाता है। राल्स अपने न्याय को शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय कहता है और शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय से वह वितरणात्मक न्याय के उद्देश्य को पाना चाहता है।

रॉल्स न केवल न्याय के सिद्धान्तों की चर्चा करता है बल्कि उसे सुनिश्चित करने हेतु मूल संरचना की अवधारणा प्रस्तुत करता है। मूल संरचना के अन्तर्गत राजनैतिक संविधान, न्यायिक व्यवस्था तथा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से जुड़ी संस्था को लिया गया है। न्याय के सिद्धान्त में मूल संरचना की अवधारणा ऐसी अवधारणा है जिसमें रॉल्स के अनुसार एक न्यायसंगत संविधान होना चाहिए ताकि नागरिकों को विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हो सकें। वितरणात्मक न्याय हेतु आवश्यक है कि विभिन्न अर्थों में अवसर की समानता उपलब्ध हो तथा न्यूनतम सामाजिक आवश्यकताओं की गारण्टी हो।

रॉल्स ने उदारवादी बाजार अर्थव्यवस्था को, जिसके कारण उपरोक्त समस्याएँ आ रही थी, अपने न्याय सिद्धान्त के माध्यम से ग्राह्य बनाने की कोशिश की। रॉल्स के अनुसार न्याय समाज का प्रथम सद्गुण है क्योंकि न्याय में समाज को बाँधने की क्षमता अन्य के मुकाबले सर्वाधिक होती है। रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त में उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था को वितरणात्मक न्याय के साथ जोड़कर औचित्य प्रदान करने की कोशिश की है।

13.10.1 रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की आलोचनाएँ

अनेक विद्वानों ने रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की विभिन्न आधारों पर आलोचनाएँ की हैं जिसमें प्रमुख नाम-सी0 वी0 मैकफर्सन का है। मैकफर्सन ने रॉल्स को उदार लोकतान्त्रिक पूँजीवादी राज्य का प्रवक्ता कहा है। वह कहता है कि उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व वाली किसी भी व्यवस्था में स्वतन्त्रता तथा समानता का समाधान सम्भव नहीं है। मैकफर्सन के अनुसार-रॉल्स का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि पूँजीवादी समाज एक वर्ग विभाजित समाज है तथा उत्पादन में कार्यकुशलता लाने के लिए उत्साहवर्धक के रूप में यह असमानता आवश्यक है। अतैव कल्याणकारी राज्य में अमीर से गरीब को हस्तान्तरण उस सीमा तक ठीक है जहाँ तक वह धनी वर्ग की समृद्धि के लिए खतरा नहीं है। मैकफर्सन की मान्यता में रॉल्स यहाँ यह भूल जाता है कि आय, वर्ग की असमानता, एक वर्ग द्वारा दूसरे पर आधिपत्य जमाने का अवसर प्रदान करती है।

समष्टिवादी रॉल्स के सिद्धान्तों में पूँजीवाद का औचित्य देखते हैं। मॉर्क्सवादी रॉल्स के वार्ताकारों को यह कहकर खारिज कर देते हैं कि जिन्हें सामाजिक, आर्थिक तथ्यों की जानकारी न हो, वे न्याय के सिद्धान्तों का निर्धारण क्या करेंगे? चूँकि रॉल्स वर्ग विभाजन को मान्यता देता है, अतएव ऐसे समाज में न्याय की कल्पना सम्भव नहीं है। स्वच्छन्दतावादी, रॉल्स के इस तर्क को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि 'व्यक्तिगत योग्यताएँ समाज की सार्वजनिक सम्पत्ति है और सामाजिक न्याय के लिए भेदमूलक सिद्धान्त ठीक है।

उक्त आलोचनाओं के बावजूद जिस समय स्वच्छन्दतावादी कल्याणकारी राज्य पर हमले कर रहे थे तथा पूँजीवाद के हित में असीम स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे, उसी समय रॉल्स ने पूँजीवाद जनित सामाजिक विकृतियों को ध्यान में रखकर, उसे वितरणात्मक न्याय से जोड़कर समाधान प्रस्तुत करने की कोशिश की।

रॉल्स की प्राकृतिक योग्यताएँ समाज में विशेषाधिकारों और असमानताओं को जन्म देती है क्योंकि इन असमानताओं को खत्म नहीं किया जा सकता। इसी असमानता को कम करने हेतु रॉल्स ऐसी व्यवस्था कल्पित करता है जिसमें योग्य व्यक्तियों के प्रयत्न व क्षमताएँ निहित हैं, इस ढंग से प्रयोग करे जिससे समाज के निम्नतम वर्ग की दशा में सुधार हो सके और विशेषाधिकारों से उत्पन्न होने वाली विषमताओं की क्षतिपूर्ति की जा सके। केवल योग्य व्यक्ति को पुरस्कृत करना मनमाना न्याय है। न्याय का सही अर्थ केवल योग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत करना ही नहीं, बल्कि हीनतम लोगों की क्षतिपूर्ति करना भी है, क्योंकि 'न्याय' पुरस्कार का सिद्धान्त न होकर क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त है।

अभ्यास प्रश्न

1. किसके अनुसार कानून संप्रभु का शासन है ?
2. कानून शब्द टयूटनिक मूल के किस शब्द से बना है ?
3. विधि निर्माण का कार्य सरकार के किस अंग द्वारा किया जाता है?
4. मेक्ल्वर ने कानून को कितने भागों में बांटा है ?
5. न्याय का प्राथमिक सिद्धांत क्या है जो व्यक्तियों के साथ न्यायसंगत और पक्षपात रहित व्यवहार करने की मांग करता है?

   (अ) निष्पक्षता (ब) पक्षपात (स) पूर्वाग्रह (द) बहिष्करण

6. आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को दूर करने के लिए समाज के भीतर संसाधनों, अवसरों और लाभों के उचित वितरण को कौन सा शब्द संदर्भित करता है?
   (अ) राजनीतिक न्याय (ब) आर्थिक न्याय (स) नैतिक न्याय (द) वितरणात्मक न्याय
7. न्याय का कौन सा पहलू यह सुनिश्चित करने पर केंद्रित है कि अपराध के आरोपी व्यक्तियों को निष्पक्ष और निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार है?

   (अ) उचित प्रक्रिया (ब) पुनर्स्थापनात्मक न्याय (स) प्रक्रियात्मक न्याय (द) कानून का शासन
8. Theory of justice पुस्तक के लेखक कौन हैं ?

9. **अरस्तू** के न्याय के दो पक्ष कौन हैं ?
10. रॉल्स ने अपने न्याय सिद्धान्त में किन दार्शनिकों के चिंतन को मिलाने की कोशिश की है।
11. न्याय, वितरण का गुण है। किसने कहा है ?
12. रॉल्स न्याय के नियमों का पता लगाने के लिए किस सामाजिक दर्शन का प्रयोग करता है ?

13.11 सारांश

निष्पक्षता, समानता और नैतिक आचरण की खोज में निहित, न्याय मानवीय संबंधों, कानूनी प्रणालियों और सामाजिक संरचनाओं का मार्गदर्शन करने वाले एक नैतिक कम्पास के रूप में कार्य करता है। इसकी बहुआयामी प्रकृति में विविध गतिशीलता शामिल है, प्रतिशोधात्मक और पुनर्स्थापनात्मक न्याय से लेकर वितरणात्मक और सामाजिक-आर्थिक न्याय तक, प्रत्येक मानव अनुभव के विभिन्न पहलुओं को संबोधित करता है। पूरे इतिहास में, न्याय समाज की बदलती जरूरतों और मूल्यों के अनुरूप विकसित हुआ है। प्राचीन सभ्यताओं के दैवीय न्याय से लेकर पुनर्जागरण और प्रबुद्धता के दौरान व्यक्तिगत अधिकारों और कानून के शासन पर जोर देने तक, न्याय ने मानव सभ्यता के पाठ्यक्रम को आकार दिया है, आधुनिक कानूनी प्रणालियों और नैतिक ढांचे के लिए आधार तैयार किया है।

न्याय की खोज में, हमें याद रखना चाहिए कि यह केवल एक अमूर्त अवधारणा नहीं है बल्कि कार्रवाई का आह्वान है। इसके लिए हमें अन्याय के खिलाफ खड़े होने, हाशिये पर पड़े और उत्पीड़ितों के अधिकारों की वकालत करने और सहानुभूति और समझ को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। न्याय के आदर्शों को अपनाकर और इसके सिद्धांतों के प्रति सामूहिक प्रतिबद्धता को बढ़ावा देकर, हम एक ऐसी दुनिया का निर्माण कर सकते हैं जो वास्तव में सभी के लिए निष्पक्षता, समानता और करुणा का प्रतीक है।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर हमें कानून , न्याय व राल्स के न्याय सिद्धांत के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई । जिसमें राल्स न्याय सिद्धान्त की शुरुआत उपयोगिता की आलोचना से शुरू करता है। उपयोगितावाद अपना एक सूत्र पहले ही सुरक्षित रखता है-वह अधिकमत व्यक्तियों का अधिकतम सुख है। परन्तु रॉल्स के अनुसार राज्य का कार्य केवल

सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा ही नहीं है, बल्कि सबसे अधिक जरूरतमन्द लोगों की आवश्यकताओं को उच्चतम सामाजिक आदर्श बनाकर मूल पदार्थों के पुनर्वितरण द्वारा न्याय उपलब्ध करवाना है।

रॉल्स के न्याय सिद्धान्त की विभिन्न आधारों पर आलोचनाएँ की हैं जिसमें प्रमुख नाम-सी0 वी0 मैकफर्सन का है। मैकफर्सन ने रॉल्स को उदार लोकतान्त्रिक पूँजीवादी राज्य का प्रवक्ता कहा है। वह कहता है कि उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व वाली किसी भी व्यवस्था में स्वतन्त्रता तथा समानता का समाधान सम्भव नहीं है।

उदारवाद का स्वेच्छाचारी सिद्धान्त जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता में दृढ़ विश्वास रखता है और व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ देने का पक्षधर है। वहीं साम्यवाद का अत्यधिक नियन्त्रित सिद्धान्त सामाजिक समानता के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान कर देता है। रॉल्स ने इन दोनों सिद्धान्तों से उठकर न्याय के एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसमें योग्यता और क्षमता का उचित पुरस्कार तथा सबको न्यूनतम की गारण्टी दी गयी है।

इस प्रकार यह संकल्पना समाज में न्याय के लिए समतापूर्ण नीतियों के निर्माण व उनके क्रियान्वयन के लिए सदैव प्रासंगिक रहेगी।

13.12 शब्दावली

मूल संरचना की अवधारणा --न्याय के सिद्धान्त में मूल संरचना की अवधारणा ऐसी अवधारणा है जिसमें रॉल्स के अनुसार एक न्यायसंगत संविधान होना चाहिए ताकि नागरिकों को विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हो सकें।

उपयोगितावाद--इसमें अधिकतम की अच्छाई के हित में कुछ व्यक्तियों के हितों के बलिदान को औचित्यपूर्ण ठहराया जाता है अर्थात् उपयोगितावाद सम्पूर्ण की खुशी के बजाय अधिकांश की खुशी पर जोर देता है। उपयोगिता अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के सूत्र को अपनाता है।

साम्या - जब कानून हो पर न्यायाधीश को यह लगे कि संबद्ध पक्ष को सहायता (रिलीफ) देना न्याय होगा तो न्यायाधीश साम्या के सिध्दांत का प्रयोग करते हुए ऐसी सहायता की व्यवस्था करता है ।

अध्यादेश- ऐसे आदेश होते है जो असाधारण परिस्थितियों में राज्य की कार्यपालिका के प्रधान द्वारा जारी किये जाते हैं।

वितरणात्मक न्याय- समाज के भीतर संसाधनों, अवसरों और लाभों का उचित और समान वितरण सुनिश्चित करें।

प्रक्रियात्मक न्याय - कानूनी प्रक्रियाओं और प्रक्रियाओं की पारदर्शिता, यह सुनिश्चित करना कि व्यक्तियों के साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जाए और उन्हें निष्पक्ष सुनवाई तक पहुंच प्राप्त हो।

राजनीतिक न्याय- सत्ता का उचित वितरण, राजनीतिक भागीदारी तक पहुंच, और समाज के भीतर प्राधिकार के पदों पर बैठे लोगों की जवाबदेही।

13.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आस्टिन 2. लैग 3. विधायिका 4. दो 5. निष्पक्षता 6. आर्थिक न्याय 7. उचित प्रक्रिया 5. रॉल्स 6. **a. वितरणात्मक न्याय एवं b. सुधारात्मक न्याय।** 7.काण्ट, लाक एवं रूसों 8. रॉल्स 9.अनुबन्धमूलक सामाजिक दर्शन

13.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।

2.ओम प्रकाश गाबा,राजनीतिक सिद्वान्त की रूपरेखा, मजूर पे परबैम्स नोएडा।

3.डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्वान्त,जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

4. राजनीतिक सिद्धांत अवधारणाएँ एवं विमर्श- संपादक बलवान गौतम, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

5. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत- डॉ. पुखराज जैन, डॉ बी. एल. फड़िया

13.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1 .वीरकेश्वर प्रसाद - राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, ज्ञानदा पब्लिकेशन, नयी दिल्ली
2 .डी0डी0 राफेल - राजनीतिक दर्शन की समस्यायें, मैकमिलन लन्दन

13.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कानून से आप क्या समझते हैं ? इसके स्रोतों का वर्णन कीजिये।

2. कानून की विभिन्न परिभाषाओं के साथ कानून के प्रकारों के चर्चा कीजिये।

3. न्याय के अर्थ को बताते हुए न्याय के विचार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट कीजिये।

4. न्याय के विभिन्न आयामों का वर्णन कीजिये।

5. राल्स के न्याय सिद्धांत पर एक निबंध लिखिए ?

इकाई-14 : लोकतन्त्र की विविध अवधारणाएँ

14.0 प्रस्तावना
14.1 उददेश्य
14.2 लोकतन्त्र
14.3 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
14.3.1 लोकतंत्र का व्यापक अर्थ
14.4 लोकतंत्र सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांत
14.4.1 उदार लोकतन्त्र के सिद्धान्त लक्षण
14. 4.2 लोकतन्त्र का विशिष्टवर्गवादी सिद्धान्त
14. 4.3 लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त
14.4.4 मार्क्सवादी दृष्टिकोण
14.5 विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याएं
14.6 सारांश
14.7 शब्दावली
14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
14.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
14.11 निबन्धात्मक प्रश्न

114.0 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हमने न्याय के अर्थ इसकी विशेषता के साथ ही इसके अन्य विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया। साथ ही साथ कानून के अर्थ और विशेषता का अध्ययन किया और देखा कि वर्तमान समय में न्याय की स्थापना हेतु कानून किस प्रकार से महत्वपूर्ण है। इसके साथ ही साथ जॉन राल्स के न्याय सिद्वान्त और उसके विभिन्न रुपों के अध्ययन किया है।

इस इकाई में हम लोकतन्त्र के अर्थ को समझने का प्रयास करेगें। जिससे हम देखेगें कि इसकी विशेषताएं क्या है। इसके दृष्टिकोण कितने है और वर्तमान समय में यह किस प्रकार से सर्वाधिक उपयुक्त शासन प्रणाली हैं।

14.1 उददेश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेगें कि-

1 लोकतन्त्र के अर्थ को समझ सकेंगे।

2.लोकतन्त्र में किस प्रकार शासन जनता के प्रति उत्तरदायी है।

3. लोकतन्त्र की विशेषता।

4.लोकतन्त्र के गुण व दोषो को और।

5.लोकतन्त्र की वर्तमान समय में उपयोगिता।

14.2 लोकतन्त्र

लोकतन्त्र वर्तमान युग की सबसे लोकप्रिय अवधारणा है। सत्ता और जनता के बीच घनिष्ठ एवं आत्यन्तिक सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक प्रणाली के रूप में लोकतन्त्र सभी देशों में एक अनिवार्य, अपरिहार्य एवं नितान्त वांछित आवश्यकता के रूप में है। विश्व के सभी राष्ट्र चाहे उनकी शासन पद्धतियां कुछ भी क्यों न हो अपने को लोकतन्त्र की ही संज्ञान देते हैं। प्रायः प्रत्येक राजनीतिक पद्धति लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को अपना रही है। सत्ता में जनसहभागिता सुनिश्चित करने वाली यह व्यवस्था सार्वजनिक सप्रंभुता की द्योतक है। आज मानव शक्ति को अन्मुक्त करने के लिए कोई विचारवाद इतना प्रबल नहीं है जितना कि लोकतन्त्र। वास्तव में अब यह विचारवाद न रहकर मानव धर्म बना गया है।

इतिहास के क्रम में द्वितीय विश्वयुद्ध में इटली तथा जर्मनी (धुरी के राष्ट्रों) के पतन के पश्चात् मित्र राष्ट्रों (अमेरिका,ब्रिटेन एवं फ्रांस) की विजय ने लोकतंत्र को पुनः प्रतिष्ठा दी जो कि 1920 से 1940 तक यूरोप, एशिया तथा अमेरिका के कई देशों में अधिनायकता के फलस्वरूप न ही गई थी। विश्व में आज लोकतंत्र काफी सम्मान का पात्र है। विश्व में चारों ओर लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का ही बोलबाला है। यह बात उल्लेखनीय है कि 1949 में यूनेस्को ने जो अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की उससे ज्ञात होता है कि विश्व के अधिकांश विद्वान लोकतंत्र को उचित और आदर्श राजनीतिक और सामाजिक संगठन समझते हैं।

प्लेटो से लेकर वर्तमान तक राजनीति विज्ञान में लोकतंत्र (जनतंत्र अथवा प्रजातंत्र) सर्वाधिक चर्चित विषय रहा है। वर्तमान समय को साधरण आदमी का युग माना जाता है, जो लोकतंत्र का एक अत्यन्त उपयोगी अवयव है। लोकतंत्र का एक अत्यनत उपयोगी अवयव है । लोकतंत्र कतिपय शाश्वत वरीयताओं, पर आधारित है, जिनको डॉल, डेविड ईस्टन, हेरॉल्ड लासवेल आदि सभी व्यवहारवादी राजनेताओं ने परम मूल्य के रूप में अपनाया। वे आनुभाविक, सन्दर्भ में इसके लगातार सत्यापन के पक्ष में हैं, किनतु समानताओं के होते हुए भी, पैराक्लीज के एथेन्स तथा टॉमस जकरसन और एण्ड्रयू जैम्सन के प्रजातंत्र से आज का प्रजातंत्र नितानत भिन्न है। इनको एक दूसरे का पर्यायवाची समझना अनुचित है। वर्तमान समय का प्रजातंत्र राज्य प्रधान है। और इसमें अनेक मिश्रित विचारधाराओं काह समावेश है जैसे राष्ट्रीय प्रजातन्त्र, समाजवादी प्रजातन्त्र, जनवादी प्रजातन्त्र, मूलभुत या पचांयत प्रजातन्त्र आदि। प्रजातन्त्र के ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय स्वरूप में वर्तमान युग के सन्दर्भ में पर्याप्त परिवर्तन हो जाने से अनेक राजनितिशास्त्रियों ने नये नाम सुझाये है। राबर्ट ए0 डहल उसे लोकप्रिय शासन या बहुतन्त्र कहा है तो लोवेस्टीन ने पोलोक्रेसी कहना उचित समझा है। अन्य विद्वानों ने उसे दलीय तन्त्रं, जनतन्त्र, निर्वाचित बहुमत, लोकतन्त्र आदि नामों से पुकारा है। हिन्दी भाषा मे जनतन्त्र आर्थिक प्रजातन्त्र के लिए तथा लोकतन्त्र राजनितिक प्रजातन्त्र के लिए प्रयोग किया जाता है। इन

विभिन्न नामों के प्रयोग से प्रजातन्त्र के स्वरूप में अनिश्चयात्मकता , अस्पष्टता ,श्रान्ति आदि वैचारिक कठिनाइयाँ पैदा हो गयी है। इसके साथ ही पश्चिमी ओर अमेरिकी प्रजातनत्र में यह एक जीवन-प्रणाली बनकर राज्यव्यवस्थाओं में समा गया है। सारटोरी ने इस अवसान के कारण वर्तमान अवस्था को प्रजातन्त्रात्मक श्रान्ति का युग कहा है

14.3 लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

आज लोकतन्त्र शासन का श्रेष्ठतम रूप बन गया है। लोकतन्त्र शब्द अंग्रेजी भाषा के डेमोक्रेसी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जो दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना है- डेमोस और क्रेटोस । डेमोस का अर्थ जनता और क्रेटोस का अर्थ है सरकार या शासन । इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से प्रजातन्त्रसे अभिप्राय है जनता का शासन कुछ लोग इसे लोकतन्त्र, कुछ प्रजातंत्र से और कुछ जनतंत्र के ना मसे पुकारते हैं। साधारणतया लोकतंत्र से अभिप्राय उस शासन व्यवस्था से है जिसमें जनता शासन करती है, वही सरकार का निर्माण करती है, शासन का संचालन करती है तथा सरकार के प्रति उत्तरदायी भी होती है। शासन की सत्ता जनता के हाथों में रहती है, जिसका प्रयोग वह या तो स्वयं करती है या अपने प्रतिनिधियों द्वारा कराती है। महात्मा गाँधी के शब्दों में लोकतंत्र वह कला एवं विज्ञान है। जिसके अन्तर्गत जनसाधारण के विभिन्न वर्गों के भौतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक संसाधनों को सभी के समान हित की सिद्धि के लिए नियोजित किया जाता है। इसी संदर्भ में जवाहर लाल नेहरू का दृष्टिकोण है कि लोकतंत्र का आशय सहिश्णुता है, न केवल उन लोगों के प्रति जिनसे सहमति हो वरन् उनके प्रति भी जिनसे असहमति हो।

लोकतंत्र की विद्धानों ने अनेक प्रकार से परिभाषाएं की हैं-

1. प्राचीन युग में यूनानी लोग लोकतंत्र को बहुरक्षकों का शासन मानते थे। प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक हिरोडोटस के अनुसार- ‘‘लोकतंत्र उस शासन व्यवस्था का नाम है, जिसमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता सम्पूर्ण जनता के हाथों में निवास करती है।‘‘

2. सीले के शब्दों में ‘‘प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग होता है।‘‘

3. डायसी के अनुसार-‘‘ प्रजातंत्र वह शासन का स्वरूप है जिसमें शासन प्रबन्ध करने वाली संस्था समूचे राष्ट्र का एक अप्रेक्षाकृत बड़ा भाग होती है।‘‘

4.लेविस का मत है कि-‘‘वस्तुतः प्रजातंत्र वह सरकार में है, जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता सप्रभूशक्ति के प्रयोग में हिस्सा लेती है।‘‘

5. हॉल के अनुसार-" प्रजातंत्र राजनीतिक संगठन का वह स्वरूप है जिसमें जनमत का नियत्रण रहता है।"

6. आशीर्वादम के शब्दों में " हमारा विश्वास है कि प्रजातंत्र मानवता के प्रति हमारे उत्साह की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है।"

7. ऑस्टिन के अनुसार-" प्रजातंत्र वह शासन है जिसमें शासन की अंतिम शक्ति जनता के अधिकांश भाग को प्राप्त होती है।"

8.अब्राहम लिंकन के अनुसार-" लोकतंत्र जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए (स्थापित) शासन प्रणाली है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय व मान्य परिभाषा अब्राहम लिंकन की है, जिसे उन्होने गोटसबर्ग के भाषण में कहा था। लोकसंत्र की विविध परिभाषाओं का मूल अभिप्राय यह है कि लोकतंत्रीय प्रणाली में शासन या सत्ता का अंतिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में रहता है ताकि सार्वजनिक नीति जनता की इच्छा के अनुसार और जनता के हित साधन के उद्देश्य से बनाई जाए और कार्यान्वित की जाय।

14.3.1 लोकतंत्र का व्यापक अर्थ

लोकतंत्र बहुआयामी अर्थ लिए हुए है। यह मात्र शासन-व्यवस्था अथवा सरकार का एक रूप मात्र नहीं है, अपितु यह समाज और आर्थिक व्यवस्था का भी एक प्रमुख रूप है। हर्नशॉ के शब्दों में "प्रजातंत्र केवल सरकार का स्वरूप नहीं है, बल्कि राज्य और समाज का भी स्वरूप है।"गिडिंग्स ने इस सन्दर्भ में कहा-"प्रजातंत्र केवल शासन का ही नाम नही है, वरन् राज्य का भी एक रूप है तथा समाज के रूप का भी एक नाम है या फिर तीनों का सम्मिश्रण है।" प्रजातंत्र के नैतिक स्वरूप का वर्णन करते हुए डा0 बेनीप्रसाद ने कहा है कि -"लोकतंत्र जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व उतना ही है जितना अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता। "मैक्सी ने लोकतंत्र का व्यपक अर्थ करते हुए लिखा है-"बीसवीं सदी में लोकतंत्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढांचे से ही नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यों की स्वतंत्र एवं ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकी करण लाया जा सके।"

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में लोकतंत्र के विभिन्न रूप परिलक्षित होते हैं-

1. लोकतंत्र का राजनीतिक स्वरूप-लोकतंत्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध शासन-प्रणाली से होता है। इस अर्थ में लोकतंत्र सरकार का वह संगठन है जो कि जनता के द्वारा निर्मित नियंन्त्रित एवं संचालित होता है। वास्तव में लोकतंत्र में शासन की सत्ता की बागडोर जनता में ही निहित होती है। जनता अपनी सत्ता का प्रयोग स्वयं या अपने प्रतिनिधियों द्वारा करती है। शासन व्यवस्था पर अंतिम अधिकार एवं निर्णय जनता का ही होता है शासन शासितों का हित समान ही होता है। लोकतंत्र के राजनीतिक स्वरूप का अर्थ यही है कि राज्य के प्रत्येक वयस्क स्त्री एवं पुरूष को मतदान का अधिकार प्राप्त हो। प्रत्येक व्यक्ति को शासन की निंदा करने का अधिकार हो तथा समाचार पत्र एवं प्रेस की भूमिका स्वतंत्र एवं निष्पक्ष हो। जनता व सत्ता के मध्य सम्बन्ध समन्वय पूर्ण होने चाहिए ।

2.लोकतंत्र का सामाजिक स्वरूप- लोकतांत्रिक समाज समता में फलता एवं फूलता है। समानता की भावना ही लाकतांत्रिक समाज की एक विशिष्ट विशेषता होती है। यह सिद्धान्त जन्म,जाति,वर्ण,चरित्र तथा योग्यता इत्यादि के भेदों से परे प्रत्येक मनुष्य के समान नैतिक गुण और आत्मिक गौरव पर बल देता हुआ समाज में सामाजिक तथा सांस्कृतिक समानता की स्थापना करता है। यह समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने व्यक्तित्व के विकास अवसर उपलब्ध कराता है। इस प्रकार, जिस समाज में विचारों,अधिकारों,भावानाओं और आदेशों की समानता होती है। उसे ही लोकतांत्रिक समाज कहा जा सकता है।

क्रोजियर के कथनानुसार "मनुष्य की भौतिक एवं सामाजिक दशाओं की समानता लोकतंत्र का सार है। " आर्शीवार्दम के शब्दों में- "प्रजातांन्त्रिक समाज वह है, जिसमें समानता तथा भ्रातृत्व की भावना सम्भवता वर्तमान रहती है। " अतः सामाजिक दृष्टि से लोकतंत्र का अर्थ सामाजिक समानता के रूप में जाना जाता है।

3. लोकतंत्र का नैतिक स्वरूप- लोकतंत्र का स्वरूप नैतिक भी है। यह स्वरूप एक आदर्श एवं आध्यात्मिक जीवन की कल्पना करता है, जिसके अन्तर्गत घृणा, स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या इत्यादि बुरी प्रवृत्तियों का नाम नही रहना चाहिए। मनुष्यों में प्रेम, देश-प्रेम, सहयोग, भ्रातृत्व इत्यादि गुणों की वृद्धि करके नागरिकों में नैतिकता का विकास होना चाहिए। लोकतंत्र की सफलता के लिए राष्ट्रीय एकता तथा लोगों में उच्च नैतक मूल्यों के प्रति निष्ठा नितान्त जरूरी है। प्रजातंत्र के नैतिक स्वरूप का वर्णन करते हुए जैकरसन ने लिखा है "प्रजातंत्र शासन इस विश्वास पर आधारित है कि अधिकांश जनता स्वशासन की योग्यता रखती है तथा साधारण व्यक्ति के अन्दर भी इतनी योग्यता होती है कि वह ऐसे शासकों का निर्वाचन करे, जो सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर कार्य करे।

4. लोकतंत्र का आर्थिक स्वरूप-आर्थिक स्वरूप से आशय है आर्थिक समानता से है। आर्थिक स्वतंत्रता और समानता ही वास्वविक प्रजातंत्र का आधार मानी जाती है। भूखे व्यक्ति के लिए लोकतंत्र

का कोई महत्व नहीं हो सकता। इस कारण आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना आवश्यक है। आर्थिक लोकतंत्र से आशय है ऐसी व्यवस्था से होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भौतिक सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधन उपलब्ध हो और जहाँ पर किसी का शोषण न किया जाये। यह कहा भी जाता है कि आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक लोकंत्र सामान्य मनुष्यों को अपनी इच्छाओं की पूर्णता में सहायता नहीं दे सकता। राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की दासी है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि समाज में धन का वितरण इस तरह होना चाहिए कि अधिक से अधिक व्यक्ति उसका उपभोग कर सकें और सभी लोगों को भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि की पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त हो। सच्चे अर्थों में लोकतंत्र की स्थापना तभी सम्भव है।

5. जीवन का एक रूप-लोकतंत्र जीवन का एक रूप भी है। यह जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान होता है तथा उसकी आन्तरिक नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षमता का विकास किया जाता है। जिससे व्यक्ति की गरिमा में बढ़ोतरी होती है और उसका नैतिक स्तर ऊपर उठता है।

उर्पयुक्त विभिन्न व्यापक दृष्टिकोणों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि लोकतंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली और सामाजिक व्यवस्था का सिद्वान्त है जिसकी एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति होती है और जिसका एक आर्थिक आधार होता है और जिसमें सामाजिक, राजनीतिक और दैनिक व्यवहार के सारे सांस्कृतिक मापदंड निहित होते हैं। संक्षेप में लोकतंत्र एक विशेष प्रकार का शासन है सामाजिक व्यवस्था का एक सिद्वान्त है, एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति है। इसका सही अर्थ अपने कर्त्तव्यों का उचित निर्वहन है।

14.4 लोकतंत्र सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांत/अवधारणा

आधुनिक विश्व के अधिकांश राज्य लोकतांत्रिक होने का दावा करते हैं। यहां तक कि एक बार हिटलर ने लोकतांत्रिक शासन की बात करते हुए अपने शासन को 'जर्मन लोकतंत्र कहना पसंद किया था। कहीं पर लोकतंत्र को राज्य का रूप माना गया है तो कहीं पर इसे समाज और जीवन का ढंग कहा गया है। ऐसी स्थिति में स्वीकार करना होगा कि लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों में आजकल बहुत अन्तर आ गया है। अतःयह वैचारिक अन्तर लोकतंत्र के सिद्वान्तों, आदर्शों एवं मूल्यों में भी दृष्टव्य है। इस कारण लोकतंत्र के अनेक दृष्टिकोण सामने आए हैं जो इस प्रकार है- (1) लोकतंत्र का पारम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण (2) लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्वान्त (3) लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्वान्त (4) लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण (5) लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण।

लोकतंत्र का परम्परिक उदारतावादी दृष्टिकोण-पारमपरिक उदारतावादी सिद्वान्त को प्रतिष्ठित, लोकप्रिय सिद्वान्त भी कहा जाता है। यह सिद्वान्त पिछली करीब तीन शताब्दियों में विकसित हुआ

और यह किसी एक दर्शन, लेखन आन्दोलन का परिणाम न होकर अमेरिका,इग्लैण्ड तथा अन्य पश्चिचमी देशों के राजनीतिक आन्दोलन व्यवहार तथा चिंतन का परिणाम है। आधुनिक युग के आरम्भ के साथ ही इस सिद्वान्त का विकास देखा जा सकता है। 'पुर्न जागरण' तथा धर्मसुधार के सांस्कृतिक ताकि धार्मिक आन्दोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्च मानते हुए व्यक्ति को ही अपने चिंतन का केन्द्र-बिन्दु स्वीकार किया। हॉब्स (1588-1279) ने इसी आधार पर 13वी0 शताब्दी में लोकतंत्र के महत्वपूर्ण नियम को स्पष्अ किया। हॉब्स ने कहा कि राज्य सरकार तथा अन्य मानवीय संस्थाएं व्यक्तियों के आपसी समझौते के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई है। इस समय अंग्रेज विचारक जान लाक (1232-1304) ने इग्लैण्ड की गौरव क्रांति (1288) के अवसर पर यह विचार व्यक्त किया कि मनुष्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनहे उनसे कोई नहीं छीन सकता; इनमें 'जीवन' स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के सिद्वान्त के आधार पर सरकार के खिलाफ बगावत को उचित ठहरा कर सीमित सरकार के लोकतांत्रिक सिद्वान्त को स्थापित किया ।

अठारहवीं शताब्दी में व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं को संरक्षण रखने के लिए तथा सरकार को निरंकुश होने से बचाने के लिए मांटेस्क्यूय ने शक्तियों के पृथकरण का सिद्वान्त दिया। रूसों ने लोकतंत्र की आत्मा के स्वरूप में 'सामान्य इच्छा' का सिद्वान्त प्रतिपादित किया। रूसों ने जनता द्वारा राजनीति में प्रत्यक्ष हिस्सा लेने को लोकतंत्र की मुख्य विशेषता माना । मैबले, दिदरों ,हैलविशियस,होलबैक विद्वानों ने व्यक्तियों की 'जन्मसिद्ध समानता' के विचार को प्रतिपादित करके लोकतंत्र को एक ओर नवीन आधार-स्तम्भ प्रदान किया। अमेरिका (1376) तथा फ्रांस (1389) की क्रान्तियों ने राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति के माध्यम से लोकतंत्र को व्यवाहारिक रूप देने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया ।अमेरिका के क्रान्तिकारियों जेकरसन, मेडीसन के प्रयासों से अमेरिकी संविधान उदारवादी लोकतंत्र के राजनीतिक घोषणापत्र के रूप में उभरकार सामने आया। आर्थिक स्तर पर एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस जैसे अर्थशास्त्रियों ने राज्य के हस्तक्षेप को अस्वीकार करते हुए सीमित सरकार के विचार को आर्थिक आधार प्रदान किया। सबके साथ ही धार्मिक क्षेत्रों में राज्य की दखलंदाजी को भी उदारवादी लेखकों ने विरोध किया और इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा विकसित हुई।

19वीं0 शताब्दी में बेंथम,जेम्स मिल, जे0एस0 मिल ने उपयोगितावादी दार्शनिकों ने 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख के आधार पर लोकतंत्र का समर्थन किया। इस परिपेक्ष्य में सर्वप्रथम बेथम ने प्रतिनिधी सरकार तथा वयस्क मताधिकार के चिारों को पेश किया। बेथम ने गुपत मतदान, संसद की अवधि एक साल प्रेस तथा विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता,मतदान को कारगर बनाने के लिए शिक्षा के महत्व पर जोर दिया। बेथम ने लोकतंत्र को एक उपयुक्त शासन व्यवस्था,कानून

व्यवस्था, समाज में बनाये रखने के लिए एकमात्र शासन विधि बताया। मेकरसन के शब्दों में इन्होने रक्षात्मक लोकतंत्र की आधारशिला रखी।

जे0एस0 मिल ने लोकतंत्र के नैतिक पहलू की ओर ध्यान केन्द्रित किया साथ ही लोकतंत्र को मानवीय विकास का एकमात्र साधन माना। मिल ने मतदान की शक्ति को केवल शासितों को नियन्त्रित करने की ही शक्ति नहीं माना। उनहोने इस शक्ति को जनता के राजनीति में हिस्सा लिए जाने का उचित माध्यम माना। उनका दृढ़ विश्वास था कि अधिकार एवं स्वतंत्रता के माध्यम से जनता दायितवों का अच्छी तरह अनुपालन करती है। मिल के विचारों के आधार पर ही टी.एच. ग्रीन तथा 20वीं शताब्दी में लिंजसे, हॉबहाउस, बार्कर, लास्की, मैकाइवर, डेवी पैनोक आदि ने लोकतंत्र के विकासवादी पक्ष को मजबूत किया तथा उक्त सिद्वान्त को नवीन दिशा प्रदान की। इनके प्रयासों से बीसवी सदी में वयस्क मताधिकार मिला तथा राजनीति में जनता की भागेदारी उभरकर सामने आय। बीसवीं शताब्दी में पूंजीवादी व्यवस्था की आवश्यकता यह थी कि राज्य आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। इसके परिणाम स्वरूप पूंजवादी अर्थव्यवस्था उदारवादी कल्याणवादी लोकतंत्रीय सरकार में बदल गई।

20वीं0 शताब्दी में लोकतंत्र उदारवादी सिद्वान्त के विकास में लास्की का महत्वपूर्ण योगदान है। लास्की ने जनता को अधिक से अधिक शिक्षित तथा योग्य बनाये जाने पर जोर दिया और लोकतन्त्र के आदर्श एवं सस्थाओं की विस्तृत व्याख्या की। राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता के कानूनी सिद्वान्त पर प्रहार करते हुए उन्होंने सत्ता को विभिन्न समूहों एवं सस्थाओं में विभाजित करने का बहुलवादी दृष्टिकोण दिया । लास्की ने सम्पुर्ण समाज के आर्थिक, समाजिक ,नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक इसके विस्तार का सुझाव दिया। उसने लोकतन्त्रीय सरकार को जनता के आर्थिक हितो को संरक्षक बनाकर लोकतन्त्र को एक विस्तृत आकार प्रदान किया।

इस सिद्वान्त के अनुसार लोकतंत्र से आशय मात्र शासन व्यवस्था से न होकर ऐसी शासन विधि से है जिसके द्वारा नागरिक राज्य कार्यों में अपनी भागेदारी को सुनिश्चित करते हैं अपनी योग्यताओं एवं सक्षमताओं का अधिकतम विकास करते हुए स्वस्थ समाज के निर्माण की आधारशिला बन सकने का प्रयास अपने हितों की पूर्ति के लिए करते हैं। लोकतंत्र का मुख्य ध्येय व्यक्ति का चहुमुखी विकास एवंम् सर्वकल्याण करना है। मिल ने इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है-''समाज की सभी जरूरतों को केवल वही सरकार पूर्णरूपेण संतुष्ट कर सकती है। जिसमें सभी लोग हिस्सा ले, छोटे-से-छोटे कार्य में भी जनता का भाग लेना महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रत्येक स्थान में जनता का भाग इतना अधिक होना चाहिए जितना समाज का सामान्य कल्याण अनुमति दे ,और इससे अधिक अच्छी बात कोई नहीं हो सकती कि सबको राज्य की सम्प्रभुत्ता में हिस्सा मिलें । अतः प्रजातन्त्र में राजनितिक निर्णय मे जनता का योगदान को आवश्यक माना गया चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष ।

14.4.1 उदार लोकतन्त्र सिद्धांत के लक्षण

उदार लोकतन्त्र के सिद्वान्त को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तरह से स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए उदार लोकतन्त्र के कुछ विशिष्ट लक्षणों पर प्रकाश डाला राबर्ट सी0 बोन ने उदार लोकतन्त्र के, लिए निम्नांकित लक्षणों को आवश्यक माना -(1) नीति -निर्माताओं के निर्वाचन में सहभागिता, (2) भावीनीति-निर्माताओं के दो या दो से अधिक प्रतियोगी समूहो में से पसन्द के विकल्प (3) मताधिकार की पूर्ण समानता:(4)प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता (5)मतदाताओं को पसन्द तथा वैद्य राजनीतिक समूहों को राजनीतिक गतिविधियों की पूर्ण स्वतंत्रता;(6) निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा लम्बे विचार-विमर्श के बाद बहुमत से नीति निर्णयों का निर्धारण;(7)समय-समय पर नियमित सुझावों के माध्यम से निवा्रचित प्रतिनिधियों का मतदाताओं के प्रति उत्तरादायित्व।

एलेन बाल ने उदारवादी लोकतंत्र के निम्नलिखित लक्षण बताये हैं (1) एक से अधिक राजनीतिक दल होते हैं। दल राजनीतिक सत्ता के लिए एक-दूसरे से खुलकर प्रतियोगिता कर सकते हैं (2) सत्ता के लिए प्रतियोगिता छिपाव-दुराव नही बल्कि खुलकर होती है। यह प्रतियोगिता स्थापित तथा स्वीकृत प्रतियोगिता के आधार पर होती है। (3) राजनीतिक सत्ता से जुड़े हुए पदों पर चुनाव या नियुक्तियाँ अपेक्षाकृत खुले रूप में होती हैं। (4) व्यापक मताधिकार पर आधारित चुनाव समय-समय पर होते रहते हैं। (5) सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने के लिए प्रभावक गुटों को कार्य करने का अवसर मिलता है। ट्रेड यूनियनों तथा अन्य संघों पर सरकार का कड़ा नियंत्रण नहीं होता है। (6) अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतंत्रता और स्वेच्छाचारी ढंग से बन्दी न बनाए जाने, आदि की नागरिक स्वतंत्रताएं सरकार द्वारा मान्य होती हैं और सरकार उनकी रक्षा करती है।(7) स्वाधीन न्यायपालिका होती है(8) टेलीविजन,रेडियो, अखबार जेसे जनसमपर्क माध्यमों पर सरकार का एकाध्किार नहीं होता है। इन्हे कुछ सीमाओं में रहकर सरकार की आलोचना करने की भी स्वतंत्रता होती है।

पीटर एच0 मर्कल ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल कण्टीन्यूटी एण्ड चेन्ज' में उदार लोकतंत्र के चार लक्षणों को आधारभूत माना है (1) विचार-विमर्श द्वारा शासन (2) बहुमत का शासन (3) अल्पसंख्याकों के अधिकारों को मान्यता (4) संविधानिक सरकार।

लोकतंत्र विशेषताएं-

लोकतंत्र के परमपरागत उदारवादी दृष्टिकोण की विशेषताएं निम्नांकित हैं-

(1) व्यक्ति एक राजनीतिक प्राणी है। उसमें विवेक होता है जिससे वह अपना हित-अहित में सोचने की क्षमता को रखता है। इस आधार से सब व्यक्ति समान है।

(2) शासन का संचालन जनता द्वारा होना चाहिए। शासन कार्यों में जनता अवश्य भागेदारी ले। इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।

(3) जनता निर्वाचन प्रणाली के द्वारा चुनाव में अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनको नियंतत्रित करते हुए शासन के कार्यों ने हिस्सा ले सकती है। सरकार का निर्माण बहुमत द्वारा ही होना चाएि तथा जनता की इच्छा सरकार की शक्ति का आधार हो।

(4) प्रतिनिधियों को सदेव इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि राजनीतिक सत्ता जनता की अमानत है अतः उसे हमेशा जनहित तथा सामान्य कल्याण सम्बन्धी निर्णय लेने चाहिए।

(5) लोकतंत्र का उद्देदश्य सामान्यहित का संरक्षण करना एवं व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना होना चाहिए।

(6) लोकतंत्रीय सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी रहे। जनता का सरकार पर नियंत्रण अवश्य स्थापित हो।

(7) सरकार सीमित होनी चाहिए।

(8) सरकार का मुख्य कर्त्तव्य जनता के अधिकारों की रक्षा करना है जनता को अधिक से अधिक शिक्षित होना चाहिए तभी वह जागृत रखकर अपने अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हो सकती है।

(9) जनता को वाद-विवाद, लिखने-बोलने अपने विचारों की अभिव्यक्ति तथा संगठित होकर काम करने के अधिकार की स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए तथा समय-समय पर राज्य के कार्यो के बारे में जनता को सरकार द्वारा अधिक-से अधिक अवगत कराया जाना चाहिए।

10. सरकार को जनता की महत्ता को समझकर जनता को सरकार द्वारा पूरी इज्जत दी जानी चाहिए।

मूल्यांकन –

अन्य सिद्वान्तों की भांति लोकतन्त्र का यह परम्परावादी व प्रतिष्ठित सिद्वान्त भी आलोचनाओं से घिरा हुआ है। सुप्पीटर ने इस सिद्वान्त की आलोचना की। सुम्पीटर ने इस सन्दर्भ में कहा कि सामान्य हित या सामान्य इच्छा का पता लगा पाना असंम्भव है।''इस सिद्वान्त के अन्य दोष निम्नवत है--

1. राजनीतिक समानता जैसी कोई वस्तु नही होती। प्रत्येक समाज में विशिष्ट वर्ग का अस्तित्व सदैव मुक्त बना रहता है।

2. राजनीति में जनता की भागेदारी लोकतन्त्र को सफल नहीं बनाती। बल्कि उसे असफल बना देती है जिससे लोकतन्त्र भीड़तन्त्र में परिवर्तित हो जाता है।

3. यह सिद्वान्त लोकतन्त्र में व्यक्ति की भूमिका को महत्वपूर्ण मानता है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था के सन्तुलन पर ध्यान नहीं देता।

4. इसे अव्यावहारिक एंव काल्पनिक कहा गया क्योंकि इस सिद्वान्त की मान्यता है कि व्यक्ति सरकार द्वारा नीति-निर्धारण की जटिल प्रकियाओं मे सक्रिय योगदान कर सकता है जबकि साधारण व्यक्ति नीति निर्धारण जैसी जटिल प्रक्रिया को नहीं समझ सकता।

5. यह सिद्धान्त कोरा आर्दशवादी सिद्धान्त है क्योंकि यह जीवन की वास्तविकताओं पर ध्यान नहीं देता है।

इन दोषों के कारण ही लोकतन्त्र के इस सिद्धान्त को अनेक लेखकों ने संशोधित कर विशिष्टवर्गीय तथा बहुलवादी सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

14.4.2 लोकतन्त्र का विशिष्टवर्गवादी सिद्धान्त

लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त मूल रूप से समाजशास्त्र के क्षेत्र में व्याख्या देने हेतू विकसित किया गया है इसके द्धारा यह बोध होता है कि समाजिक सगंठन के अन्दर व्यक्ति किस तरह का व्यवहार करते है ? बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दौर में इटली के दो सुविख्यात समाज वैज्ञानिकों-विल्फ्रेड पैरेटो (1476-1923) और गीतनो मोस्का (1458-1941)ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि किसी भी समाज या संगठन का अन्तर्गत प्रमुख निर्णय सिर्फ गिने-चुने लोग ही करते है, चाहे उस संगठन का बाहरी रूप कैसा भी क्यों न हो। ‘‘इसी सन्दर्भ में एक ओर जर्मन समाजवैज्ञानिक राबर्ट मिशेल्स (1476-19369)ने ’अल्पतन्त्र का लौह नियम’ का प्रतिपादन करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि अधिकांश व्यक्ति स्वभाव से जड़, आलसी और दब्बू प्रवृति वाले होते है जो अपना शासन स्वयं चलाने में असमर्थ होते है। इसलिए नेतागढ़ अपनी वाकपटुता,अनुनय-विनय आदि के बल पर लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ करके सत्ता पर आधिकार स्थापित कर लेते है। समाज में चाहे कोई भी शासन प्रणाली क्यों न अपनाई जाए,वह अवश्य ही अल्पतन्त्र या गिने-चुने लोगों के शासन का रूप धारण कर लेती है। इन समाज वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने लोकतन्त्र की सम्भावनाओं को चुनौती दी तथा इस समस्या पर नये सिरे से विचार करने की प्रेरणा दी है। अनेक राजनीतिशास्त्रियों ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए उदार लोकतन्त्र की अभिनव व्याख्या पेश की जिसमें विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त को उपयुक्त स्थान दिया गया। इन लेखकों के द्वारा जो विचार प्रस्तुत किये गये है,उन्हें सामूहिक रूप से ’लोकतन्त्र का विशिष्टवर्गवादी सिद्धान्त’ कहकर सम्बोधित किया जाता है। इनमें जोसफ ए0शू0पीटर,

आरो, सारटोरी, मैन्हाइम के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी के मतों का पृथक-पृथक उल्लेख निम्नवत है।

1.मैंन्हाइम के विचार

कार्ल मैंन्हाइम ने अपनी विख्यात कृति 'आइडियोलोजी एंड यूटेपियाः इन इंटोडक्शन टू द सोश्योलाजी ऑफ नॉलिज" विचारधारा और कल्पनालोक ,ज्ञान के समाज विज्ञान का परिचय 1929 में यह लिखाः लोकतन्त्रीय व्यवस्था में जब समाज नीति-निर्माणका कार्य विशिष्ट वर्ग को सौप देता है तो इस प्रकार का लोकतन्त्रशून्य हो जाता है। जनसाधारण एक निश्चित अन्तराल के पश्चात वोट डालकर अपनी आकाक्षाओं को प्रकट कर देते है। अपने मताधिकार के बल पर वे नेताओं को बहुमत के हित में निर्णय करने के लिए बाहय कर सकते है। विशिष्टवर्ग के शासन और लोकतन्त्रीय शासन के मध्य सामंजस्य स्थापित के करने के लिए मैन्हाइम ने सुझाव दिया है कि नेताओं का चुनाव योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए तथा विशिष्टवर्ग और जनसाधारण के मध्य दूरी कम की जानी चाहिए।

2. जोसेफ ए0 शूग्पीटर के विचार

जोसेफ ए0 शूग्पीटर ने अपनी प्रसिद्ध कृति ''कैपिटलिज्म सोशलिज्म एंण्ड डेमोक्रेसी पूंजीवाद, समाजवाद और लोकतन्त्र 1942 के अन्तर्गत यह तर्क प्रस्तुत किया कि किसी भी शासन पद्धति की पहचान उसकी संस्थाओं से होती है जिसमें यह देखा जाता है तथा उन्हें अपने पद से कैसे हटाया जाता है। इस दृष्टि से लोकतन्त्रीय प्रणाली अन्य शासन प्रणालियों से अपनी अलग पहचान बनाती है। इस बात एक कटु सत्य है कि लोकतन्त्र में राजनीतिक निर्णय 'नेताओं के द्धारा किये जाते है, जनसाधारण के द्वारा नहीं किए जाते है परन्तु जनसाधारण से वोट प्राप्त करने के लिए वहां नेताओं में खुली प्रतियोगिता होती है। अतः अन्य शासन प्रणालियों की अप्रेक्षा लोकतन्त्र की विशेषता यह है कि इसमें राजनीतिकनेता असीम सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकते । इसके विपरीत, यहां नेता राजनीतिक बाजार में अधिकाधिक ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अधिक से अधिक आकर्षक नीतियों एंव कार्यक्रमों को पेश करने की चेष्टा करते है। इस तरह लोकतन्त्र में जनसाधारण को अपनी पसन्द की नीतिया एवंम कार्यक्रम को चुनने का अवसर प्राप्त हो जाता है। अन्य शासन प्रणालियों में यह सम्भव नहीं है।

3.रेमंद आरों का विचार

रेमोंद आरो ने अपनी पुस्तक ''सोशल स्टक्चर एंड द रूलिग क्लास'' समाजिक संरचना और अन्य शासक-वर्ग 1950के अन्तर्गत यह तर्क प्रस्तुत किया कि लोकतन्त्र और शासन –पद्धतिओ के विशिष्ट वर्गो के मूलभुत अन्तर देखने को मिलता है। सोवियत प्रणाली और लोकतन्त्र मैं अन्तर करते हुए आरों

ने लिखा है कि जहां सोवियत तरह के समाज मे एक ही विशिष्ट वर्ग को शासन में एकाधिकार प्राप्त होता है' उदार लोकतन्त्रमे इस प्रकार का नहीं होता यहा विशिष्ट वर्ग की बहुलता तथा शासन में नियन्त्रण एवं संन्तुलन की ऐसी व्यवस्था पाई जाती हे जिसमें यहाँ असीम सत्ता का प्रयोग सभव नहीं होता। उदार लोकतन्त्र में सम्पूर्ण शासन लोगों के सुलह-समझौते के आधार पर चलता है और शासक सदैव यह महसूस करते रहते है जब तक वे जनमत का आदर करते रहेगे कि जब तक वे जनमत के प्रति संवेदनशील रहेंगे, और जब तक वे जनता के दिल से जगह बना सकेंगे। तभी तक वे सत्ता में रह सकेगे। अन्यथा कोई दूसरा विशिष्ट वर्ग उनका स्थान सभालने के लिए निरन्तर तत्पर रहता है।

4.सारटोरी के विचार

ज्योवानी सारटोरी ने अपनी चर्चित पुस्तक 'डेमोक्रेटिक थ्योरी लोकतन्त्रीय सिद्धान्त" 1958 के अन्तर्गत यह तर्क दिया कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत विशिष्ट वर्ग महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। यह विशिष्ट वर्ग चुनाव के क्षे00ने उतरकर परस्पर संर्घष करते है। विशिष्ट वर्ग के अस्तित्व को लोकतन्त्र की अपूर्णता कदापि नहीं समझना चाहिए। चूंकि जनसाधारण अपने आप शासन चलाने में असमर्थ होते है इसलिए शासन सचमुच सुयोग्य नेताओं का कार्य है। अगर व्यक्तियों को सही नेतृत्व नहीं मिलेगा तो लोकतंत्र विरोधी विशिष्ट वर्ग उन्हें पथभ्रष्ट कर देगा। सारटोरी ने लोकतंत्र के अन्तर्गत नेताओं की भूमिका को विशेष महत्व प्रदान किया। उसके शबदों में नेताओं को जनसाधारण की शिक्षा की जिम्मेदारी भी संभालनी चाहिए, क्योंकि जनसाधारण स्वयं उतना प्रबुद्ध नहीं होते।

लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण के लक्षण निम्नलिखित हैः-

(1) सरकार 'जनता के द्वारा' नहीं हो सकती,'जनता के लिए' हो सकती है।

(2)लोकतंत्र वह है जहां जनता केवल चुनाव के द्वारा अपने विशिष्ट वर्ग को चुनती है।

(3) बिना विशिष्ट वर्ग के प्रजातंत्र नहीं हो सकता, केवल भीड़तंत्र हो सकता है।

(4) राजनीतिक निर्णय लेने का कार्य केवल विशिष्ट वर्ग का है, आम जनता का नहीं।

विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त की विशेषताएं-लोकतंत्र की सफलता के लिए विशिष्ट वर्ग में निम्नांकित विशेषताएं होनी चाहिएः-

1. लोकतात्रिक मूल्यों तथा लोकतंत्र के खेल में विशिष्ट वर्गों का विश्वास एवं आस्था।

2. विशिष्ट वर्ग की नियुक्ति समाज के विभिन्न वर्गों, में से होनी चाहिए।

3. जनता विशिष्ट वर्ग के मामलों में अधिक हस्तक्षेप न करें।

4. विशिष्ट वर्ग को योग्यता एवं अनुभव अच्छा होना चाहिए।

5. विशिष्ट वर्गों की जनता से अधिक पूरी न हो, बल्कि उनमें आपसी तालमेल तथा विचारों का आदन-प्रदान बन रहे।

6. विशिष्ट वर्गों में सत्ता के लिए प्रतियोगिता हो जो चुनाव के द्वारा ही व्यक्त हो।

7. विशिष्ट वर्ग को विस्तृत होना चाहिए ताकि योग्य एवं क्षमतावान,व्यक्ति इसमें प्रवेश पा सके।

विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का मूल्यांकन

लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में सत्य के नजदीक होने के कारण महत्वपूर्ण है। किन्तु फिर भी इसके प्रमुख आलोचक हुए जिनमें डकंन तथा ल्यूक्स,डेविस, बाटॅमोर, गोल्ड स्मिथ,वाकट, बैकरेक, पैट्समेन, प्लामनाज आदि ने इस सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की-

(1) यह सिद्धान्त अपना विश्वास जनता में रखकर नेताओं के विशिष्ट वर्ग में रखता है। जिस कारण यह लोकतंत्र को जनसाधारण से दूर रखना चाहता है।

(2) यह सिद्धान्त रूढ़िवादी है। यह सिद्धान्त परिवर्तन का विरोधी है तथा मौजूदा व्यवस्था का समर्थक है।

(3) यह सिद्धान्त, लोकतंत्र का उद्देश्य मानव का विकास तथा कल्याण न मानकर मानव का उद्देदश्य लोकतंत्र का स्थायित्व तथा कार्य-कुशलता मान लेता है।

(4) यह सिद्धान्त लोकतंत्र को राजनीतिक व्यवस्था मात्र स्वीकार करता है तथा इसके महत्वपूर्ण पहलू सामाजिक,आर्थिक एवं नैतिक को नजर अंदाज कर देता है।

(5) यह सिद्धान्त विचारधारा एवं मूल्यों को महत्वपूर्ण नहीं मानता।

(6) यह सिद्धान्त नेताओं को विशेष महत्व देता है तथा सफल लोकतंत्र के लिए अच्छी जनता को इतना महत्वपूर्ण नहीं मानता जितना कि अच्छे नेताओं का।

(7) यह सिद्धान्त राजनीतिक समानता का विरोधी है तथा असमानताओं का मूलभूत मानना है।

(8) विशिष्ट वर्ग की उच्च योग्यता का आधार क्या होना चाहिए इस विषय ने यह सिद्धान्त पूर्णतः अस्पष्ट है।

(9) यह सिद्धान्त जनमत को नगण्य मानता है तथा इस बात से इनकार करता है कि जनमत सरकार को बनाता है। इसके विपरीत यह साबित करने की कोशिश करता है कि सरकार एवं शासक विशिष्ट वर्ग ही जनमत को तैयार करते हैं।

(10) यह सिद्धान्त जनता के प्रति सरकार के उत्तरादायित्व को स्वीकार करता है, क्योंकि सक्रिय,योग्य,क्षमतावान विशिष्ट वर्ग के लोग अयोग्य तथा निष्क्रिय मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी कैसे हो सकते हैं?

14. 4.3 लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त

लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त के साथ निकटता से संलग्न है। जोसेफ शुम्पीटर और रेमोंद आरों जैसे विचारकों ने उदार समाज में विशिष्ट वर्गों की बहुलता की चर्चा की थी। इस दृष्टि से उनके चिंतन में लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त की ओर रूझान का संकेत मिलता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही यह स्वीकार किया जाने लगा था कि राजनीति में व्यक्ति अकेला नहीं, बल्कि समान हितों वाली संस्थाओं एवं समूहों के माध्यम से भाग लेता है। इसके साथ ही सरकारी निर्णयों में सम्पूर्ण समाज के विभिन्न दवाब समूहों की भूमिका को भी महत्वपूर्ण माना गया। एफ.ए.बेंटली ने 'द प्रॉसेस ऑफ गवर्नमेंट(शासन प्रक्रिया) 1908 में यह विचार व्यक्त किया कि लोकतंत्र एक प्रकार का राजनीतिक खेल है जिसमें भिन्न-भिन्न तरह के समूह भाग लेते हैं। इसके पश्चात् डेविड टूमैन ने 'द गवर्नमेंटल प्रासेस (शासकीय प्रक्रिया)1951 में यह व्याख्या प्रस्तुत की कि लोकतंत्रीय सरकार सार्वजनिक दवाब का केन्द्र-बिन्दु होती है, इसका मुख्य कार्य ऐसी नीतियों का निर्माण करना है जिनमे इन समूहों की सबसे प्रमुख सामान्य माँग की झलक मिलती है। टूमैन ने इस पुस्तक में बहुलवादी समाजों की राजनीति में विभिन्न गैर-रानीतिक सामाजिक-आर्थिक समूहों की भूमिका को सराहा और इन्हें लोकतंत्र के स्वरूप को बनाए रखने में सहायक माना।

समकालीन राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत रार्बट डॉल ने अपनी पुस्तक 'ए प्रिंफेस टू डेमोक्रेटिक थ्योरी' में लोकतंत्रीय प्रक्रिया के ऐसे प्रतिरूप को जन्म दिया है जिसे उसने बहुलतंत्र कहा है। इस सकंल्पना के अनुसार लोकतंत्रीय समाज में नीति निर्माण की प्रक्रिया वाह्य रूप से देखने में चाहे कितनी ही केन्द्रीकृत क्यों न प्रतीत हो वास्तव में यह अत्यन्त विकेन्द्रीकृत प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत अनेक स्वायत समूह आपस में परस्पर समझौता या सौदेबाजी करते हैं। अतः सार्वजनिक नीति उन सब

समूहों की परस्पर क्रिया का परिणाम होती है जो उससे सम्बन्ध रखने वाले विषय में अभिरूचि का दावा करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नीति-निर्माण में सरकार की भूमिका बहुत कम रह जाती है। क्योंकि वह विभिन्न स्वायत्त समूह को केवल सहमति की स्थिति तक पहुँचने में सहायता प्रदान करती है।

लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीति में विशिष्ट वर्ग की भूमिका का महत्व घट जाता है।

सिद्धान्त के आधारः- इस सिद्धानत के प्रमुख आधार निम्नवत हैं-

(1) इस सिद्धान्त का पहला आधार यही है कि व्यक्ति रानीति में हिस्सा संस्थाओं एवं सगठनों के माध्यम से लेता है।

(2) सरकार के विभिन्न अगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में सत्ता का विभाजन होना चाहिए तथा सरकार के प्रत्येक अंग ऐसी स्थिति में होने चाहिए कि वह दूसरे पर अंकुश ला सकें।

(3) लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त का एक आधार यह है कि जन साधारण को राज्य की अवज्ञा का अनुपालन करना चाहिए क्योंकि राजनीति निर्धारण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(4) सरकार व जनता के मध्य दूरी को कम करने के लिए विभिन्न जन सगठनों को महत्व दिया जाना चाहिए।

सिद्धान्त का मूल्यांकनः- लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त लोकतंत्र के परम्परावादी सिद्धान्त एवं लोकतंत्र के विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त का समिश्रण है। इन सिद्धान्तों की तुलना में यह सिद्धान्त अधिक प्रगतिशील एवं आशाजनक हैं। इस सिद्धान्त की आलोचना विभिन्न आधारों पर की गई है। इसमें मुख्य एवं पहला आधार यह है कि यह सिद्धान्त दवाब की राजनीति को बढ़ावा देता है जिसके फलस्वरूप सरकार कमजोर हो रही है क्योंकि सरकार दृढ़ नीतियो को बनाने तथा महत्वपूर्ण निर्णय लेने में सक्षम नहीं रहती। अपनी खामियों को छिापाने के लिए सरकार को विभिन्न दवाब समूहों के प्रति समझोंतावादी रवैया अपनाना पड़ता है। दूसरा यह सिद्धान्त व्यक्ति के नैतिक मूल्यों और विवेकशील प्रकृति को मान्यता नही देता तथा व्यक्ति को सगठनों एवं समूहों के सदस्य के रूप में मान्यता देता है।

14.4.4 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

उदारवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण दोनों ही 'लोकतंत्र का समर्थश्न करते हैं। दोनों ही लोकतंत्र को जनता का शासन मानते हैं और इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि जनता को शासन चलाने का अधिकार मिलना चाहिए। किनतु जब व्यवहार के धरातल पर शासन चलाने की बात आती है तो दोनों में मतभेद पाया जाता है। मार्क्सवाद के समर्थक, लोकतंत्र के सिद्धान्त या लक्ष्य को प्रमुख ध्यान देते हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि शासन जनसाधारण के हित में कार्य करे उसमें जनता का शोषण न हो और यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज धनवान और निर्धन वर्गों में बटाँ न रहे।

दूसरे शब्दों में, उदारवादी विचारक लोकतंत्र और पूंजीवाद की संस्थाओं में कोई विरोध नही देखते हैं। परन्तु मार्क्सवादी विचारक समाज की आर्थिक संरचना को सरे सामाजिक सम्बन्धों का आधार मानते हुए यह तर्क देते हैं कि जब तक समाज की संरचना लोकतंत्रीय नहीं होगी, तब तक राजनीतिक स्तर पर लोकतंत्र केवल आडंबर बना रहेगा। अतः वे लोकतंत्र की सार्थकता के लिए समाजवाद को अनिवार्य समझते हैं। वे उदार लोकतंत्र का बुर्जुवा लोकतंत्र की संज्ञा देते है

लोकतंत्र की मार्क्सवादी आलोचनाः-(1) उदार लोकतंत्र केवल पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करता है। क्योंकि उदार लोकतंत्र की राजनीतिक संस्थाएं पूंजीवाद की नींव पर टिकी होती है। पूंजीवादी व्यवस्था पूंजीपति वर्ग के हितों को बढ़ावा देती है और उसमें कामगारों की निरन्तर

शोषण होता है अतः उदार लोकतंत्र की राजनीतिक संस्थाऐं भी पूंजीपति वर्ग के हितो को बढ़ावा देती है। उदार लोकतंत्र 'सबके हित का साधन का आडम्बर रचाकर केवल पूंजीपति वर्ग का हित साधन करने वाली संस्थाओं,नियमों, कानूनों इत्यादि का वैधता प्रदान करता है। लोकतंत्र के अन्तर्गत आर्थिक शक्ति के साथ-साथ विचारधारात्मक शक्ति भी पूंजीपति वर्ग के हाथ में होती है। अतः कामगर वर्ग के शोषण को रोकने का कोई उपाय नहीं रह जाता।

(2) उदार लोकतंत्र समाज के वर्ग विभाजन को स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि जब समाज 'धनवान' और 'निर्धन' वर्गों में बटाँ रहता है तो उदार लोकतंत्र इस आर्थिक विभाजन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए तत्पर रहता है। वह बुजुर्वा समाज के उन मूल्यों को बढ़ावा देता है जो समाज के आर्थिक विभाजन को बैधता और मान्यता प्रदान करते है, लेनिन ने लिखा है ''पूंजीवादी समाज का लोकतंत्र मुट्ठी-भर लोगों का लोकतंत्र है, यह धनवान लोगों का लोकतंत्र है, मार्क्स ने पँजीवादी लोकतंत्र के सार-तत्व को बहुत अच्छी तरह समझा है क्योंकि उसने लिखा है कि इसमें शोषित वर्गों को कुद वर्षों के अतंराल से यह निर्णय करने की अनुमति दी जाती है कि शोषक वर्गों के कौन-कौन से प्रतिनिधि संसद में जाकर उनका प्रतिनिधित्व और दमन करेंगें।

अतः मार्क्सवाद के अनुसार उदार लोकतंत्र की संस्थाएं वर्ग-शोषण की परंम्परा को तोड़ने में असमर्थ है इसके विपरीत यह ऐसा साधन है जो शोषक वर्ग को निरन्तर सतारूढ़ रखने में सहायता देता है ताकि वह लगातार अपनी स्वार्थपूर्ति करता है।

14.5 विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याएं

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात ऐशिया और अफ्रीका में अनेक देश औपनिवेशिक शासन की जकड़न से बाहर निकले। स्वतंत्र हुए देशों में अधिकतर ने लोकतांत्रिक शासन पद्धति को अपनाया। कई देशों को लोकतंत्र की स्थापना करने में अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ा और कुछ देश तो सैनिक शासन या तानाशाही की राह पर चल पड़े और कुछ देशों ने एकदलीक शासन अपनाया।

विकासशील देशों के सामने कुद समस्याऐं समय-समय पर उत्पन्न होती रहती है जो विकासशील देशों के लोकतंत्र को प्रभावित करती है। इनमें से एक, जातीय समूहों का सामाजिक,आर्थिक और राजनीतिक विकास भिन्न-भिन्न स्तर तक हुआ है। जातीय विविधता की झलक रानीतिक संगठन में साफ दिखायी पड़ती है। एक बात तो स्पष्ट तौर पर देखी जाती है कि जातीय समूहों को प्रभावशाली समूह के हाथों जो भेदभाव, भले ही काल्पनिक हो या वास्तविक झेलना पड़ता है। और इससे लोकतंत्र में इनकी आस्था कमजोर हो जाती है।

दूसरे अधिकांश देश आर्थिक रूप से बहुत पिछड़े हैं जिसके कारण सरकार से विकास की अपेक्षा ज्यादा रहती है। कई देशों में एक दलीय व्यवस्था है या कम से कम एक दल का प्रभुत्व है। प्रभावशाली दल, स्वाधीनता संघर्ष में कुर्बानियों या प्रभावशाली नेतृत्व के सहारे आधुनिकता और विकास के नाम पर अपना औचित्य सिद्ध करता है। तीसरे, इन देशों में उदारवादी लोकतंत्रों की तुलना में, आर्थिक और सामाजिक गतिविधियों में शासन का हस्तक्षेप बहुत अधिक होता है। अर्थव्यवस्था के नियमन में शासन की अपेक्षाकृत अधिक दखलंदाजी आर्थिक विसंगतियों को दूर करने के लिए जरूरी है। ये विसंगतियां औपनिवेशिक शासन की देन है।

अभ्यास प्रश्न-

1- इटली तथा जर्मनी मित्र राष्ट्र थे। सत्य/ असत्य

2-अमेरिका ब्रिटेन और फ्रांस धुरी राष्ट्र थे। सत्य/ असत्य

3-यूनानी शब्द डेमोस का अर्थ क्या है?

4-लोकतन्त्र जनता का जनता के द्वारा और जनता के लिए स्थापित शाषन हैं।

5-लोकतन्त्र जीवन जीने का ढंग हैं। किसने कहा हैं?

6-अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का सिद्वान्त किसने दिया।

7-अल्पतन्त्र का लौह नियम किसने प्रतिपादित किया है।

14.6 सारांश

इस इकाई में हमने लोकतंत्र के अर्थ ,विशेषता उसके विभिन्न सिद्धांत इसके गुण ,और साथ में विकासशील देशों लोकतंत्र के सञ्चालन में आने वाली समस्याओं का भी अध्ययन किया है .जिसमें पाया कि विश्व के सभी राष्ट्र चाहे उनकी शासन पद्धतियां कुछ भी क्यों न हो अपने को लोकतन्त्र की ही संज्ञान देते हैं। प्रायः प्रत्येक राजनीतिक पद्धति लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को अपना रही है। सत्ता में जनसहभागिता सुनिश्चित करने वाली यह व्यवस्था सार्वजनिक सप्रंभुता की द्योतक है।

वर्तमान युग को लोकतंत्र का युग माना जाता है। किन्तु आज लोकतंत्र चारों ओर से चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। स्पष्ट होता है कि जो परिस्थितियां लोकतंत्रात्मक प्रणाली के मजबूती में सहायक है वो नहीं मिल पाने के कारण लोकतंत्र के मूल्यों सुरक्षित रखने और उन्हें व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य के लिए अर्थपूर्ण बनाने में अनेक कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। अतः लोकतांत्रिक समाज में इन जटिलताओं के कारण लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तों को सर्वमान्य ढंग से लागू करना सम्भव नहीं ।

14.7 शब्दावली

डेमोस -- जनता

लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गवादी सिद्धान्त --इसके द्धारा यह बोध होता है कि किसी भी समाज या संगठन का अन्तर्गत प्रमुख निर्णय सिर्फ गिने-चुने लोग ही करते है, चाहे उस संगठन का बाहरी रूप कैसा भी क्यों न हो।

लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धान्त-- बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही यह स्वीकार किया जाने लगा था कि राजनीति में व्यक्ति अकेला नहीं, बल्कि समान हितों वाली संस्थाओं एवं समूहों के माध्यम से भाग लेता है। इस सिद्धांत के अनुसार लोकतंत्र एक प्रकार का राजनीतिक खेल है जिसमें भिन्न-भिन्न तरह के समूह भाग लेते हैं।

14.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.असत्य 2. असत्य 3. जनता 4. अब्राहम लिंकन 5. बेनी प्रसाद 6. बेन्थम 7. राबर्ट मिशेल्स

14.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.लास्की -----द प्राब्लम्स आफ सावरिन्टी

2.हेसिये ----पॉलिटिकल प्लूरेलिज्म

3. ज्ञान सिंह सन्धु -- राजनीति के सिद्धान्त, ग्रन्थ विकास, जयपुर

4.डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।

5.ओम प्रकाश गाबा,राजनीतिक सिद्वान्त की रूपरेखा, मजूर पे परबैम्स नोएडा।

6.डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्वान्त,जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

14.10सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1 . राजनीति के सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

2- जे0सी0जौहरी एवं सीमा चौधरी ----आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त , स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली

14.11निबन्धात्मक प्रश्न

1.लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं ?विकासशील देशों में लोकतंत्र की समस्याओं की विवेचना कीजिये ?

2.लोकतंत्र के विभिन्न सिद्धांतों की विवेचना कीजिये ?